बुद्धकालीन समाज और धर्म

अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष, १९७२

बुद्धकालीन समाज और धर्म

लेखक

डॉ० मदन मोहन सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

सम्मेलन भवन, पटना-३

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशित ग्रंथ संख्या-२०

प्रथम संस्करण, फरवरी, १९७२

३०००

मूल्य : १२.००

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक :
धर्मयुग प्रेस, पटना-३

प्रस्तावना

शिक्षा-सबंधी राष्ट्रीय नीति-सकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों मे उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठय-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओ के विभिन्न विषयो के मानक ग्रथो के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अतर्गत अँगरेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारो के माध्यम से तथा अशत' केद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यो मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायो की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रथ अकादमी के तत्त्वावधान मे हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रथो मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक सस्थाओ मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रथ बुद्धकालीन समाज और धर्म डॉ० मदन मोहन सिंह की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एव समाज-कल्याण मत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रथ-अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। साहित्य, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृति के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो में स्वागत किया जायगा।

पटना
दिनाक २४ फरवरी, १९७२

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

आमुख

प्रस्तुत ग्रथ में भारत के सांस्कृतिक विकास-क्रम की एक महत्त्वपूर्ण अवस्था का प्रामाणिक एव रोचक विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह पुस्तक मोटा-मोटी वैदिक युग से लेकर ईसवी सन् के आरम्भ-पूर्व काल के भारतीय समाज तथा धर्म का विवरण प्रस्तुत करती है, परन्तु इसमे भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल, अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी पूर्व तथा उसके पश्चात् के युग का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है। मुख्यत: पालि त्रिपिटक मे उपलब्ध प्रमाणों पर इस रचना के आधारित होने के कारण इसमे बुद्ध-जन्म से लेकर महायान सम्प्रदाय के उदय-पूर्व काल के लिए बुद्ध-युग का प्रयोग हुआ है। यह युग अपनी अनेक विशेषताओ, जैसे—बुद्ध तथा महावीर द्वारा रूढ़ सामाजिक प्रथाओ का विरोध एव सामाजिक समता तथा दलित वर्ग के उत्थान का प्रयास, नवीन धर्म-सम्प्रदायो का उदय, सन्यास-जीवन की व्यापकता, नगर-जीवन का अभ्युदय, उद्योग-धधो की प्रगति इत्यादि के कारण महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर कार्य भी पर्याप्त किए गए हैं, परन्तु उपलब्ध ग्रथो मे समकालीन ब्राह्मण-रचित साहित्य का अपेक्षित उपयोग नही करने के कारण तत्कालीन समाज का सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत नही किया जा सका है। वस्तुत केवल बौद्ध अथवा मात्र समकालीन सूत्र साहित्य मे उपलब्ध प्रमाणो पर आधारित पुस्तक मे तत्कालीन समाज का एकागी विवरण ही प्रस्तुत किया जा सकता है। बुद्धकालीन समाज के निष्पक्ष एव पूर्ण विवरण के प्रस्तुतीकरण हेतु तत्कालीन बौद्ध एव जैन ग्रन्थो तथा समकालीन धर्मशास्त्र मे उपलब्ध सामग्री का समुचित उपयोग अनिवार्य होगा। इसके अभाव मे इस युग के सामाजिक एव धार्मिक विशेषताओ का सही मूल्याकन नही किया जा सकता।

इस ग्रथ मे प्राचीन भारत के एक युग-विशेष के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का रोचक तथा प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होने के कारण आशा है कि इस विषय के जिज्ञासुओ, विशेषतया विद्यार्थी समुदाय के लिए यह रचना उपयोगी होगी। इस पुस्तक मे पर्याप्त संदर्भ-निर्देश उपलब्ध कराए गए हैं, अत· बुद्धकालीन समाज के शोध-जिज्ञासुओ को भी इससे लाभ हो सकेगा। आशा है, पाठकों को इस रचना द्वारा भारतीय सस्कृति को बुद्धकाल की देन के सही तथा निरपेक्ष मूल्याकन मे भी आसानी होगी।

इस ग्रथ मे पन्द्रह अध्याय हैं जिनमे बुद्धकाल की प्रमुख विशेषताओ एव तत्कालीन इतिहास के सूत्रो, वर्ण तथा जातियों, दास-प्रथा, विवाह, गणिकाओ, खान-पान, वस्त्राभूषणो, लोक-महोत्सवो, शिक्षा, प्रमुख धर्म-सम्प्रदायो, संन्यास-जीवन तथा जैन एव बौद्ध भिक्षु-सघो इत्यादि के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। परिशिष्ट मे बुद्धकालीन समाज, मुख्यत वस्त्राभूषणो के कुछ चित्र इस उद्देश्य से दिए गए हैं कि उस युग के जन-जीवन का यथार्थ अनुमान लगाया जा सके।

अत मे, मैं उन सभी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होने मुझे इस ग्रथ की रचना मे सहयोग प्रदान किया। बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी की प्रकाशन-योजना मे इस पुस्तक को सम्मिलित करने के लिए मै अकादमी के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधाशु का आभारी हूँ। ग्रथ के प्रकाशन मे विशेष अभि-रुचि के कारण अकादमी के सचिव डॉ० शिवनदन प्रसाद का भी कृतज्ञ हूँ। प्रकाशन मे तत्परता के लिए अकादमी के भाषाविद्-सह-प्रकाशनाधिकारी श्री बैजनाथ सिंह, 'विनोद' भी धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना, —मदन मोहन सिंह

विषय-सूची

१

भूमिका

भारतवर्ष के इतिहास मे बौद्ध-युग का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग मे भारतीय विचार-जगत् में विशेष उथल-पुथल देखने को मिलती है। सामाजिक एवं धार्मिक नवचेतना के इस युग मे बुद्ध तथा महावीर सदृश महा-पुरुषो का इस देश मे जन्म हुआ, जिन्होने संसार को सत्य और अहिंसा का वह सदेश दिया जो भव-व्याधि से पीडित मानव के लिए वरदान हो गया। भगवान् बुद्ध के संदेश उत्तुंग हिमगिरि तथा उत्ताल जलधि-तरंगों का अतिक्रमण कर अनेक देशो मे प्रसारित हुए। उन्होने धार्मिक जगत् को संघीय जीवन-पद्धति दी जिसका अवान्तरकालीन सम्प्रदायो मे बडा प्रभाव पडा। इस युग मे कई नये मतो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त रूढियो, कुरीतियो तथा अन्धविश्वासो के प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया। जातिवाद का सर्वप्रथम विरोध बुद्ध तथा महावीर ने किया। इन्होंने वेद तथा ब्राह्मण की प्रभुता को भी चुनौती दी। बुद्ध तथा महावीर के धर्मोपदेश जनता की भाषा में दिए गए अत वे सभी के लिए बोधगम्य हो सके। ब्राह्मण ग्रथ दुरूह होने के कारण जनता के लिए दुर्बोध हो गये थे। अत: नवीन विचारों का जन-मानस पर बडा अनुकूल प्रभाव पडा। भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों का राजा तथा जनता दोनो ने स्वागत किया। बुद्ध के समकालीन अनेक प्रमुख ब्राह्मणो ने बौद्ध धर्म को स्वीकार ही नही किया, इस मत के दार्शनिक आधार को सुदृढ बनाया।

भगवान् बुद्ध ने अपने दर्शन का प्रमुख आधार इन दो तत्त्वों को बनाया—

(१) उन्होने दर्शन की जटिलताओ मे न जाकर एक सर्वबोधगम्य आचार-सहिता के पालन का उपदेश दिया और (२) तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजो का विरोध न करके एक सुधारक के रूप में तत्युगीन कुरीतियों के प्रतिकार का प्रयास किया। इन दोनो कारणों से बौद्ध-धर्म सर्वाधिक लोक-प्रिय हुआ और वह अपने युग की चेतना को बहुलाश मे प्रभावित कर सका।

बौद्ध-मत का व्यापक प्रचार हुआ और क्रमश बौद्ध पालि-साहित्य समृद्ध होता गया। प्रथम तो बुद्धवचनो को स्मृति मे सुरक्षित रखा गया, परन्तु कालान्तर मे उन्हे लिपिबद्ध कर दिया गया। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के तुरत बाद बुद्ध-वचनों का सकलन किया गया—पहली बौद्ध सगीति मे जिसकी बैठक राजगृह मे हुई थी।[1] पुन बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् वैशाली मे बौद्ध भिक्षुओ की दूसरी सगीति हुई। पहली तथा दूसरी सगीतियो की प्रामाणिकता सर्वमान्य नही है। परन्तु इसमे कोई संदेह नही कि सम्राट् अशोक के समय मे पालि-पिटक का सकलन करके उन्हे लिपिबद्ध कर दिया गया। दीपवश तथा महावश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के २३६वें वर्ष मे 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' के सभापतित्व मे एक सहस्र बौद्ध-भिक्षुओ की सगीति पाटलिपुत्र नगर मे हुई, जिसमे सद्धर्म अथवा थेरवाद के सिद्धान्तों का सकलन किया गया। अशोक के अभिलेखो मे अशोक द्वारा सघ की एकता को स्थायी बनाने के प्रयास के उल्लेख हैं। बौद्ध-मत के शुद्ध रूप को कायम रखने के लिए बौद्ध-समुदाय मे प्रयत्न किये जा रहे थे और अशोक ने इस दिशा मे ठोस कार्य किया। इसी प्रयास का यह प्रमुख परिणाम हुआ कि त्रिपिटक के रूप मे बौद्ध-मत के सिद्धान्त लिपिबद्ध हो गये। तीसरी सगीति मे जिस पालि-पिटक का सकलन किया गया उसकी एक प्रति लेकर कुमार महेन्द्र लका चले गये। बाद मे वह भी वहाँ अस्त-व्यस्त हो गया, अत पाँचवी शताब्दी ई० सन् मे लकाधिपति वट्टगामनी ने उनका पुन सकलन कराया। इस प्रकार उसे वह रूप प्रदान किया गया जो अब तक सुरक्षित है। यह साहित्य-भाण्डार बुद्ध-युग के राजनैतिक तथा सास्कृतिक इतिहास के ज्ञान के लिए एक बहुमूल्य निधि है जिसमे समकालीन समाज का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध-काल का इतिहास ज्ञात करने के लिए पालि-पिटक प्रामाणिक है इसमे कतिपय विद्वानो को सन्देह है, पर विविध दृष्टिकोणो से विचार करने पर यह ग्राह्य नही है। अलिखित होने पर भी बुद्ध के प्रमुख उपदेशो को बौद्ध भिक्षुओ ने यत्नपूर्वक यथावत् सुरक्षित रखा होगा इसमे सन्देह का कोई आधार नही दीखता, क्योकि भारत मे वेद की शिक्षा मौखिक रूप मे प्रदान की जाती रही और वे उसी रूप मे सहस्रो वर्षों तक सुरक्षित रहे। अशोक के पूर्व पालि-पिटक के प्रमुख अशो को भी मौखिक रूप मे सुरक्षित रखा गया और आवश्यकता होने पर बौद्धमत के विभिन्न विषयो के ज्ञाताओ से शकाओ का समाधान किया जाता रहा। बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् जब वज्जिपुत्र भिक्षुओ ने

दस निषेधो का आचरण करना प्रारम्भ किया, तब रेवत से पूछा गया कि वैशाली के भिक्षुओ का आचरण भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुकूल है अथवा नही ?[२] रेवत को धम्म, विनय, आगम तथा मातिकाओ (मात्रिकाओं) का ज्ञाता कहा गया है। प्रख्यात प्राच्यविद् ओल्डेनबर्ग[३] तथा विंटरनिट्स[४] ने भी सकलन के पूर्व मौखिक रूप मे पालि-पिटक के पर्याप्त अंश की विद्यमानता को स्वीकार किया है। यह भी उल्लेख सुलभ है कि बौद्ध-भिक्षु बुद्ध-वचनम् का कठस्थ पाठ करते थे।[५] चुल्लवग्ग (४/४/४) मे स्पष्ट किया गया है कि सुत्तन्त का पाठ करने वाले भिक्षु सुत्तन्तिक, धम्म का पाठ करने वाले धम्मकथिक और विनय के ज्ञाता विनयधर थे।

बुद्ध के उपदेशो को किसी-न-किसी रूप मे सुरक्षित रखने की अनिवार्यता को बुद्ध-निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही अनुभव किया गया होगा। जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण आसन्न हो गया तो आनन्द शोकाकुल हो गये। भगवान् ने उनके अश्रुपूर्ण नेत्रो को देखकर कहा—'हे आनन्द, आपलोगों को यह सोचकर कष्ट होगा कि हमारे मार्गदर्शक अब हमारे बीच नही रहे। परन्तु हे आनन्द, यथार्थत· ऐसा नही है। मैंने जिस धर्म तथा विनय का आप सभी को उपदेश दिया, वे ही मेरे निर्वाणोपरात आपका मार्गदर्शन करते रहेगे'।[६] बुद्ध-निर्वाण के साथ ही उनके उपदेशो के ममज्ञ भिक्षुओ का अन्त नही हो गया। ऐसा कोई सकेत नही मिलता कि भिक्षुओ द्वारा उनकी शिक्षाओ के शुद्ध रूप को सुरक्षित रखने के प्रयास की गति अवरुद्ध हो गयी। धर्माधर्म, विनया-विनय का स्वरूप निर्धारित होता रहा; इनपर भिक्षु विचार-विमर्श करते रहे। कभी-कभी भिक्षुओं मे मतभेद भी हुए। सूत्रो में ऐसे प्रसगो के उल्लेख मिलते हैं जब किसी विषय के औचित्यानौचित्य का विचार करने के लिए सुत्त तथा विनय का सहारा लेना पडता था।[७] इसका यह अर्थ हुआ कि सुत्त और विनय के ज्ञाता भिक्षुओ से या तो शका समाधान किया जाता था अथवा लिखित ग्रथ को देखना पड़ता था। अशोक के समय तक किसी-न-किसी रूप मे पालि-पिटक का विकास हो गया था। उनके बैराट अभिलेख मे विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंशानि, अनागत-भयानि, मुनि-सुत्त, उपतिष्य-प्रश्न तथा राहुलोवाद के उल्लेख से अशोक-पूर्व पालि-पिटक का कम-से-कम आशिक अस्तित्व असंदिग्ध प्रतीत होता है। मिलिन्द-पञ्हो, दीपवंश, महावश आदि अवान्तर ग्रंथो से भी ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियो मे त्रिपिटक के अस्तित्व का प्रबल समर्थन प्राप्त है।

इस बात का दावा नही किया जा सकता कि भगवान् बुद्ध ने जिस भाषा में अपना उपदेश दिया उसका मूल रूप आजतक अपरिवर्तित रहा। तीसरी सगीति मे पिटको का सकलन, उनका लका पहुँचना तथा सदियो पश्चात् वहाँ पुन. सपादन के क्रम मे मूल पिटको का अनेक परिवर्तनो से होकर गुजरना अत्यन्त स्वाभाविक है। कई नई बाते अवान्तर काल मे समाविष्ट कर दी गयी होगी। पिटको मे कही-कही विरोधाभास भी मिलता है। परन्तु इतना होने पर भी उनका वह स्वरूप जो तीसरी सगीति मे प्राप्त हुआ, अधिकाशत: सुरक्षित ही रहा। पालि-पिटक के प्रति भिक्षुओ के हृदय मे जो अपार श्रद्धा थी और भगवान् बुद्ध के उपदेशो के मूल-रूप की रक्षा का जो उत्साह था, उसने अवश्यमेव पिटको को सुरक्षा प्रदान किया होगा। भाषा मे परिवर्तन हुआ अवश्य, पर भाव वही बने रहे। मज्झिम-निकाय के अनुसार स्वय बुद्ध ने भी कहा कि उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं शब्द नही। अत इसी भावना के कारण बुद्ध के उपदेशो का मूल अर्थ लुप्त नहीं हो पाया।

पालि-पिटक के तीन अग हैं— (क) विनय-पिटक, (ख) सुत्त-पिटक तथा (ग) अभिधम्म पिटक—इन तीनो के सकलन का त्रिपिटक नाम पडा।

विनय-पिटक भिक्षु-सघ के नियमो का सग्रह, सुत्त-पिटक बुद्ध के प्रवचनो का और अभिधम्म-पिटक दार्शनिक विषयो का विवेचनात्मक ग्रथ है। विनय-पिटक तथा सुत्त-पिटक मे तत्कालीन समाज, धर्म आदि विविध विषयो का सविस्तार ज्ञान प्राप्त होता है। भिक्षु-जीवन के नियम बनाने के क्रम मे तत्कालीन समाज मे प्रचलित अनेक रीति-रिवाजो के प्रासंगिक उल्लेख मिलते है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-जीवन की जिस सहिता का निर्माण किया उसपर तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचार की गहरी छाप पडी। उन्होने समय-समय पर उन नियमो मे सशोधन किया जो सामाजिक परम्परा के प्रतिकूल हो गये थे अथवा जिनके कारण समाज मे भिक्षु-सघ की निन्दा होने लगी थी। बुद्ध का लक्ष्य बौद्ध-मत को लोकप्रिय बनाना था अत उन्होने भिक्षुओ के आचार-विचार मे उन नियमो को स्थान नही दिया जिससे समाज मे सघ की प्रतिष्ठा पर आँच पहुँचती।

बुद्ध के प्रवचनो के सग्रह को सुत्त-पिटक नाम दिया गया, जिसमे प्रमुख थेरो के उपदेशो तथा गाथाओ को भी समाहित किया गया। सुत्त-पिटक एक वृहत् सग्रह है और इसके अन्तर्गत पाँच निकाय है—दीघ-निकाय, मज्झिम-

निकाय, संयुत्त-निकाय, अगुत्तर-निकाय तथा खुद्दक-निकाय। इन निकायों में भारतीय इतिहास की अत्यन्त उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। अपने प्रवचनों में बुद्ध ने ऐसे दृष्टांत दिये हैं जो तत्कालीन इतिहास की बहुमूल्य सामग्री हैं। प्रसंगवश उस समय की कई राजनैतिक घटनाओं के भी उल्लेख किये गये हैं। अत: सुत्त-पिटक से तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सास्कृतिक जीवन-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

किसी भी युग के सास्कृतिक जीवन के विवरण के लिए कथा-साहित्य के महत्त्व की उपेक्षा कही की जा सकती। कहानियाँ समाज का प्रतिबिम्ब होती हैं। इस दृष्टिकोण से बुद्ध-कालीन समाज का विवरण प्रस्तुत करने के लिए जातकों की बडी उपयोगिता है। खुद्दक-निकाय मे समाविष्ट ५४७ कहानियो का संग्रह जातक है। जातक की कहानियाँ बुद्ध-कालीन समाज मे प्रचलित थी। बौद्ध भिक्षुओ ने इन्हें भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मो की घटनाओं से संबद्ध कर अपने उपदेशो के प्रचार-योग्य बना लिया। कुछ कहानियाँ उनकी अपनी कल्पना की उपज भी होगी। ये कहानियाँ तत्कालीन समाज के विविध विषयो का प्रसग-वश उल्लेख देने के कारण इतिहासकार के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान करती है।

जहाँ तक जातकों के रचनाकाल का प्रश्न है, बुद्ध-कालीन समाज का विवरण प्राप्त होने के कारण इन्हे इसी काल का मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है। कई जातको को भारहुत तथा साची की वेदिकाओ तथा तोरणों मे उत्कीर्ण किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि वे इन कलाकृतियो के निर्माण के पूर्व ही समाज मे प्रचलित थे। रिचार्ड फिक, रीस डेविड्स तथा बूलर आदि प्राच्य-विदो के मत मे जातक तीसरी शताब्दी ई० पू० के जन-जीवन को प्रतिबिम्बित करते है। यह तथ्य कदापि उपेक्षणीय नही है कि जातको मे तक्षशिला का उल्लेख एक ख्यातिप्राप्त विद्या-केन्द्र के रूप मे मिलता है। यद्यपि नन्द तथा मौर्य शासकों के समय पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य की राजधानी तक बन गया था, फिर भी उसका उल्लेख जातको में पाटलिगाम मात्र के रूप मे मिलता है। दूसरी ओर राजगृह का उल्लेख एक प्रमुख नगर के रूप में मिलता है। इन जातकों मे वैशाली का वैभव तथा मिथिला की गरिमा भी न्यून नहीं है। अत: इन कहानियों में उस युग का वर्णन है जब पाटलिपुत्र को एक प्रमुख नगर का गौरव प्राप्त नही हुआ था। बिंबिसार, प्रसेनजित् तथा अजातशत्रु के उल्लेख है, पर नन्दो तथा मौर्यों के नहीं। इस तरह जातको मे ऐसे कई प्रमाण हैं

जिनकी बुद्ध-कालीन इतिहास के लिए उपयोगिता असदिग्ध है। यह सत्य है कि कई कहानियाँ बुद्ध-पूर्व काल की हैं, किन्तु उनकी भी उपयोगिता मे कमी नही आती है। पूर्व-प्रचलित कहानियो पर भी जब बौद्ध-मत का आवरण चढाया गया तब उन्हें तत्कालीन सामाजिक मान्यताओ के उपयुक्त बनाया गया, जिससे वे बाते जो पुरानी पड गयी थी निकाल दी गयी। जातकों के सम्बन्ध मे जो भी विवाद हो परन्तु इस बात को स्वीकार करने मे आपत्ति नही होनी चाहिए कि उनमे बुद्ध के जन्म के समय से लेकर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व अथवा ईसवी सन् तक के समाज का विवरण उपलब्ध होता है।

बौद्ध पिटको मे मुख्यतया मध्यदेश अथवा मज्झिम देश के जन-जीवन का वर्णन मिलता है। मज्झिम देश का विस्तार पश्चिम मे थाणेश्वर तक, पूर्व मे कजंगल (ककजोल, सथाल परगना) तक, दक्षिण मे सलिलवती नदी एवं सु सु-मार गिरि तक तथा दक्षिण-पश्चिम मे अवन्ती तक था। बुद्ध के जीवन-काल मे इसी क्षेत्र के अतर्गत बौद्ध-मत का प्रचार हुआ। यद्यपि पालि-त्रिपिटक को उस समय अतिम रूप प्रदान किया गया जब सुदूर दक्षिण को छोडकर सम्पूर्ण भारत एक शासन के अतर्गत आ गया था, पर पिटको मे यह कही नही कहा गया है कि मज्झिम देश की सीमा के बाहर बौद्ध-मत का प्रसार हुआ। इसका कारण यह है कि बुद्ध के उपदेशो को मज्झिम देश के भिक्षुओ ने सुरक्षित रखा था और उसमे वे कोई परिवर्तन नही करना चाहते थे। बौद्ध-मत का विशेष प्रसार अशोक के समय मे हुआ और दूसरी शताब्दी ई० पूर्व मे दक्षिण-पश्चिम भारत मे इसका व्यापक प्रसार हुआ। परन्तु पिटको मे इन क्षेत्रो को महत्त्व नही प्राप्त होना इस बात की पुष्टि करता है कि मौर्य-काल के पूर्व बौद्ध-मत उत्तर भारत मे ही सीमित रहा। जातक कथाओ मे प्रतिष्ठान, सुप्पारक (सोपारा), भरुकच्छ (भडौच) आदि व्यापारिक नगरो के उल्लेख हैं। ये वे व्यापार-केन्द्र थे, जहाँ उत्तर भारत के सार्थवाह जाते थे, अत. इन स्थानो से उत्तर भारत के लोग परिचित हो गये थे और इन स्थानो की यात्रा-सम्बन्धी अनेक कथाएँ गढ ली गयी थी। जो जातक अथवा जो थोडे अश पिटको मे पीछे जोडे गये होगे उनमे दक्षिण-पश्चिम भारत के कुछ रीति-रिवाजो के उल्लेख आ गये होगे। परन्तु कही भी यह नही कहा गया कि बुद्ध ने पश्चिम-भारत मे जाकर अजन्ता, भाजा या किसी अन्य चैत्य मे प्रवचन दिया। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध के जीवन की घटनाओ मे तोड-मरोड नही की गयी है।

बौद्ध पालि-पिटक से तत्कालीन समाज का जो विवरण उपलब्ध होता है

उसमे गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, पाणिनि के अष्टाध्यायी, पातञ्जल महाभाष्य, कात्यायन के वार्तिक, कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा मेगास्थनीज के यात्रा-विवरण मे उपलब्ध सामग्री का बुद्धिमत्तापूर्ण समावेश कर देने से बुद्ध-कालीन समाज तथा धर्म का विश्वसनीय तथा सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत हो जाता है। इस कार्य के लिए जैन धर्म-ग्रन्थ—आचारंगसूत्र, कल्पसूत्र, उवासगदसाओ, औपपातिक-सूत्र तथा भगवती-सूत्र का महत्त्व भी कम नही है। भगवती-सूत्र उत्तर-कालीन रचना है परन्तु इसमे महावीर के समय की घटनाओ का समावेश होने से उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र मे समाज का आदर्श विवरण प्रस्तुत किया गया है। धर्मशास्त्र मे जिस समाज का चित्रण हुआ है वह प्रमुख रूप मे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों का समाज है। धर्मशास्त्रकारो ने उन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचारो का उल्लेख किया है जिनके आचरण की अपेक्षा द्विजातियो से की जाती थी। अत. इस विवरण मे समाज के निम्न वर्ग की नितान्त उपेक्षा कर दी गयी है। परन्तु पालि-पिटक मे समाज के सभी वर्गों के सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाजो के उल्लेख मिलते हैं। फिर भी पालि-पिटक इस विषय मे सर्वथा निष्पक्ष नही रहे हैं। ब्राह्मण-धर्म के जिन रीति-रिवाजो की आलोचना बौद्धो का ध्येय रहा, इन बौद्ध ग्रन्थो मे इसकी अतिरंजना मिलती है। परन्तु पालि-पिटक तथा धर्मशास्त्र के इस विरोध के बावजूद इन दोनो मे अद्भुत साम्य भी है। दोनो के विवरण अनेक बातो मे समान है। धर्मशास्त्र द्वारा पालि-पिटक मे उपलब्ध सामग्री का जहाँ समर्थन होता है, वहाँ दोनो एक-दूसरे की त्रुटियो की पूर्ति करते हैं, दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं, अत समाज का यथार्थ तथा सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए पालि-पिटक तथा धर्मशास्त्र दोनो का आश्रय लेना अनिवार्य है।

ऊपरि निर्दिष्ट ग्रन्थो के अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के समाज मे बडी रूढता आ गयी थी। जातिवाद की भावना बडी प्रबल हो गयी थी। समाज मे ऊँच-नीच की भावनाओ की जडे बडी गहराई तक पहुँच गयी थी। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे वर्णित चतुर्वर्ण की कल्पना से सर्वथा भिन्न जातिवाद की भावना समाज मे व्याप्त हो गयी थी। बुद्ध-जन्म के समय का समाज जातिवाद के रोग से ग्रस्त होकर जर्जर होने लगा था।

उपनिषद्-युग मे ही ऊँच-नीच की भावना की निरर्थकता अनुभव की जाने लगी थी और इसके विरोध मे विचार व्यक्त किये जाने लगे थे। इसी परम्परा में बुद्ध और महावीर सदृश सुधारको का छठी शताब्दी ई० पू० मे प्रादुर्भाव हुआ। उन्होने रुग्ण भारतीय समाज को स्वास्थ्य प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयास किया। बुद्ध ने यह प्रश्न उठाया कि जब मानव-मात्र समान है—सभी का जन्म-मरण समान होता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति ही स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है और अमुक नही ? उन्होने यह भी प्रश्न किया कि कोई व्यक्ति क्या किसी जाति-विशेष मे जन्म पाने से ही अमरत्व प्राप्त कर सकता है ? उनके विरोधियो के पास इनका कोई उत्तर नही था। बुद्ध ने इस प्रकार जातिवाद का विरोध किया और भिक्षु-सघ मे सभी को समान स्थान दिया। सभी जातियो के लोग जब प्रव्रजित हो जाते तो वे न तो ब्राह्मण रह जाते न शूद्र। उनकी सज्ञा हो जाती—भिक्षु। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि बुद्ध का लक्ष्य वर्ण-व्यवस्था का उन्मूलन करना नही था। उन्होने वस्तुत: उस व्यवस्था को स्वीकार किया। बुद्ध का विरोध तो उस व्यवस्था से उत्पन्न ऊँच-नीच की भावना से था—जन्मना वर्ण से, कर्मणा वर्ण से नही।

बुद्ध-कालीन समाज का चित्रण करने वाले ग्रथो के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि चतुर्वर्ण के अतर्गत अनेक जातियो का दिनो-दिन उद्भव होता जा रहा था। कई उप-जातियो का जन्म हो गया था और वे सभी अपने को अन्यो से श्रेष्ठतर मानने लगी थी। जातियो की सख्यावृद्धि मे आर्थिक परिस्थितियो का व्यापक प्रभाव पडा। वैश्य-वर्ण मे साधारण वैश्यो के अतिरिक्त श्रेष्ठि तथा कुटुम्बिक नामक सुविधा-प्राप्त वर्ग तो बना ही, शिल्पियों की भी कई जातियाँ बन गयी। इस प्रकार कर्मानुसार समाज मे अनेक नवीन जातियो का उद्भव हुआ। कई कर्म हेय दृष्टि से देखे जाने लगे, फलत. समाज मे उनका आश्रय लेने वाले व्यक्तियो का भी स्थान निम्न हो गया। इस प्रकार समाज मे जातियो की सख्या बढने लगी।

बुद्ध-काल मे नगर-सभ्यता की उल्लेखनीय प्रगति हुई। ऐसे तो बुद्ध-निर्वाण के समय देश मे छ प्रमुख महानगर थे—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी। फिर भी अन्य नगरो का वैभव कोई कम नही था। विनय-पिटक मे एक प्रसग मिलता है कि राजगृह का एक श्रेष्ठि जब

वैशाली गया तब उस नगरी के वैभव से बडा प्रभावित हुआ और उसने बिंबिसार से वैशाली की प्रशंसा की। छोटे-छोटे नगरों तथा निगमों का पूर्वोत्तर भारत मे जाल बिछ गया था। ये सब व्यापार-मार्गों से संबद्ध थे। जिन नगरो को राजधानी का पद प्राप्त था उनके वैभव का तो कुछ कहना ही नहीं। वे विद्या, कला तथा व्यापार के केन्द्र थे। वहाँ सार्थवाहो के पण्यपूर्ण शकट आते, वस्तु-विनिमय होता और इस तरह लोगों का सम्बन्ध बढता। नगरों मे आमोद-प्रमोद की सभी सुविधाएँ मिलती थी—वहाँ के बाजार मे सुदूर प्रदेशो मे निर्मित वस्तुएँ मिल जाती, मधुशालाओ मे लोग मद्यपान करते, गणिकाओ की स्वरलहरी का रसास्वादन करते और उत्सवों के दिन आनन्दोल्लास मनाते। परन्तु नगर-जीवन का वास्तविक सुख समाज के अभिजात वर्ग को ही उपलब्ध था।

नगर, केवल राजसत्ता तथा व्यापार के केन्द्र नही रहे—कई तो विद्या-केन्द्रो के रूप मे विख्यात हो गये, जैसे—तक्षशिला तथा वाराणसी। तक्षशिला को ख्याति का श्रेय वहाँ के विद्वान् आचार्यों को है जिन्होने उस नगर को एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बना दिया। बुद्ध-कालीन कई नगरो मे बौद्ध-विहारो का निर्माण हुआ, जो भिक्षुओ के आवास के साथ शिक्षण सस्थाएँ भी बन गयी।

बुद्ध-काल मे अनेक दार्शनिक बादो का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे उस समय के भारतीय विचार-जगत् की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मण धर्म लोक-धर्म बन चुका था और बौद्ध तथा जैन-मत के प्रचार होने पर भी इसकी लोकप्रियता मे कोई अन्तर नही आया। बुद्ध तथा महावीर ने अहिंसा के उनके सिद्धान्त के अनुकूल पडनेवाले रीति-रिवाजो के परित्याग का उपदेश जनता को कभी नही दिया। बुद्ध का ध्येय बौद्ध-मत को लोकप्रिय बनाना था, अतः उन्होने लोकमत को समुचित आदर प्रदान करते हुए अपने विचारो का प्रचार किया। बौद्ध-मतावलंबियों के लिए भी शक्र देवराज बने रहे, ब्रह्मा का महत्त्व उनके लिए वही रहा जो ब्राह्मण धर्म मे था तथा यक्ष, नाग आदि की पूजा बौद्ध और अ-बौद्ध दोनो ही समान रूप से करते रहे।

बौद्ध युग मे संन्यास-जीवन के प्रति लोगो की अत्यधिक रुचि हो गयी थी। उन दिनों प्रव्रज्या की प्रतिष्ठा बहुत बढी। फलस्वरूप बौद्ध भिक्षुओ, जैन श्रमणों, आजीविक तापसों तथा ब्राह्मण संन्यासियो की संख्या मे अप्रत्याशित वृद्धि हो गयी। इस युग के संन्यास-जीवन का अध्ययन बड़ा रोचक है। यद्यपि विभिन्न धार्मिक

सम्प्रदायो मे सैद्धान्तिक मतभेद थे, पर सभी सम्प्रदाय के गृहत्यागियो की जीवन-पद्धति मे पर्याप्त साम्य बना रहा, क्योकि सभी का उद्गम एक था। भगवान् बुद्ध ने एक सुव्यवस्थित भिक्षु-सघ की स्थापना की। देश मे अनेक विहार बने। सघीय जीवन-पद्धति धार्मिक जगत् को बुद्ध की एक बहु-मूल्य देन है। परन्तु भगवान् बुद्ध के सदेश का वास्तविक प्रचार किया अशोक ने जिससे बौद्ध धर्म सुदूर देशो मे फैल गया।

२

वर्ण और जातियाँ

वर्ण और जाति पर बुद्ध के विचार—भारतवर्ष मे जातिभेद का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु आरम्भिक युग मे यह रूढ नही था। यहाँ के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद मे चतुवर्ण का उल्लेख तो है, परन्तु उत्तरकालीन जाति-व्यवस्था से सर्वथा भिन्न। ऋग्वेदकालीन भारतीय समाज मे ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एव शूद्र वर्णों का अस्तित्व समाज के चतुर्वर्ग के सदृश था। व्यक्ति-विशेष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने मनोनुकूल वर्ण का सदस्य बन सके। तीनों उच्च वर्णों के बीच स्पष्ट विभाजन भी न था। यदि कोई स्पष्ट विभाजन था भी तो वह आर्य तथा दास-वर्ण अथवा दस्यु के बीच था। परन्तु कालान्तर मे जातिभेद-सम्बन्धी मनुष्य की धारणाएँ रूढ होती गयी और पेशे वंशानुगत हो गये। ब्राह्मण-युग आते-आते मनुष्य के सामाजिक जीवन मे जातिभेद-सम्बन्धी धारणाओ की जड़ें इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गयी कि देवगण भी चतुर्वर्ण मे विभाजित माने जाने लगे।[1] बुद्ध-युग मे जातिभेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। जाति के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गयी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनो ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनो वर्णों मे श्रेष्ठतर कहलाने की होड-सी थी। मधुर अवन्तिपुत्र को हम यह कहते हुए पाते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, शुक्ल वर्ण है, पवित्र है, ब्रह्मा के मुख से उसकी उत्पत्ति है, वही ब्रह्मा का प्रतिनिधि है।[2] दूसरी ओर क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणो से श्रेष्ठतर बतलाते। ब्राह्मणो मे भी उदीच्य ब्राह्मण अपने को अन्य ब्राह्मण जातियो से उच्च समझने लगे थे और दूसरी ओर कतिपय क्षत्रिय जातियाँ अपने को अन्यो की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगी थी— जैसे शाक्यवंशी, जिन्होने कोशल-नरेश प्रसेनजित् के साथ एक शाक्य-राजकुमारी का विवाह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना था। भगवान् बुद्ध से ब्राह्मण अम्बष्ठ ने यह शिकायत की कि शाक्यो ने उन्हे अपने संस्थागार मे बैठने के लिए आसन देने की बात तो दूर रही, सीधे मुँह बात भी नही की।[3] प्रसेनजित् के विषय मे कहा

जाता है कि जब वे अपने अधीनस्थ ब्राह्मण पोक्खरसाति से बातें करते तो दोनों के बीच मे पर्दा लगाया जाता था क्योंकि क्षत्रिय होने के नाते वे उच्च जो थे।[४] पुन: अपने अधीनस्थ ब्राह्मणो से आमने-सामने बातें कैसे करते! ऐसे ब्राह्मणो का भी उल्लेख मिलता है जो अपनी मृत्यु के पूर्व यह निर्देश कर जाते कि मरणोपरान्त उनका शव-दाह ऐसे श्मशान मे न हो जहाँ किसी चाण्डाल को जलाया गया हो।[५] इस युग के सामाजिक जीवन मे एक और प्रमुख बात यह हुई कि विभिन्न जातियाँ अलग-अलग ग्रामों मे बसने लगी। बौद्ध ग्रथो मे इसके उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण-ग्राम,[६] क्षत्रिय-ग्राम,[७] बनिय-ग्राम,[८] निषाद-ग्राम,[९] चाडाल-ग्राम[१०] जैसे जातियो के आधार पर ग्राम बने थे।

जन-मानस मे यह धारणा दृढ हो गयी थी कि स्वय स्रष्टा ने ही समाज का विभाजन चतुर्वर्ण मे कर दिया है तथा मानवमात्र अपने पूर्व-जन्म के कर्मानुसार ही विभिन्न जातियो मे जन्म-ग्रहण कर सुख-दुःख का भागी होता है। ऐसे ही समय मे भारत-भूमि मे एक महान् धर्म-प्रवर्त्तक तथा समाज-सुधारक के रूप मे भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होने तत्कालीन समाज मे नवीन धार्मिक एव सामाजिक चेतना को जन्म दिया और वर्ण तथा जाति से सम्बद्ध परम्परागत धारणाओ को नितान्त नि·सार एव निरर्थक घोषित किया। भगवान् बुद्ध ने बतलाया कि मानवमात्र समान हैं, कोई उच्चवर्ण मे जन्म लेने से ही महान् नही होता, अपितु अपने सत्कर्मों द्वारा ही उसकी महत्ता की पुष्टि होती है। उन्होने ब्राह्मण अश्वलायन को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग मे सुख-भोग के सुयोग्य पात्र नही होते, वरन् पुण्यकर्मो द्वारा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भी स्वर्ग के अधिकारी हो सकते हैं।[११] उद्दालक-जातक मे ब्राह्मण पुरोहित के मुख से यह बात कहलाई गयी है कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी मे सत्कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की समान क्षमता होती है।

यदि कोई ब्राह्मण नीच कर्म करता है तो क्या उस अवस्था मे भी उसके लिए स्वर्ग मे स्थान सुरक्षित रहेगा? कोई चाण्डाल-कुल मे जन्म पाकर भी यदि पुण्यकर्मों द्वारा जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है तो क्या वह स्वर्ग का भागी नही हो सकता? अत भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मनुष्य न तो जन्मना चाण्डाल होता है और न ब्राह्मण ही,[१२] अन्ततोगत्वा मानवमात्र मे समता है, विभेद तो बाह्य एव कृत्रिम है। इसकी पुष्टि मे उन्होने यह तर्क रखा कि क्या उच्च-वर्ण मे जन्म पाने से किसी व्यक्ति-विशेष के लिए मृत्यु का द्वार

बन्द हो सकता है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी तो अजर-अमर नही है"[13]—सभी का अन्त एक ही है, फिर हम क्यों किसी को जन्मना श्रेष्ठ मानें और दूसरे को हेय दृष्टि से देखें ? क्या किसी वर्ण या जाति-विशेष मे जन्म पाने से ही भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि तथा मरणोपरान्त स्वर्ग-सुख निश्चित रहता है ? क्या जाति के बल पर ही मनुष्य पाप के लिए दोषी नही अथवा अपराध के लिए दण्ड का भागी नही होता ? इसी प्रकार विभिन्न तर्कों द्वारा भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने वर्ण तथा जाति-व्यवस्था को व्यर्थ बतलाने की चेष्टा की। उन्होने समाज मे ब्राह्मणों के प्रभुत्व को भी चुनौती दी। उनका तर्क है कि यदि ब्राह्मणो ने यह व्यवस्था की है कि वेदो का अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणो का कर्म है, राजत्व क्षत्रिय का, कृषि-वाणिज्य वैश्यों का तथा सेवा-कार्य शूद्रो का तो इसे हम ब्रह्म-वाक्य क्यो मान लें ?[14] बौद्ध दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था ब्राह्मणो द्वारा अपने स्वार्थ-साधन के लिए, अपनी जीविका के लिए समाज पर लाद दी गयी।

अब हमे यह देखना है कि भगवान् बुद्ध के प्रयत्न कहाँ तक सफल हुए और व्यावहारिक जगत् मे उन्होने जातिवाद का खण्डन किस रूप मे किया। बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन यह बतलाता है कि तत्कालीन जातिवाद के खण्डन मे भगवान् बुद्ध को केवल भिक्षु-सघ मे सफलता मिली। यह निर्विवाद सत्य है कि बौद्ध-सघ मे जातिवाद नाम की को कोई वस्तु नही थी। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-सघ को सम्बोधित कर कहा— 'हे भिक्षुओ, जिस प्रकार महानदियाँ सागर मे मिलकर एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार चारो वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म के नियमानुसार प्रव्रजित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण था, अमुक वश था, उनकी एकमात्र सज्ञा रह जाती है— श्रमण।'"[15] भगवान् बुद्ध के ये वचन वास्तविकता के द्योतक हैं। बौद्ध-सघ में ऊँच-नीच की भावना पनपने नही पाती थी। यही कारण था कि नापित-पुत्र होने पर भी उपालि बुद्ध के प्रिय शिष्यो मे थे और भगवान् की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् सघ के प्रधान होने का श्रेय भी उन्हे मिला। बौद्ध-संघ मे भिक्षुओं का जीवन सामुदायिक था और खान-पान मे स्पृश्यास्पृश्य का भेद-भाव नही था। यह सत्य है कि भिक्षुओ की कोई जाति नही थी, परन्तु भगवान् बुद्ध भिक्षुओं मे भी जातिवाद सम्बन्धी धारणाओ को सर्वथा निर्मूल करने मे सफल न हो सके। तत्कालीन समाज मे जातिवाद की भावना इतनी प्रबल थी कि सभी भिक्षुओ के मस्तिष्क से उन्हे न निकाला जा सका।

अगुत्तर-निकाय[१६] तथा उदान[१७] से पता चलता है कि कतिपय भिक्षु अपने को ब्राह्मण-भिक्षु, उच्चकुलोद्भव-भिक्षु इत्यादि सज्ञाओ से सबोधित किया जाना पसन्द करते थे। कही-कही हम भगवान् बुद्ध के समक्ष भिक्षुओ के मुख से जातिवाद-सम्बन्धी धारणाओ की स्वीकृति पाते है। तित्तिर-जातक मे कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ से जब यह प्रश्न किया कि उत्तम आवास, उत्तम जल तथा उत्तम भोजन के अधिकारी कौन हो सकते हैं ? तो उन्हे भिक्षुओ से भिन्न-भिन्न उत्तर मिले। कुछ ने कहा कि क्षत्रिय-कुल से प्रव्रजित भिक्षुओ को ये सुविधाएँ मिलनी चाहिए, अन्यो ने कहा—नही, ब्राह्मण-कुल-प्रव्रजित ही इसके अधिकारी हो सकते है। कुछ ने गहपति (वैश्य)-कुल-प्रव्रजित को इसका पात्र बतलाया। इन तीनो वर्णों के सदस्य समाज मे समादर के पात्र थे और इस बात को बौद्ध-भिक्षु भी अस्वीकृत न कर सके, यद्यपि यह भगवान् बुद्ध के उपदेश के प्रतिकूल था। यहाँ यह नही समझना चाहिए कि भिक्षुओ मे जातिगत भेद-भाव था। सत्य इतना ही है कि भिक्षुओं के मस्तिष्क मे भी जाति-सम्बन्धी धारणाएँ थी, जिनकी अभिव्यक्ति प्रसङ्गवश हो जाया करती थी।

जातिवाद के खडन-सम्बन्धी भगवान् बुद्ध के उपदेश भिक्षु-सघ के बाहर समाज मे प्रभावशाली सिद्ध न हो सके। उनके द्वारा प्रतिपादित नवीन सामाजिक विचारधारा का तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव न पडा। समाज का सगठन यथावत् बना रहा। उपासक के रूप मे बौद्ध-धर्म स्वीकार करने का अर्थ अपनी जाति का त्याग कदापि नही था। बौद्ध होकर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ही बने रह जाते थे। इसका यह कारण था कि जो सामाजिक प्रथा प्रबल थी उसका प्रतिकार कठिन था— बुद्ध भी इसमे असफल रहे, यह उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। उन्हे तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को स्वीकार करना पडा और तदनुकूल अपने धर्म का भी वे प्रचार करते रहे। यदि उन्होने यह नियम बना दिया होता कि बौद्ध वही व्यक्ति हो सकता है जो अपने को किसी भी वर्ण अथवा जाति का सदस्य न माने तो बौद्ध-धर्म लोकप्रिय न हो पाता। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था को नि सार बतलाते हुए भी उन्हें व्यवहार मे उसे स्वीकार करना पडा, क्योकि सर्वमान्य प्रचलित सामाजिक प्रथा के विरोध द्वारा उन्हे अपने ही धर्म की हानि की सभावना दिखलाई पडी। कभी-कभी

तो वे स्वय क्षत्रियो को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ बतलाते हैं और कभी यह कहते हैं कि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ही समाज मे समादर के अधिकारी हैं। अम्बट्ठ-सुत्त मे बुद्ध ने प्रबल तर्कों द्वारा सभी दृष्टिकोण से क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ सिद्ध किया है।[१८] परन्तु ऐसा कोई भी प्रसंग नही आता जहाँ वे क्षत्रिय को भी हीन बतलाते हो। पुनः अन्य स्थान पर भगवान् बुद्ध के मुख से ये वचन निकलते है— 'हे राजन्, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण हैं, इनमे दो वर्ण (क्षत्रिय तथा ब्राह्मण) अभिवादन, प्रणामाञ्जलि, अग्रासन तथा सेवा के अधिकारी हैं।'[१९] यहाँ बुद्ध द्वारा यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि क्षत्रियो तथा ब्राह्मणो का स्थान समाज मे सर्वोपरि है, अन्य जातियों का स्थान उनसे निम्न है। जन्मना श्रेष्ठता की भावना को भगवान् बुद्ध ने निरर्थक कहा है, परन्तु बौद्ध-साहित्य मे उन्हे ही मातृ तथा पितृ पक्ष मे सप्त पीढियो तक निष्कलक बतलाया गया है।[२०] भगवान् बुद्ध के प्रति जन-साधारण की श्रद्धा का एक कारण यह भी था कि जिस कुल मे उनका जन्म हुआ था वह अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। बौद्ध पालि-वाङ्मय मे बुद्ध के समकालीन प्राय. सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणो तथा क्षत्रियों का वर्णन अपने-अपने कुल की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए किया गया है। सप्त पीढियो तक निष्कलक कुल के आधार पर ही ब्राह्मण सोणदड को उनके सहयोगियो ने कहा कि आप भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ न जायें।[२१] जब यही बात ब्राह्मण कूटदन्त से कही गयी तो उन्होने उत्तर दिया— 'भगवान् बुद्ध का कुल भी तो सात पीढियो तक पवित्र एव निष्कलक है, फिर मैं क्यो उनके दर्शनार्थ न जाऊँ?'[२२]

भगवान् बुद्ध ने जातिवाद का खंडन तो किया परन्तु उनका वास्तविक विरोध उसके तत्कालीन रूढ-रूप से था। वस्तुत: वे मात्र जन्मना वर्ण के सिद्धान्त के विरोधी जान पडते है। ब्राह्मणत्व सपन्न ब्राह्मण की निन्दा करते हुए हम उन्हे नही पाते हैं। वे अब्राह्मणोचित कर्मो मे लग्न तथा गुणहीन ब्राह्मणो का अवश्य विरोध करते थे। वे इसके पक्ष में नहीं थे कि ब्राह्मण-कुल मे जन्म लेने मात्र से हम किसी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र मान ले। उन्होने कितने ही स्थानो मे यह कहा कि तत्कालीन ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म का त्याग कर दिया था, जिसके लिए उन्हें दुःख था। ब्राह्मण-धम्मिक-सुत्त मे उनके मुख से सच्चे ब्राह्मण की व्याख्या करायी गयी है। सच्चे ब्राह्मण के लिए हम बौद्ध-ग्रथो मे श्रद्धा के ही शब्द पाते हैं। वास्तव मे, भगवान् बुद्ध ऊँच-नीच की भावना के विरोधी थे। ऐसी भावना की प्रबलता समाज के लिए घातक होती है। अतः समाज-

सुधारक के रूप मे उन्होने इसका विरोध किया। वे परम्परागत समाज के विरोधी न थे, परन्तु उसकी त्रुटियो को दूर कर उस दुरवस्था का उन्मूलन करना चाहते थे जिसमे किसी जाति-विशेष मे जन्म ग्रहण करने के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तथा उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाय। व्यावहारिक रूप मे तत्कालीन सामाजिक सगठन मे उनके द्वारा जातिवाद का खडन यही तक था।

तत्कालीन समाज का स्वरूप—जैसा कि ऊपर कहा गया है, जन-साधारण की दृष्टि मे स्वय स्रष्टा ने ही समाज का वर्गीकरण विभिन्न जातियो मे करके उनके कर्म निर्धारित किये।[२३] इस धारणा का उल्लेख हमें कई जातक कथाओ मे मिलता है। क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा गहपति (वैश्य) उच्च जाति के माने गये।[२४] धर्मशास्त्र मे ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि है, पर बौद्ध पालि-वाङ्मय मे क्षत्रिय का। तत्पश्चात् स्थान आता है— गहपति (वैश्य), सेट्ठि (श्रेष्ठि) तथा साधारण वैश्यो का जिनके अन्तर्गत उच्चवर्गीय शिल्पियो का भी बोध होता है। परन्तु, तत्कालीन समाज मे साधारण वैश्य उस समादर के भागी न थे जो गहपतियो एवं सेट्ठियो को मिलता था। वैश्य वर्ग के पश्चात् नाम आता है भूमिहीन श्रमिको का। अत मे उल्लेख मिलता है— चंडाल, निषाद, वेण, रथकार, पुक्कुस आदि हीन जातियो का जो दरिद्रता तथा भोजन-वस्त्राभाव के शिकार थे।[२५]

सामान्यतया सभी अन्य जातियो का स्थान ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णो से निम्न होने के फलस्वरूप इन उच्च वर्णों की कन्याएँ निम्न वर्णों के लिए अलभ्य थी। सिगाल-जातक के अनुसार एक नापितपुत्र किसी लिच्छवि-कन्या पर आसक्त हो गया। परन्तु जब उसने उस कन्या को पत्नी-रूप मे प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की तो उसके पिता ने कहा—'निषिद्ध वस्तु को प्राप्त करने की आकाक्षा से कोई लाभ नही, कहाँ वह सिहनी-सम क्षत्रिय-दुहिता और कहाँ तुम श्रृगाल सदृश नापित-पुत्र !'[२६]

इस काल के समाज मे लोगो के अन्तर्जातीय खान-पान सम्बन्धी विचारो मे हम एकरूपता नही पाते। समाज का एक वर्ग अन्तर्जातीय खान-पान मे थोडा प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष मे था, तो दूसरा वर्ग इसके विपक्ष मे। शाक्यवशी महानाम ने कोशल-नरेश प्रसेनजित् के दूतो को छलपूर्वक आश्वस्त किया कि उन्होने अपनी दासीपुत्री वासभखत्तिया के साथ एक ही थाली मे भोजन किया, यद्यपि उन्होने यथार्थतः ऐसा नही किया था। उन्होने तो ऐसा नाटक रचा जिससे दूतो को विश्वास हो गया कि वासभखत्तिया उनकी

सहधर्मचारिणी-गर्भोद्‌भवा कन्या थी।[२७] आपस्तम्ब के विचार मे ब्राह्मण स्नातक को ब्राह्मणेतर जातियो के गृह मे भोजन ग्रहण नही करना चाहिए।[२८] उन्होने खान-पान सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे इस तथ्य का सकेत मिलता है कि स्वच्छता की भावना तथा अपराध की प्रवृत्ति के निरोधात्मक प्रयास के रूप मे सामाजिक वहिष्कार ने प्रमुख रूप से भोजन-सम्बन्धी स्पृश्या-स्पृश्य की धारणा को जन्म दिया।[२९] शस्त्रजीवियो (क्षत्रियेतर), शिल्पियो, चिकित्सको, सदेशवाहको तथा गुप्तचरो के कर्मों को अपवित्र मानकर उनके हाथ का भोजन अग्राह्य माना गया होगा। मद्यप, बन्दी या कर्त्तव्यच्युत ब्राह्मण के हाथ का भोजन भी निषिद्ध समझा गया। इसका कारण निःसन्देह सामाजिक वहिष्कार द्वारा अपराध करने की प्रवृत्ति पर अकुश लगाना था। तत्कालीन समाज मे भोजन-सम्बन्धी उन प्रतिबन्धो का अभाव दीखता है जो अवान्तर-कालीन समाज मे प्रचलित हो गये। जाति-विशेष मे जन्म ग्रहण करने मात्र से किसी व्यक्ति का छूआ भोजन अग्राह्य नही माना जाता था। आपस्तम्ब भी ब्राह्मण परिवार के लिए शूद्र पाचको को नियुक्त करने की अनुमति देते है, यदि वे किसी द्विजाति के निरीक्षण मे कार्य करें और स्वच्छता के नियमो का पालन करें।[३०] इस बात की भी व्यवस्था मिलती है कि आपत्काल मे किसी भी जाति के हाथ का भोजन ग्रहण किया जा सकता है।

ब्राह्मण की स्थिति— बौद्ध लेखको ने ब्राह्मणो की नष्ट धर्मावस्था का ही विशेष वर्णन किया है। उनके अनुसार ब्राह्मणो ने अपने प्राचीन आदर्शों का सर्वथा त्याग कर सभी प्रकार के सासारिक सुख-भोगो मे अपने को लिप्त कर रखा था तथा अब्राह्मणोचित कर्मों, जैसे—अपने शरीर के अगो को वस्त्राभूषणो तथा आलेपनो द्वारा सुसज्जित करना, सुस्वादु भोजन करना, मद्य पीना, बृहदाकार रथो की सवारी करना, परिचारिकाओ से परिवृत रहना, प्रचुर धन-सग्रह करना, इत्यादि को करने लगे थे।[३१] दूसरी ओर ब्राह्मण-रचित धर्मशास्त्र मे ब्राह्मणो के आदर्श चित्रण की प्रमुखता है। इस अवस्था मे यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-वाङ्‌मय तथा धर्मशास्त्र मे ब्राह्मणो का परस्पर-विरोधी चित्रण किया गया है। परन्तु इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि धर्म-शास्त्र मे भी अयोग्य ब्राह्मणो का उल्लेख मिलता है और बौद्ध-वाङ्‌मय मे भी आदर्श ब्राह्मणो के लिए श्रद्धा के भाव व्यक्त किये गये हैं। बौद्ध लेखक यह भी स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण धर्मनिष्ठ होते थे। वस्तुतः समाज मे मूर्ख तथा विद्वान् दोनो श्रेणी के ब्राह्मण विद्यमान थे और बौद्ध-ग्रंथों तथा धर्मशास्त्र

के तुलनात्मक अध्ययन से ही तत्कालीन समाज के ब्राह्मणो का वास्तविक चित्र सुलभ हो सकता है। पालि-पिटक के अनुसार इस युग के ब्राह्मणो की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम श्रेणी उन ब्राह्मणों की थी जो शास्त्रसम्मत ब्राह्मण-कर्म करते। वेदो का अध्ययनाध्यापन करने वाले, पुरोहित एव तपस्वी इस वर्ग के सदस्य थे। जातक कथाओ मे प्रायः ऐसे ब्राह्मणो का वर्णन मिलता है जो अल्प-वय मे ही अथवा गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित होकर तपोभूमि का मार्ग अपनाते थे।[१२] बौद्ध लेखको के अनुसार सच्चे ब्राह्मण तीनो वेदो मे पारंगत एव इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि अनेक विद्याओ के मर्मज्ञ होते थे।[१३] सुनेत्र तथा सेल सदृश अनेक ब्राह्मण प्रकाड पंडित भी थे जिनके सन्निकट सैकडो शिष्यो का जमघट रहता था।[१४] ऐसे ब्राह्मणो को दिशा-प्रमुख आचार्य कहा जाता था।[१५] बौद्ध लेखको ने ब्राह्मण आचार्यों की घोर भर्त्सना की है कि वे अपना सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यो को नही दिया करते थे। परन्तु उनकी यह आलोचना सर्वथा उपयुक्त नही जान पड़ती क्योकि ऐसे भी उच्चादर्शसम्पन्न एवं कर्त्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण आचार्यों का अभाव नही दीखता जो सुयोग्य शिष्यो को अपना सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करने मे किसी प्रकार की हिचक नही दिखलाते थे। भगवान् बुद्ध के गुरु आलार कालाम ने शिक्षण काल के अन्त मे कहा—'अब जितना मै जानता हूँ उतना ही आप भी जानते हैं। हममे अब कोई अन्तर नही रहा।' यही सच्चे आचार्य का आदर्श था और विद्वान् ब्राह्मणो ने प्राय· इसका पालन भी किया।

बुद्ध-कालीन समाज का बहुसख्यक जन-समुदाय उस वेद-विहित लौकिक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था जिसमे वैदिक यज्ञो की प्रधानता थी। परिणामतः तत्कालीन समाज मे पुरोहित वर्ग अत्यन्त समादृत हुआ। याजक के रूप मे उन्हे गायें, वस्त्राभूषण, शयन-सामग्री आदि अनेकानेक वस्तुएँ दानस्वरूप मिलती रही।[१६] उन्हें राजाओ द्वारा भूमिदान भी मिला करता था जिसकी सज्ञा ब्रह्मदेय्य पडी। कई ब्राह्मणो को ब्रह्मदेय्य के रूप मे ग्राम मिले थे। ब्राह्मण सोणदण्ड को ब्रह्मदेय्य मे चम्पा ग्राम मिला,[१७] मगधवासी ब्राह्मण कूटदन्त को बिम्बिसार ने खानुमत नामक ग्राम दिया[१८] और इसी प्रकार कोशलराज ने भी ब्राह्मणो का समादर किया।[१९] समय-समय पर ब्राह्मण-वाचनिक नामक धार्मिक उत्सव का आयोजन कर ब्राह्मणो के आशीर्वचन प्राप्त किये जाते; ऐसे अवसर पर भोज भी होते थे। ऐसे आयोजनो के ही आधुनिक सस्करण हिन्दू समाज मे प्रचलित कथावाचन प्रतीत होते हैं। राज-पुरोहित की प्रतिष्ठा की अपनी विशिष्टता थी, क्योकि वे राजसभा के एक प्रमुख

पदाधिकारी भी थे।[४०] राजा के शैशव और किशोरावस्था मे वे उसके गुरु होते थे और प्राय. इसके पश्चात् भी उनका यही स्थान रहता था।[४१] वे न्याय विभाग का शासन भी संभालते थे।[४२] राजा के सखा के नाते वे द्यूत-क्रीड़ा मे उनका साथ देते[४३], उत्सवो के अवसर पर शोभा-यात्रा मे राजा के साथ हस्ति आरोहण करते[४४] और दुर्भाग्य के दिनो मे भी दोनों का सग नहीं छूटता था।[४५]

दूसरा वर्ग उन ब्राह्मणो का था जो शास्त्रानुमोदित ब्राह्मणोचित कर्मों से विमुख हो गये थे, और यह अस्वाभाविक भी नही था, क्योंकि समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा आर्थिक आवश्यकताओ ने अनेक ब्राह्मणों को इसके लिए बाध्य किया कि वे अपने पैतृक कर्मों— अध्यापन एव पौरोहित्य का त्याग कर अन्य पेशे स्वीकार करें। समाज मे जो नये परिवर्तन हो रहे थे और उनसे जो समस्याएँ उपस्थित हो रही थी उन सभी से धर्मशास्त्रकार अवगत थे, अतएव उन्होने ब्राह्मणो के लिए यह व्यवस्था की कि वे जीविकार्थ ब्राह्मणेतर वर्णों के कर्म करें। आपस्तम्ब[४६] और गौतम[४७] के अनुसार उनको आपत्काल मे वाणिज्य एवं कृषि-कर्म करने की राय दी गयी है। मनु का कहना है कि वे क्षत्रिय अथवा वैश्य का कर्म कर सकते है।[४८] बौद्ध लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे ब्राह्मण अनेक प्रकार के कर्म करने लगे थे, जैसे—कृषि, शिल्प, व्यापार, सैनिककर्म, प्रशासन इत्यादि।[४९]

समाज मे वैभव-सम्पन्न ब्राह्मणों का भी अभाव नही था और उन्हे महासाल कहा जाता था। सोणदण्ड, कूटदन्त, तारुक्ख, तोदेय्य, कसिभारद्वाज, पोक्खरसाति इत्यादि महासाल ब्राह्मणो के प्रति कोशल और मगध के निवासी अत्यन्त श्रद्धालु थे।[५०] धर्मभीरु जनता पर इनका बडा प्रभाव था। ऐसे महासाल ब्राह्मण विपुल भू-सम्पत्ति के स्वामी थे। कसिभारद्वाज के अधिकार मे जितना खेत था उसे जोतने के लिए पाँच सौ हलों की आवश्यकता पडती थी।[५१] केणिय जटिल मे इतना वैभव-सामर्थ्य था कि अपने विवाह तथा महायज्ञ के शुभ अवसर पर उन्होने मगधराज बिम्बिसार को आमन्त्रित कर उनका यथोचित सत्कार किया था।[५२]

दीर्घ-निकाय के ब्रह्मजालसूत्र मे निषिद्ध कर्मों मे रत ब्राह्मणो की एक लंबी सूची सुलभ है। दश-ब्राह्मण-जातक मे निषिद्ध कर्मरत दस प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, यथा—चिकित्सक, परिचारक, निग्गाहक (जो कुछ पाये बिना पिंड नहीं छोड़ते), लकड़हारे, वणिक, अम्बष्ठ तथा वैश्य (कृषि एवं

व्यापार मे सलग्न), गोघातक, गोप-निषाद, लुब्धक और वे जो स्नान-काल मे राजा की सेवा करते। अन्य जातक कथाओ मे भी चिकित्सक[५३], कृषक[५४], वणिक[५५], बड्ढकि[५६] अजपाल[५७] धनुर्धारी,[५८] तथा निषाद[५९] ब्राह्मणो के उल्लेख मिलते हैं। कई ब्राह्मणो का कर्म स्वप्नो की व्याख्या तथा भाग्य-सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करना था और वे लक्खण-पाठक कहे जाते थे।[६०] जो ब्राह्मण व्यक्ति के विभिन्न अग-लक्षणो के आधार पर उसका भूत, भविष्य तथा आचरण बतलाते थे वे अगविद्या पाठक कहे जाते थे।[६१] इसी प्रकार असिलक्षण पाठक तलवारो का गुण-दोष बतलाते थे।[६२] ब्राह्मणो मे भूत-पूजक और तत्रज्ञ भी थे। वे वेदभमत्र[६३], पृथ्वी-विजयमत्र[६४], चितामणि विद्या[६५] आदि मत्रो के साधक थे और कुछ तो भूतापसारण कर्म भी करते थे।[६६] जातक कथाओ के उपर्युक्त विवरण मे थोडी अतिरजना हो सकती है, क्योकि ब्राह्मणो का लुब्धक और गोघातक के रूप मे भी उल्लेख किया गया है। ये कर्म ब्राह्मण के लिए सर्वथा अग्राह्य थे, परन्तु इतना स्पष्ट है कि आर्थिक आवश्यकताओ से बाध्य होकर ही ब्राह्मणो ने जीवन के प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश किया होगा और परिस्थिति-वश ऐसे कर्मों को भी स्वीकार किया होगा जो उनके लिए सर्वथा निषिद्ध थे, यथा— लुब्धक कर्म, बढईगिरी, परिचारक का काम इत्यादि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदाध्ययनाध्यापन तथा यजन-याजन का कर्म ब्राह्मणो के अल्पसख्यक वर्ग मे ही सीमित रहा और अधिकाश ब्राह्मणो ने परिस्थितिवश विभिन्न प्रकार के कर्मों को ग्रहण किया।

क्षत्रिय की स्थिति— ब्राह्मण-रचित ग्रन्थो मे ब्राह्मण-वर्ण का स्थान सर्वोपरि है, परन्तु बौद्ध-साहित्य मे क्षत्रिय का। वर्णों की सूची मे उनका स्थान प्रथम आता है।[६७] स्वय भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण अम्बष्ठ से कहा—'हे अम्बष्ठ स्त्री से स्त्री की तुलना की जाय अथवा पुरुष से पुरुष की, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण हीन।'[६८] दीर्घ-निकाय एव अगुत्तर-निकाय के अनुसार क्षत्रिय अपने को जन्मना सर्वाधिक निष्कलक मानते थे।[६९] उनमे किस भाँति अह भावना और श्रेष्ठता की चेतना प्रबल हो गयी और किस तरह ब्राह्मण होने के नाते पोक्खरसाति को प्रसेनजित् से तथा अम्बष्ठ को शाक्यो से अपमानित होना पडा उसका हम उल्लेख कर चुके है। इस सदर्भ मे भगवान् बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर के जन्म की कथाएँ भी उल्लेखनीय है। जातक निदानकथा मे कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने मनुष्ययोनि मे जन्म ग्रहण करने के पूर्व विचार किया कि किस कुल मे जन्म लेना श्रेयस्कर होगा और सभी वर्णों के गुण-

दोषो पर चिंतन करते हुए वे इस निर्णय पर पहुँचे कि क्षत्रियकुल ही लोकसम्मत है, जिसमे उन्हे जन्म लेना चाहिए।[७०] इसी प्रकार की कथा जैन ग्रन्थ कल्प-सूत्र मे भगवान् महावीर के जन्म के विषय मे मिलती है। भगवान् महावीर को देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ मे प्रवेश करने पर अपनी भूल ज्ञात हुई, तो वे त्रिशला नाम की क्षत्रियाणी के गर्भ में प्रविष्ट हो गये।[७१] सोनक-जातक मे राजा अरिन्दम अपनी जन्मना श्रेष्ठता की तुलना पुरोहित-पुत्र सोनक से करते हुए कहते हैं— 'यह ब्राह्मण तो हीनजन्मा है, और मैं हूँ पवित्र क्षत्रिय-कुलोत्पन्न।'[७२]

स्वभावत. यह प्रश्न उठता है कि क्षत्रियो मे इस प्रकार श्रेष्ठता की भावना पनपने के क्या कारण थे ? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है वर्णधर्म का अनुसरण करनेवाली तत्कालीन समाज व्यवस्था से जिसमे एकमात्र क्षत्रिय ही राजत्व का उपभोग करने का अधिकारी था। इस विशेषाधिकार के फलस्वरूप क्षत्रिय वर्ग को निसर्गत अन्य जातियों की तुलना मे सर्वाधिक प्रभुता, प्रतिष्ठा एवं सम्मान मिले। इसी कारण बौद्ध एव ब्राह्मण-रचित ग्रन्थो में समान रूप से राजा को मनुष्यो मे श्रेष्ठतम कहा गया है। ब्राह्मण अपने तप एव ज्ञान के बल पर समाज मे पूजित हुए, परन्तु क्षत्रिय भी इन्ही गुणो से समन्वित थे। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनो ही अभिजात वर्ग के सदस्य थे और उनकी सतान को ज्ञानार्जन के समान अवसर मिले। ब्राह्मण कुमार तथा क्षत्रिय कुमार के एक ही गुरु से विद्यादान प्राप्त करने के उल्लेख मिलते है,[७३] अत· क्षत्रियो ने यह स्वीकार नही किया कि ब्राह्मण उनसे विद्वता मे श्रेष्ठ हैं। उपनिषद् काल मे क्षत्रियो ने यह भी निदर्शित कर दिया कि उनका तत्त्व-ज्ञान ब्राह्मणो के तुल्य ही नही, अपितु उनसे बढकर है। बुद्ध-युग मे नवीन धार्मिक चेतना के जन्मदाता बुद्ध तथा महावीर सदृश महापुरुषो को जन्म देने के कारण इस जाति के सदस्यो मे गर्व का होना भी स्वाभाविक ही था। यदि बौद्ध शास्त्र-कारो ने क्षत्रिय वर्ण को सभी वर्णों से ऊपर स्थान दिया, तो कोई अस्वाभाविक कार्य नही किया।

पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि राजमन्त्री, सेनानायक, प्रशासकीय उच्च पदाधिकारी तथा सामन्त प्राय. क्षत्रिय ही हुआ करते थे, केवल मंत्रिपद मे अधिकतर ब्राह्मणो को नियुक्त किया गया। क्षत्रिय जाति प्रमुखत. युद्धजीवी थी, परन्तु आर्थिक परिस्थितिवश ब्राह्मणो के समान क्षत्रियो को भी अनेक प्रकार के कर्मक्षेत्रो मे प्रवेश करने के लिए बाध्य होना पडा और उन्होने वणिक

हस्त-शिल्पी, कुम्भकार, गायक-वादक, पाचक आदि का कर्म भी किया।[७४]

वैश्य की स्थिति—पालि-पिटक मे वैश्य वर्ण के लिए वेस्स, गहपति, सेट्ठि, कुटुम्बिक इत्यादि संज्ञाएँ प्रयुक्त की गयी हैं। गहपति (गृहपति) शब्द से सामान्यतया किसी भी वर्ण के सदस्य का बोध होता है, परन्तु बौद्ध लेखको ने जिस सदर्भ मे इस शब्द का प्रयोग किया है उससे वैश्य जाति का ही बोध होता है। फिक महोदय का यह तर्क सबल नही है कि ब्राह्मण एव क्षत्रिय भी गहपति कहलाते थे अतः इस शब्द से वैश्य जाति का बोध नही होता।[७५] पालि-साहित्य मे जहाँ भी गहपति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय गृहस्वामी के लिए हुआ, वहाँ स्पष्ट रूप मे ब्राह्मण-गहपति या क्षत्रिय-गहपति शब्द आये हैं और वैश्य के अर्थ मे मात्र गहपति शब्द प्रयुक्त हुआ है। वैश्य-कुल को गहपति-कुल कहा गया। जातियो की सूची मे भी गहपति शब्द ब्राह्मण-क्षत्रिय के पश्चात् और शूद्र के पूर्व आता है।[७६] यह तथ्य भी उपेक्षणीय नही है कि जिन कुलो को गहपति-कुल कहा गया उनके वशानुगत स्वरूप को भी व्यक्त किया गया। गहपति-कुल के सदस्य अपने पैतृक कर्म का त्याग करने पर भी गहपति-कुलोत्पन्न कहलाते रहे। परिस्थिवश साग-सब्जी का क्रय-विक्रय करने अथवा मजदूरी करने पर भी वे गहपति ही कहे गये।[७७] गहपति का विवाह भी स्वजाति मे ही सम्पन्न होता था।[७८] इन सभी बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि-वाङ्मय मे गहपति का प्रयोग वैश्य जाति के लिए किया गया है।

कुटुम्बिक शब्द का अर्थ भी गृहस्वामी है, परन्तु पालि-वाङ्मय मे इसका प्रयोग प्राय· सम्पन्न वैश्य गृहपति के अर्थ मे किया गया है। नगरवासी कुटुम्बिक प्रमुख रूप से व्यापारी थे और वे धान्य-क्रय-विक्रय,[७९] सूद मे रुपये लगाना,[८०] इत्यादि व्यवसाय करते, लेकिन जो कुटुम्बिक ग्रामवासी थे वे सम्पन्न किसान हुआ करते थे।[८१] कई कुटुम्बिक बडे धनाढ्य थे।

सेट्ठि (श्रेष्ठिन् = सेठ) उन वैश्यो को कहा जाता था जो वैश्य-वर्ग के अभिजात एव सर्वाधिक धनाढ्य सदस्य थे। सेट्ठियो को वैश्य जाति के अतर्गत ही नही, वरन् समाज मे भी विशेष मान और मर्यादा मिले। सेट्ठिपुत्रो की शिक्षा-दीक्षा क्षत्रिय-ब्राह्मण कुमारो के सग होती थी और इनके विवाह भी सेट्ठि-वर्ग के अतर्गत हुआ करते थे। अपने धन-वैभव के बल पर इन्होने समाज मे अपने प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाया था। समाज के विभिन्न वर्ग इनके अनुग्रह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। महावग्ग के अनुसार राजगृह के एक सेट्ठि ने राजा एव व्यापार-निगमो का बडा उपकार किया।[८२]

दूमरे सेट्ठि ने, जो मगधवासी था, भिक्षु-सघ को अस्सी करोड कार्षापणों का दान दिया।[८३] श्रावस्ती नगर के प्रमुख सेट्ठि अनाथ पिंडिक ने भी भिक्षु-संघ को प्रभूत दान दिया। किस प्रकार इस सेठ ने जेतवन की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्ण मुद्राओ से आच्छादित कर क्रय किया यह कथा लोक-विश्रुत है। जातक कथाओ मे कतिपय सेट्ठियो का उल्लेख राजसभा के उच्च पदाधिकारी के रूप मे भी हुआ है। ऐसे सेट्ठि प्रतिदिन एकाधिक बार राजदर्शनार्थ राज-सभा मे जाते थे।[८४] महाजनक-जातक के अनुसार सेट्ठिजन राजसभा मे अमात्यमडल एवं ब्राह्मणो के साथ समान आसन में विराजते थे। ऐसे भी वर्णन मिलते हैं कि राजपदाधिकारी सेट्ठि को प्रव्रजित होने के लिए भी अनिवार्यत अपने स्वामी की अनुमति लेनी पडती थी।[८५] राजसभा से सेट्ठि-जनो के इस सपर्क को देखकर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत मे वाणिज्य और उद्योग विषयक परामर्श देने के लिए व्यापारी वर्ग के एक प्रतिनिधि को भी राजसभा मे स्थान दिया गया होगा।

वस्तुतः सेट्ठि बडे व्यापारी थे। कई तो बैंकपति थे और कई सार्थवाह। पण्यो से लदे अपनी बैलगाडियो के काफिले लेकर व्यापार हेतु सुदूर प्रदेशो मे जाने वाले सार्थवाह कहलाये। पालि-पिटक के अनुसार सार्थवाहो के काफिले देश के पूर्व भाग से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व आते-जाते रहते, जिससे सामग्री का आदान-प्रदान चलता रहता।[८६] इस युग के बडे नगरो मे अनेका-नेक सार्थवाहो का वास था जो पण्य-पूर्ण शकट-समूह के साथ विभिन्न नगरों मे जाया करते थे। श्रावस्ती के श्रेष्ठि अनाथ पिंडिक अपने पण्यपूर्ण शकट-समूह के साथ प्रायः राजगृह आते रहते थे। एक सार्थवाह के कारवाँ मे पाँच सौ तक बैलगाडियाँ रहती थी।[८७] इन काफिलो को बीहड वन-मार्गों एवं दुर्गम मरुस्थलो को तय करना पडता तब कही ये अपने गन्तव्य तक पहुँच पाते। स्वभावत: सार्थवाहो का कार्य साहसपूर्ण था। पग-पग मे जीवन का खतरा बना रहता—किसी भी क्षण किसी दस्युदल द्वारा आक्रांत किये जाने अथवा किसी मरुस्थल मे भटक कर जीवन से हाथ धोने या घोर कष्ट का सामना करने की सभावना बनी रहती थी। परन्तु, नाना कष्टो को झेलकर भी सार्थवाहों ने सुदूर प्रदेशों मे जाकर व्यापार किया और उन्होने निःसदेह देश की श्रीवृद्धि मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के सदृश गहपति (वैश्य) भी अपनी सामाजिक

मान-मर्यादा के प्रति चैतन्य हो गये थे। पालि-वाङ्मय मे गहपति उच्च-कुलोद्भव कहे गये हैं। महावग्ग मे वाराणसीवासी सेट्ठिपुत्र यश को कुलपुत्र कहा गया है।[८८] राजसभा मे भी ब्राह्मण-क्षत्रिय के पश्चात् उन्हे ही सम्मान मिला।

शूद्र की स्थिति—पालि-पिटक एव धर्मसूत्रो के अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बौद्ध-युग मे अनेक उपजातियो को शूद्र माना गया। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता कि किन विशिष्ट जातियो को शूद्र कहा जाता था, किन्तु जिस रूप मे निम्न जातियो की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे शूद्र-वर्ण के अतर्गत माना जाता था। शूद्र प्रमुखत सेवक और मजदूर के रूप मे कार्य करते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकाश शूद्रो को कृषि से सम्बद्ध कार्यों मे नियुक्त किया जाता था। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से इस बात का आभास मिलता है कि ऐसे शूद्रो के पास इतनी भू-सपत्ति नही रहती थी कि वे राज्य को उसका कर देते।[८९] इन्हे भतक और कर्मकर कहा जाता था।[९०] जातको से ज्ञात होता है कि मजदूर (कर्मकर) की मजदूरी प्रतिदिन डेढ माषक थी।[९१] पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार उसे चार माषक मात्र मिलते थे।[९२] कौटिलीय अर्थशास्त्र मे खेतीहर मजदूर की मजदूरी निर्धारित की गयी है—भोजन के साथ $\frac{2}{3}$ माषक।[९३] अत. उसकी दैनिक मजदूरी दो जनो के भोजन के मूल्य के लगभग पडती थी। यह मजदूरी इतनी नही थी जिससे श्रमिक वर्ग सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता। भृतको की आय साधारण अवश्य थी, परन्तु उन्हे समाज मे हेय-दृष्टि से नही देखा जाता था, क्योकि यदि ऐसा होता तो आपत्काल मे उच्चवर्ण के सदस्य इस कर्म का आश्रय नही लेते। एक जातक कथा मे ब्राह्मण-कन्याओ के जीवन निर्वाह के लिए भत्ति का आश्रय लेने का उल्लेख मिलता है।[९४] पाणिनि और पतजलि ने नगरवासी होने के कारण सभवत नागरिक क्षेत्र के श्रमिको का उल्लेख किया है, अत वे जातको तथा अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक मजदूरी का वर्णन करते हैं।

शूद्र-वर्ण का एक वर्ग शिल्पियो का था। इस वर्ग ने इस युग की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे प्रमुख भूमिका अदा की। लोहार और बढ़ई आदि शिल्पियो के उपयोग के लिए हथौडे, क्रकच (आरा), तक्षणी इत्यादि औजारो के साथ कृषि-कर्म मे प्रयुक्त हल और कुल्हाडी-जैसे उपकरणो के निर्माता ये ही थे। तकनीकी क्षेत्र मे समाज के क्रमिक विकास के क्रम मे धीरे-धीरे नवीन पेशेवर जातियों का उद्भव होता जा रहा था। पेशे और शिल्प कालान्तर मे पैतृक

होते गये और उनमे संलग्न लोगो की विशिष्ट जातियाँ बनती गईं। इस प्रकार जो शिल्पी जातियाँ बन गईं उनमे बुनकर (पेशकार, तन्तुवाय),[९५] बढई (तच्छक),[९६] लोहार (कम्मार=कर्मार),[९७] दन्तकार,[९८] कुम्हार (कुम्भकार)[९९] आदि के उल्लेख मिलते है। इन जातियो में सजातीय विवाह की प्रथा प्रचलित हुई और प्रत्येक जाति का एक प्रमुख भी होने लगा जो जेट्ठक कहलाया, जैसे—मालाकार-जेट्ठक,[१००] वड्ढकि-जेट्ठक,[१०१] कम्मार-जेट्ठक[१०२] इत्यादि। कुम्भकार, लोहार, दतकार, बढई आदि जातियाँ अलग-अलग ग्रामो में वास करने लगी और जाति के आधार पर गाँवो के नामकरण होने लगे, जैसे—कुम्भकारग्राम,[१०३] कम्मारग्राम,[१०४] वड्ढकिग्राम[१०५] आदि।

अनेक शूद्र-जातियाँ ऐसी भी थी जो असगठित, अव्यवस्थित तथा भ्रमणशील रहती थी। इनका प्रमुख कर्म था— जनता का मनोरजन। इस प्रकार की जातियो मे नट (नाचने तथा गाने-बजाने वाले),[१०६] लघ-नट्टक (करिश्मा दिखाने वाले),[१०७] मायाकार,[१०८] सँपेरे (अहिगुण्डिक),[१०९] नेवला पालनेवाले,[११०] गधर्व (गायक-वादक),[१११] भेरी वादन करनेवाले,[११२] शख-वादक,[११३] सर्पदश का विष दूर करनेवाले (विसवेज्जा)[११४] आदि का उल्लेख बौद्ध-पिटक मे किया गया है। इन घुमक्कडो की अपने कर्मों के अनुसार विशिष्ट जातियाँ बन गयी अत: हमे भेरीवादक-कुल,[११५] शखवादक-कुल,[११६] नटक-कुल,[११७] गधब्ब-कुल[११८] इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार की और भी कई जातियाँ थी परन्तु उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित था। इस वर्ग की जातियो मे गोपालक, पशुपालक, तृणहारक (घास काटनेवाले), लकडहारे, वनकम्मिक (वनो मे काम करनेवाले), आराम-गोपक (उपवनो की रखवाली करने वाले) आदि के उल्लेख मिलते है।[११९] इन जातियो का सम्बन्ध मुख्यतया ग्रामीण जीवन से था। जैसा कि मज्झिम-निकाय से ज्ञात होता है, शिल्पी जातियो के समान ये जातियाँ भी अलग-अलग ग्रामो मे बसने लगी थी।

हीन-जातियाँ—पालि-पिटक मे चडाल (चाडाल), नेसाद (निषाद), पुक्कुस (पौल्कष), वेण तथा रथकार—इन पाँच जातियो को हीन-जाति मे परिगणित किया गया है।[१२०] इन जातियो के सदस्यो को नीचकुलोत्पन्न कहा गया और इनके कर्म भी नीच-सिप्प कहलाये। पालि-ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि आरभ मे हीन-जाति तथा हीन-सिप्प (शिल्प) मे भेद था, परन्तु कालान्तर मे दोनो अभिन्न हो गये और उपर्युक्त जातियों के सदस्य हीनकर्मा होने के कारण समाज मे

तिरस्कृत समझे जाने लगे । वस्तुत जन्मना तथा कर्मणा ये जातियाँ अधम मानी जाने लगी और उच्च जाति के लोग इनका अनादर करने लगे । गाली के रूप मे चाडाल और वेण का प्रयोग किये जाने के उदाहरण भी जातक कथाओ में उपलब्ध होते है । एक क्रुध रानी का प्रसग आता है जिसने क्रोधावेश मे अपनी पुत्री को कहा— तू वेणी है, चाडाली है ।[१२१] इसी प्रकार एक ब्राह्मण ने अपनी दुश्चरित्रा पत्नी को पाप चाडाली कहा ।[१२२]

हीन-जातियो मे चाडालो की अवस्था सर्वाधिक शोचनीय थी । अभागे चाडालो को समाज मे सर्वत्र तिरस्कृत होना पडता और बेचारे नगर-सीमा से हटकर अपने घर बनाते ।[१२३] चाडाल अस्पृश्य तो थे ही, जातक कथाओ के अनुसार वे अदर्शनीय भी थे । इस कारण उन्हे नगर-प्रवेश का दुस्साहस नही होता था और वे नगर-प्रवेश-द्वार के निकट ही अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन करते थे ।[१२४] शृगाल-जातक मे चाडाल की तुलना शृगाल से की गयी है, क्योकि जिस प्रकार पशुओ मे शृगाल है उसी प्रकार मनुष्य-जाति मे चाडाल । चाडाल इतने अपवित्र समझे जाते कि उनके स्पर्श से हवा भी दूषित हो जाती । इसके सम्बन्ध मे एक कथा मिलती है—जिस मार्ग से एक ब्राह्मण जा रहा था, दूसरा राहगीर भी उसी मार्ग से जा रहा था । ब्राह्मण ने अपने साथी राहगीर का परिचय पूछा । राहगीर ने उत्तर दिया, 'मै चाडाल हूँ ।' हवा का रुख चाडाल से होकर ब्राह्मण की ओर था । चाडाल के स्पर्श से दूषित वायु मेरे शरीर को दूषित कर देगी ऐसा मन मे सोच ब्राह्मण दूसरी ओर लपकते हुए बोला—'अरे अशुभ चाडाल, दूसरी ओर जाओ ।'[१२५] जातक कथाओ मे चाडालो का बडा ही मार्मिक वर्णन उपलब्ध होता है । मातग-जातक ने एक अभागे चाडाल का वर्णन इस प्रकार किया है—मातग नामक एक चाडाल वाराणसी नगर के निकट चाडाल ग्राम मे रहता था । एक दिन वह कार्यवश नगर की ओर चल पडा । जब वह नगर-प्रवेश कर रहा था उसी समय दीर्घ मागलिका नाम की श्रेष्ठि-दुहिता पालकी मे सवार होकर कही जा रही थी । पालकी पर पर्दा पडा था, पर श्रेष्ठि-दुहिता की दृष्टि चाडाल पर पड गयी तो उसने पूछा— 'यह पुरुष कौन है ?' उत्तर मिला— देवि, यह चांडाल-पुत्र है । श्रेष्ठि-पुत्री के मुँह से निकला— 'ओह, मैंने तो अशुभ-दर्शन किया' और उसने अपने नेत्रो को सुगधित जल से धोकर पवित्र किया । श्रेष्ठि-दुहिता के साथ जो लोग थे उन्होने कहा— 'अरे, दुष्ट चाडाल, आज तुम्हारे दर्शन हो जाने के फलस्वरूप हमे मुफ्त मे भात और शराब न मिल पायगी ।' ऐसा

कह क्रोधावेश मे उन लोगों ने मातग की लात-जूतों से अच्छी पूजा की और उसे चेतनाशून्य छोडकर चलते बने।'[१२६] इसी प्रकार की एक अन्य कहानी चित्तसभूत-जातक मे मिलती है। उज्जैनी नगर की राजपुरोहित-कन्या और श्रेष्ठि-पुत्री बहुत-सा खाद्य-भोजन लेकर उद्यानक्रीडा के लिए निकली। उन्होंने नगर-प्रवेश-द्वार के निकट दो चाडाल-पुत्रो चित्त और सभूत को शिल्प दिखलाते देखा तो पूछा— 'ये कौन हैं?' उत्तर मिला— चाडाल पुत्र। अदर्शनीय देखा, तो अपने नेत्र सुगधित जल से धोकर पवित्र किया। जनता चिल्लायी— 'अरे दुष्ट चाडालो, आज तुमने हमे बिना मूल्य के भात और सुरा से वचित कर दिया'। फिर चाडालो की मरम्मत कर उन्हे अतीव पीडा पहुँचायी गयी। जब चांडाल बधुओ की चेतना लौटी तो वे इस निर्णय पर पहुँचे कि उनके सभी कष्टो का मूल कारण चाडाल-कुल मे जन्म पाना है। अत उन्होने चाडाल-कर्म को त्याग देने का सकल्प किया। वे तक्षशिला चले गये और अपना परिचय ब्राह्मण के रूप मे देकर एक आचार्य के शिष्य हो गये। एक दिन वे निकट के ग्राम मे मगल-पाठ के लिए गये। भोजन के समय उनको उष्ण खीर परोसा गया। संभूत ने उष्ण खीर का कौर मुँह मे डाला। उसका मुँह जलने लगा तो चित्त पडित की ओर देखकर उसने चाडाल भाषा मे कहा—'अरे, ऐसा गर्म है!' चित्त ने भी चाडाल भाषा मे ही उत्तर दिया— 'निगल, निगल'। फिर उनका भेद खुल गया, तो विद्यार्थी समुदाय चिल्ला पडा—'अरे दुष्ट चाडालो, इतने दिनो तक तुमलोगो ने अपने को ब्राह्मण कहकर हमे ठगा।' वे उन्हे पीटने लगे। तब एक सत्पुरुष ने उनकी रक्षा की और कहा—'यह तुम्हारी जाति का दोष है, जाओ, कही प्रव्रजित हो जाओ।'[१२७]

जातक कथाओ मे वर्णित चाडाल जाति की हीनावस्था की पुष्टि धर्मशास्त्र से भी होती है। आपस्तम्ब चाडाल को अस्पृश्य और अदर्शनीय मानते है।[१२८] यदि किसी ग्राम मे चाडाल आ जाय तो उस समय आपस्तम्ब और गौतम वेद का अध्ययन स्थगित करने का आदेश देते है।[१२९] तपोवन मे भी यदि वह दिखाई पड जाय तो इसी नियम के पालन का विधान है। मनु कहते हैं कि यदि कोई चाडाल देख रहा हो तो उस समय ब्राह्मण को भोजन नही करना चाहिए।[१३०] मनुस्मृति मे कहा गया है कि चाडालो की बस्तियाँ ग्राम से बाहर हो, वे केवल मिट्टी के पात्र काम मे लावें, कुत्ते तथा गदहे उनकी सम्पत्ति हो। वे मृतको के वस्त्र धारण करें, लोहे के आभूषण पहने, टूटे बर्तनो मे भोजन करें और यत्र-तत्र घूमते रहे।[१३१] इस प्रकार हम पाते हैं कि चाडालो

को समाज मे नीच और अधम माना जाता था और चाडालयोनि मे जन्म पाने का अर्थ था जीवन के सबसे बडे अभिशाप का भागी बनना।

समाज मे चाडाल कौन-कौन कर्म करते थे, इसका भी उल्लेख जातक कथाओ मे यत्र-तत्र हुआ है, जिनसे पता चलता है कि उन्हे प्राय निम्न कोटि के कामो मे लगाया जाता था। मृतको को जलाना उनका प्रमुख काम था। मनु के अनुसार जिन मृतको के सम्बन्धी न हो उनके शव ढोने का काम चाडालो से कराना चाहिए।[१३२] सडको मे झाडू लगाने और जीर्ण वस्तुओ के उद्धार के काम भी उनसे लिये जाते थे।[१३३] कुछेक को अपराधियो को कोडे लगाने या उनका अगच्छेद करने जैसे कामो के लिए नियुक्त किया जाता था।[१३४] मनु का कहना है कि जिन अपराधियो को मृत्युदण्ड मिला हो उनकी हत्या का काम चाडालो से लिया जाय।[१३५] कई चाडाल ऐन्द्रजालिक बन जाते थे।[१३६]

प्रायः चाडालो को देखने मात्र से आँखो को पता चल जाता था कि वे कौन है। चाडाल बालक अथवा बालिकाएँ जब चीथडो मे लिपटे तथा हाथ मे भिक्षा-पात्र लिए हुए[१३७] नगर मे प्रवेश करती, तो उन्हे देख कर ही दया आ जाती होगी। चाडाल लोग प्राय लाल या पीले रग के कपडे पहना करते थे।[१३८] उनके अधोवस्त्र प्राय जीर्ण रहते और शरीर के ऊपरी भाग का दुपट्टा लाल होता। वे एक कायबधन भी पहना करते थे जिसके ऊपर एक गदा कपडा ओढा जाता।[१३९] वे अपना सिर भी पीले कपडे से बाँधा करते।[१४०]

इसमे कोई सदेह नही कि चाडाल समाज मे तिरस्कृत जाति थी, परन्तु कभी कभी ऐसा भी हुआ कि ज्ञानी पुरुष को चाडालपुत्र होने पर भी समाज मे समुचित प्रतिष्ठा मिली। समाज के बुद्धिवादी वर्ग के विचार मे ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, समुचित आदर का भागी है। वह चाडाल हो अथवा पुक्कुस, अपने गुणो के अनुरूप उसे समाज मे मान पाने का अधिकार है। जातक कथाओ मे ऐसे सत्पुरुषो के वर्णन मिलते है जो अपने ज्ञान के कारण समाज मे पूजित हुए। मातग थे तो चाडाल, पर वे तपोबल से महात्मा हो गये, अत. ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो ने भी उनकी सेवा की।[१४१] एक ज्ञानी चाडाल के प्रश्नो का उत्तर देने मे असमर्थ होने के कारण एक ब्राह्मण युवक को उस चाडाल के चरणो मे नत-शीष होना पडा।[१४२] एक अन्य ब्राह्मण एक चाडाल महापुरुष का शिष्य हो गया और उसने अपने गुरु की सब प्रकार से सेवा-शुश्रूषा की।[१४३] इस प्रकार की कथाओ मे सत्य का अश कितना है यह कहना कठिन है। यदि किसी चाडाल को समाज मे उच्च

स्थान मिला भी तो उसे अपवाद ही माना जायगा। सामान्यतया चाडाल अभागे ही रहे। उत्तर-कालीन धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने भी उन्हे निम्न-स्थान ही दिया। अत्रि-स्मृति मे चाडाल की छाया के स्पर्श का भी निषेध किया गया है।[१४४]

चाडालो के समान निषाद भी नगरो से बाहर रहा करते थे। इनका प्रमुख पेशा जगलो मे विचरण और आखेट करना था।[१४५] मनुस्मृति के अनुसार इनका कर्म मछली मारना था।[१४६] सभवत· अपनी कर्म-प्रकृति के फलस्वरूप इनका स्थान भी समाज मे हीन हो गया। प्राचीन यूनान मे पशुघातकों का स्थान समाज मे निम्न ही रहा।[१४७]

पुक्कुस का स्थान हीन जातियो की सूची मे दूसरा है।[१४८] मनु के अनुसार इनका उद्भव शूद्रा नारी और निषाद के समागम से हुआ।[१४९] यह धारणा उस काल की है जब अतर्जातीय विवाहो को सर्वथा निषिद्ध माना जाने लगा। सभवत· पुक्कुस जाति भी चाडाल के समान तिरस्कृत रही। पुक्कुसो को भी निम्नस्तर के कर्म मे नियुक्त किया जाता था। सभवत· सफाई का काम ही इनका मुख्य पेशा था, क्योकि इनके द्वारा मदिरो एव प्रासादो से मुरझाए फूलो को स्थानान्तरित कराये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[१५०]

वेण और रथकार को भी हीन-जातियो की श्रेणी मे स्थान देने का कारण भी उनके कर्मों के प्रति समाज मे हीन-भावना का पनपना ही है। वे बाँस और लकडी के सामान बनाने का काम करते थे, जिसे निम्न-कोटि का काम माना जाता था। पालि-पिटको मे अनेक प्रकार के काम का उल्लेख निम्न-स्तर के कर्म के रूप मे हुआ है। नलकार (टोकरी बनाने वाला),[१५१] वेणुकार (बाँसुरी निर्माता)[१५२] पेशकार (बुनकर),[१५३] नापित (या नहापित),[१५४] सर्पदंश का विष दूर करने वाले (वेसवेज्जा),[१५५] दर्जी (तुण्णकम्मका),[१५६] सुरा-विक्रयी (वारुणि-वाणिजा)[१५७] तथा नाविक आदि को[१५८] हीन कर्म करनेवाला कहा गया है। कसाई (ओरब्भिक), चिडीमार (शकुनिक), शिकारी (लुद्दक = लुब्धक), मछुआ (मच्छघातक) आदि भी इसी श्रेणी मे आते हैं,[१५९] क्योकि इनके कर्म खूनी बतलाये गये हैं।

इस प्रकार अनेक जातियाँ अपने कर्मों की प्रकृति के कारण हीन कहलाई और समाज मे उनका स्थान निम्न माना गया। परन्तु इन जातियो के अनेक सदस्यो को यह सौभाग्य भी प्राप्त होता रहा कि उनको राजकुल मे नियुक्त

किया गया। राजकुम्भकार, राजुपट्टान-नलकार, राज-मालाकार आदि इसी वर्ग के थे।[१६०] स्वभावत· ही इनका स्थान अपनी जाति के साधारण सदस्यो से उच्चतर रहा। नापित निम्न जाति का था, परन्तु राज-नापित तो राजा से मित्रवत् व्यवहार करता था।[१६१] वह राजकुल मे अनेक प्रकार से राजा की सेवा करता; राजा की हजामत बनाता, उनके बालो को सँवारता, द्यूत-क्रीडा के लिए अष्टापद को व्यवस्थित करता इत्यादि। कभी-कभी तो राज-नापित को जीविकोपार्जन के लिए सम्पूर्ण ग्राम ही उपलब्ध हो जाता था।[१६२]

३

दास-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था के समान ही दास-प्रथा भी भारतीय समाज मे अति प्राचीन काल मे ही प्रचलित हुई। हड़प्पा-युगीन समाज मे भी दासों के अस्तित्व का अनुमान लगाया जाता है।[१] वैदिक सहिताएँ, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा स्मृतिग्रथ सभी दास-दासियो का उल्लेख करते हैं। कौटिल्य के अनुसार यदि म्लेच्छ अपनी सतान का विक्रय करे अथवा उन्हे बंधक मे दें तो वे दड के भागी नही होते, पर आर्य को दास नही बनाया जा सकता।[२] मनु भी कहते हैं कि दास बनाने के लिए शूद्रो का क्रय करना चाहिए।[३] बौद्ध पालि-साहित्य मे तो दासो के जीवन से सम्बद्ध सामग्री की प्रचुरता है। प्राचीन भारत मे दास-प्रथा थी तो अवश्य, परन्तु इस देश के समाज में दासो की वैसी दुरवस्था नही थी जैसी प्राचीन यूनान तथा रोम मे अथवा अठारहवी और उन्नीसवी सदी मे अमेरिका मे थी। जहाँ इन पाश्चात्य देशो मे दास-स्वामी अपने दासों के साथ क्रूरतम व्यवहार करते थे, वहाँ भारतवर्ष मे किसी बाह्य पर्यवेक्षक को पारिवारिक भृत्यो तथा दासो मे विभेद करना सभव न हो सका। यही कारण है कि मेगास्थनीज ने अपने भारत-विवरण मे दासो के अस्तित्व तक का उल्लेख नही किया है।

पालि-पिटक तथा समकालीन संस्कृत-साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दासो के क्रय-विक्रय तथा दान सामान्य बातें थी। राजकुल , धनाढ्य नागरिक परिवार तथा सामान्य ग्रामीण गृह मे समान रूप से दास-दासी रखे जाते थे। हमे दास-दासी क्रय-विक्रय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नन्द-जातक (जातक स० ३९) मे एक सद्धिविहारिक (बौद्ध विहार का अन्तेवासी) की तुलना शत-मुद्रा-क्रीत दास से की गयी है। सत्तुभस्त-जातक (संख्या-४०२) के अनुसार जब एक ब्राह्मण ने भिक्षा माँग कर सात सौ कार्षापण उपार्जित कर लिया, तो उसने सोचा—'इतनी मुद्राओ से दास-दासियाँ खरीदी जा सकती हैं,' परन्तु इस प्रसंग में दास-दासियो की संख्या का उल्लेख न होने से एक दास अथवा दासी के निश्चित मूल्य का पता नही चलता। अत: इस

सम्बन्ध मे किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने मे कठिनाई हो जाती है। जैसा कि नन्द-जातक मे उल्लेख मिलता है, सम्भवत एक दास का मूल्य लगभग एक सौ कार्षापण रहा होगा, यद्यपि इसमे सकारण कमी-बेशी होती रहती होगी। हृष्ट-पुष्ट दास का मूल्य दुर्बल शरीरवाले की अपेक्षा कुछ अधिक पडता होगा। इसी प्रकार एक सामान्य रूप-रग वाली दासी की तुलना मे रूपवती दासी का मूल्य भी अधिक चुकाया जाता होगा। विक्रयी और क्रेता की आवश्यकताओ अथवा परिस्थितियो का प्रभाव भी दास-दासी के मूल्य-निर्धारण मे पडना स्वाभाविक था।

दास-दासी क्रय के समान दास-दासी का दान भी समाज मे अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा। वैदिक युग के राजे अपने पुरोहितो को यज्ञ एव राज्याभिषेक समारोहो के समय बडी सख्या मे दास-दासी प्रदान करते थे। महाभारत काल मे महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ मे नियुक्त ८८,००० ब्राह्मण स्नातको को ३०-३० दासियो का दान दिया।[४] पालि-पिटक मे भी दास-दासी दान के अनेक उदाहरण मिलते है। इस प्रथा के प्रचलन के कारण ही भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ के लिए दान मे दास अथवा दासी स्वीकार करने का निषेध किया। जुण्ह-जातक (४५६) के अनुसार एक राजा से एक ब्राह्मण को अन्य सामग्री के साथ एक सौ दासियो का दान प्राप्त हुआ।[५] क्षत्रप उषवदात के नासिक अभिलेख मे क्षत्रप नरेश नहपान द्वारा ब्राह्मणो को दान मे कन्या-प्रदान करने का उल्लेख किया गया है। जो कन्याएँ दान मे दी गईं वे अवश्य ही दासियाँ रही होगी। राज-परिवारो मे दास-दासी दान की प्रथा किसी-न-किसी रूप में आधुनिक युग तक चलती रही, पर अब इसका लोप हो चुका है।

दासता के कारण तथा दास-स्वामियों का व्यवहार— पालि-पिटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति मे अनेक प्रकार के दासो का वर्णन उपलब्ध है, जिनसे भारतीय समाज मे इस प्रथा के उद्भव एव विकास के कारणो का अनुमान लगाया जा सकता है। पालि-त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासो का उल्लेख किया गया है[६] और उनकी सख्या अर्थशास्त्र में पाँच[७] तथा मनुस्मृति[८] में सात है। दासो के इस वर्गीकरण के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि युद्ध, धनाभाव, दुर्भिक्ष तथा ऋण-ग्रस्तता दास-प्रथा के उद्भव के मूल कारण हुए। समाज में दासो के अस्तित्व का सर्वप्रथम कारण हुआ—युद्ध। जब युद्ध मे एक पक्ष की विजय और दूसरे का पराभव

होता था, तो विजयी दल के सैनिक पराजित पक्ष के सैनिकों तथा आक्रांत राज्य के नागरिकों को यथासाध्य बन्दी बना कर ले जाते थे। वस्तुतः इन युद्धबन्दियों का जीवन विजयी राजा की दया पर निर्भर करता। इन्हे जो जीवनदान मिलता वह अपनी स्वतन्त्रता खोकर, क्योंकि ये विजयी राजा के दास बनकर ही जी पाते थे। इस श्रेणी के दासो को मनु ने ध्वजाहृत की सज्ञा दी है। युद्धबन्दियो मे कुछ तो बेच दिये जाने लगे और अन्य दान में दिये जाने लगे। इन दोनो प्रकार के दासो का वर्णन मिलता है। कई अवस्थाओ में तो दासत्व स्वेच्छया स्वीकार किया जाता था—जब किसी परिवार की आर्थिक स्थिति अत्यन्त विषम हो जाती तो गृहस्वामी अपनी पत्नी और सन्तान या स्वय को बन्धक रखते थे। बहुत का यही हाल दुर्भिक्ष के दिनो में होता था जब बुभुक्षित लोगो को दास बनने के लिए बाध्य होना पडता। ऋण के बोझ से दबे व्यक्ति भी ऋणमुक्त होने के लिए दासत्व का सहारा लेते थे। इस स्थिति मे वे या तो जिस व्यक्ति का उनपर ऋण होता, उसका दासत्व ऋणमुक्त होने की अवधि तक के लिए स्वीकार करते, अथवा स्वयं किसी परिवार मे बन्धक रहकर महाजन का कर्ज चुकाते। एक वर्ग उन दासो का था जो जन्मदास कहे जाते थे और माता-पिता के दास होने से उन्हे भी दास होना पडता था। इससे प्रतीत होता है कि पराधीन माता-पिता की सन्तान को स्वतन्त्र नागरिकता का अधिकार नही था। कभी-कभी अपराध-कर्मियो को उनके अपराधो के दण्डस्वरूप दास बना दिया जाता था।

दास संज्ञा पराधीनता का द्योतक है और पराधीन व्यक्ति के भाग्य मे सुख कहाँ ? दासो के सुख-दुख के विधाता तो उनके स्वामी थे, जो अपने उग्र अथवा मृदु स्वभाव के अनुसार अपने अधीनस्थ दासो के प्रति व्यवहार करते होगे। पालि-पिटक में वर्णन आता है कि कुछ दासपति तो अपने दासो की त्रुटियों के लिए उन्हे दण्डित करते थे और अन्य कुछ उनके प्रति दया-भाव दिखलाते थे। जिन दासपतियो का स्वभाव क्रूर था वे अपने दासो को पीडा पहुँचाते थे। कटाहक-जातक का एक दास भाग्यवश अपने स्वामी का भाडागारिक तो हो गया, पर उसे सदा इस बात का भय बना रहता था कि न जाने किस क्षण भाग्य उसका साथ छोड दे। वह अपने मन मे सोचा करता— 'क्या ये मुझे सदा भाडागारिक बना कर रखेगे ? किसी-न-किसी दिन इन्हे मुझमें कोई त्रुटि दिखलायी पडेगी तो मार पडेगी, मै बन्दी बना दिया जाऊँगा, मेरे शरीर को

दागा जायगा और मुझे दासो का भोजन खाने के लिए दिया जाने लगेगा।'[९] दूसरी कहानी है एक दासी की जिसे उसके स्वामी मजदूरी करने के लिए भेजते थे। एक दिन दुर्भाग्यवश वह कमाकर कुछ न ला सकी। फिर क्या था! उसे घर से बाहर फेंक दिया गया और उसके स्वामी तथा स्वामिनी दोनो ने उसे कोड़े लगाये।[१०] मनु ने भी स्वामियो को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे अपराध करने पर अपने दासो को रज्जु-प्रहार से दण्डित करे,[११] परन्तु समाज मे ऐसे भी व्यक्ति थे जो अकारण दासो को पीडा पहुँचाते थे। अगुत्तर-निकाय में वर्णन मिलता है कि क्रूर दास-स्वामी के दास जब कार्यरत रहते, तो दण्ड के भय से उनके मुख अश्रुपूर्ण होते और कई तो रुदन भी करते रहते।[१२] तक्क-जातक (६३) मे वाराणसी की एक श्रेष्ठी-कन्या का वर्णन मिलता है जो अत्यन्त क्रूर थी और अकारण अपने दासो तथा कर्मकरो को मारती रहती। वेस्सन्तर-जातक मे एक क्रूर ब्राह्मण द्वारा दास-दासी को कष्ट देने का मार्मिक वर्णन किया गया है—'एक ब्राह्मण को राजा वेस्सन्तर ने अपने पुत्र एव पुत्री को दान में दे दिया। वह लोभी ब्राह्मण उन दोनो के हाथ लता से बाँधकर और उसका एक छोर स्वय पकडकर उन्हे खीचता हुआ ले चला। उसने एक हाथ मे डडा भी पकड रखा था। उसे लम्बा मार्ग तय करना था, अतः जब रात्रि का आगमन हो जाता, तो वह उन दोनो बच्चो को पौधो से बाध देता और स्वय वन-जन्तुओ के भय से किसी पेड पर चढ जाता।'[१३] इस प्रकार के वर्णन मे कितनी सत्यता है यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, क्योकि बौद्ध लेखको ने ब्राह्मणो को बदनाम करने के लिए शायद उनके सामान्य दोष को भी अतिरजित कर दिया है।

जातक कथाओ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज मे क्रूर दासपतियो का सर्वथा अभाव तो नही था, परन्तु उनकी सख्या कम थी। दासो के विषय मे उपलब्ध सामग्री से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सामान्यतया दासो का जीवन दुखमय नही था। धर्मप्रधान कुलों में दास तथा कर्मकर सुख-पूर्वक रहते थे— उनके साथ सद्व्यवहार किया जाता था और उन्हे भोजन भी अच्छा मिलता था। किसी-किसी दास को तो अपने स्वामी के परिवार के सदस्य की ही भाँति कई सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती थी। कटाहक था तो दासपुत्र ही, परन्तु अपने स्वामि-पुत्र के साथ रहकर उसने पढना-लिखना सीखा और उसे दो-तीन शिल्पो का

भी ज्ञान हो गया। अन्त में उसे उस परिवार का भाडागारिक बना दिया गया।"[१४] जब एक राज-पुरोहित को राजा ने वरदान दिया तो उसने घर जाकर अपनी पत्नी, पुत्र और दासी से पूछा— 'राजा ने मुझे वर दिया है, मैं क्या माँगू ?' दासी ने कहा—'मेरे लिए ऊखल, मूसल और सूप माँगना।'[१५] जब एक ब्राह्मण कुमार की मृत्यु हो गयी और उसके पार्थिव शरीर का अग्नि-सस्कार किया जाने लगा तो उस परिवार की दासी के शुष्क नेत्रो को देखकर एक व्यक्ति ने कहा—'नि सन्देह तुम्हारे स्वामी के पुत्र ने तुम्हे अपवचन कहा होगा, मारा होगा, कष्ट दिया होगा, इसी कारण तुम प्रसन्न हो, तुम्हें रुलाई नही आ रही है।' उस दासी ने उत्तर दिया— 'स्वामी, आप ऐसे वचन न बोलें, मेरे साथ इस प्रकार की बाते नही हुई हैं, मेरे स्वामी के पुत्र के हृदय में तो मेरे लिए क्षमा, प्रेम और दया की भावनाएँ थी और व मेरे लिए उसी प्रकार थे जिस प्रकार कोई पुत्र माँ का स्तनपान कर पलता है।"[१६] नन्द-जातक में नन्द नामक दास का वर्णन अपने स्वामी के अनन्य विश्वासपात्र के रूप में किया गया है। इस प्रकार के वर्णनो से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकाश दास-स्वामी अपने दासो के प्रति मानवोचित व्यवहार करते थे। प्राचीन भारत के विधि-निर्माताओ ने भी दासो के हितो की उपेक्षा नही की। कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि दासो के प्रति दुर्व्यवहार अपराध माना जायगा— 'यदि कोई स्वामी अपने दास को मारता है, अथवा उससे निम्नस्तर का काम लेता है, तो उसे अपने दास के क्रय-मूल्य से वचित कर दिया जायगा। यदि कोई स्वामी दासी-कन्या अथवा बन्धक में दी गयी लडकी के साथ बलात्कार करता है, तो उसे न केवल क्रय-मूल्य से ही वचित होना पडेगा वरन् दण्डस्वरूप शुल्क भी देना होगा।'[१७]

बौद्ध-जातको मे गृहस्वामी के युवा-पुत्रो और उनकी युवती दासियो के प्रेम-सम्बन्धो के बर्णन भी मिलते है। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के प्रेम की इति किस तरह होती होगी ? इस विषय मे कौटिल्य का यह मत है कि यदि किसी दासीपुत्री को अपने स्वामी से गर्भ रह जाय तो उस अवस्था मे वह अपनी दासता से मुक्त मानी जायगी।[१८] इस विधान से प्रतीत होता है कि सभवत. दासीकन्या अपने स्वामी की पत्नी बन जाती होगी। जातक कथाओ से इस अनुमान का समर्थन होता है। तिस्सकुमार राजगृह के एक धनाढ्य श्रेष्ठि के एकमात्र पुत्र थे। जब वे प्रव्रजित होकर भिक्षुसघ मे प्रविष्ट हुए, तो उनके माता-पिता को घोर कष्ट हुआ। उस परिवार की एक दासीकन्या

ने श्रेष्ठि-दपति के कष्ट से द्रवित होकर तिस्सकुमार को सन्यासमार्ग से विरत करने का निश्चय किया। श्रेष्ठिपुत्र उस दासीकन्या के रूप-लावण्य पर विमोहित हो गया और उसने भिक्षु-जीवन का परित्याग कर किया।[१९] भिक्षु-सघ का त्याग करने के पश्चात् श्रेष्ठिपुत्र का अपनी दासीकन्या से क्या सम्बन्ध रह गया इस विषय मे कहानीकार मौन है, पर श्रेष्ठिपुत्र को अपनी दासी-कन्या मे अनुरक्ति के कारण ही सन्यास से विरक्ति हुई, अतः उनके प्रेम की तर्कसगत परिणति दाम्पत्य मे दीखती है। उद्दालक-जातक मे भी एक राज पुरोहित के दासी-प्रेम का वर्णन है। राज-पुरोहित को अपनी प्रेमिका दासी-कन्या से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम उद्दालक रखा गया। जब वह वयस्क हुआ और बडा ज्ञानी तथा तपस्वी हो गया, तो उसकी भेंट अपने पिता से हुई। पिता ने अपने पुत्र का परिचय पाकर कहा— 'तुम ब्राह्मण हो इसमे कुछ भी सदेह नही है।' इस वर्णन से यह सकेत मिलता है कि दासीपुत्रो को अपने पिता की जाति की सदस्यता मिल जाती होगी। कोशल-नरेश का विवाह वासभखत्तिया से हुआ था जो शाक्यवंशी महानाम क्षत्रिय की एक दासीपुत्री थी।[२०] यद्यपि यह सम्बन्ध कष्टपूर्वक सपन्न किया गया था, परन्तु वासभ-खत्तिया के पुत्र को कोशल का युवराजत्व प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध मे भगवान् बुद्ध ने भी कहा कि पितृ-कुल को ही प्रधानता देनी चाहिए (मातिगोत किं करिस्सति पिति गोत्तमेव पमानम्)

जातको ने उच्चवर्ण की कन्याओ के साथ कुछ दासो के प्रेम का भी वर्णन किया है। चुल्लक-सेट्ठि-जातक (४) के अनुसार राजगृह के एक श्रेष्ठि की कन्या को अपने दास से प्रेम हो गया। इस भेद के खुल जाने के भय से श्रेष्ठिकन्या अपने प्रेमी के साथ भाग गयी। उस दास से उसे दो पुत्र हुए। जब प्रथम पुत्र कुछ बडा हुआ तो उसको अपने सम्बन्धियों के विषय मे जिज्ञासा हुई। उसने अपनी माता से इस सम्बन्ध मे पूछा तो उसने उत्तर दिया—'पुत्र, तुम एक बडे श्रेष्ठि के दौहित्र हो।' जब पुत्र ने अपने नाना के घर जाने का जिद्द की तो उसके माता-पिता राजगृह गये। परन्तु न तो पुत्री को पिता के सम्मुख जाने का साहस हुआ और न पिता को ही पुत्री को देखने की इच्छा हुई। अन्त मे श्रेष्ठि ने अपने दौहित्रो को तो रख लिया, किन्तु पुत्री और जामाता को पर्याप्त धन देकर विदा कर दिया। वस्तुत समाज के लिए यह असह्य था कि उच्च-वर्ण की कन्या निम्न-वर्ग के किसी युवक से प्रेम या विवाह कर

बैठे। इस प्रकार के किसी भी सम्बन्ध को प्रोत्साहन नही दिया गया, परन्तु यदि उच्च-वर्ण की कन्या किसी दास अथवा निम्नजाति के युवक से प्रेम कर बैठती तो उस सम्बन्ध को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पडता था। इस विषय मे दासो की अपेक्षा दासियो की स्थिति अधिक अच्छी थी, क्योकि यदि वे सुन्दरी होती तो उन पर उनके युवा स्वामियो के प्रेमासक्त होने की अत्यधिक सभावना रहती थी।

दासों के काम—जिस प्रकार के कर्मों मे दासो को नियुक्त किया जाता था उन कर्मों की प्रकृति के अनुरूप सज्ञाओ का उपयोग उन दासो के लिए बौद्ध लेखको ने किया है, जैसे—जो दास खेत, कर्मशाला अथवा दुकान मे काम करते थे उनको कम्मन्तदास कहा गया;[२१] जो वस्त्र बुनने और धोने का कर्म करते थे वे क्रमशः पेशकरदास और रजकदास कहलाये।[२२] इसी प्रकार दासियो के लिए नारी-दासी, देवदासी, कुम्भदासी, वन्नदासी, वीहिकोट्टिकदासी इत्यादि सज्ञाएँ मिलती हैं।[२३] इस तरह प्रतीत होता है कि दासो से अनेक प्रकार के काम लिये जाते थे और उन दासो की सख्या न्यून थी जो कटाहक के समान भाडागारिक या कोषाध्यक्ष अथवा अपने स्वामी के निजी सचिव के पदो पर नियुक्त किये जाते थे। अधिकाश दास प्रायः गृहकार्यों मे लगाये जाते थे जो प्रत्येक परिवार की आर्थिक एव सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। राजकुलो मे अथवा धनाढ्य श्रेष्ठिकुलो मे नियुक्त तथा सामान्य गृहपतियो के घर काम करनेवाले दासो के कार्य समान नही हो सकते थे। दासो मे प्राय दो प्रकार के कर्म कराये जाते थे— एक तो गृहकार्य था और दूसरा, अपने स्वामी की सेवा। पालि-पिटको मे दास-दासियो को अनेक प्रकार के गृह-कार्यों मे सलग्न वर्णित किया गया है, जैसे—रसोइये का काम (पाचक-कर्म)[२४], जलाशय से जल लाना,[२५] बर्तन धोना,[२६] अन्नागार की रखवाली करना और धूप मे धान सुखाना[२७] इत्यादि। कृषको की दासियाँ अपने स्वामी के लिए खेत मे भोजन पहुँचाती थी।[२८] किसी-किसी परिवार मे दास-दासी को मज-दूरी करने के लिए अन्यत्र भेजा जाता था।[२९] स्वामी-स्वामिनी सेवा-सम्बन्धी कई कार्यों का भी उल्लेख मिलता है। धनी परिवारो की गृहस्वामिनियाँ जब स्नान के लिए जलाशय की ओर प्रस्थान करती, तो दासियाँ उनका साथ देती। जब वे जलाशय मे प्रवेश करती, तो दासियाँ उनके वस्त्राभूषणो की रखवाली करती।[३०] गृहस्वामी अथवा गृहस्वामिनी के भोजन करते समय तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक कार्य भी दास-दासियो द्वारा ही संपन्न किये जाते।[३१] इस प्रकार के कर्म ऐसे नही थे जिन्हे हीन कहा जाय। कौटिल्य ने दास-दासियो से गर्हित

कर्म कराने का निषेध किया है। उन्होने दास-दासियो से मुर्दा ढोने, मल-मूत्र साफ कराने, उच्छिष्ट भोजन की सफाई और नग्नस्नान के समय दासी से काम लेने आदि का निषेध किया है।[३२] कौटिल्य की इस व्यवस्था से तत्कालीन सामाजिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

दास-मोक्ष—जो युद्धबदी दास बना दिये जाते थे उनका अपने पक्ष की विजय हो जाने पर स्वतन्त्रता प्राप्त करना स्वाभाविक था। परन्तु ऐसा तो विशेष परिस्थिति-वश ही सभव था। युद्ध तो नित्य होते नही। दासो के क्रय-विक्रयादि जब सामान्य रूप मे समाज मे प्रचलित हो गये उस स्थिति मे उनके मोक्ष की बात विचित्र लगती है। पर यह भारतीय समाज की अपनी विशेषता रही है जिससे अततः दासो का दासत्व समाप्त कर दिया जाता था। पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि दास द्वारा सन्यास स्वीकार कर लेने से, अथवा अपने स्वामी की इच्छा से, अथवा अपने स्वामी को मुक्ति-शुल्क चुका देने से दासत्व का अन्त हो जाता। दीर्घ-निकाय मे कहा गया है कि यदि कोई दास सन्यासी हो जाता है तो वह अभिवादन और उच्चासन तथा भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ, यथा—चीवर, पिण्ड-पात्र, आसन आदि का अधिकारी माना जायगा।[३३] सोणनन्द-जातक (५३२) मे वर्णित है कि एक ब्राह्मण गृहपति ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय अपने सभी दासो को मुक्त कर दिया। वेस्सन्तर-जातक की कहानी के अनुसार शुल्क देकर दासत्व का अन्त सम्भव था। राजा वेस्सन्तर ने जब अपनी सन्तान दान के रूप मे एक ब्राह्मण को दे दी तो अपने पुत्र से कहा—'पुत्र, जाओ तुम अपनी मुक्ति के लिए इस ब्राह्मण को शत स्वर्ण निष्क देना और यदि तुम अपनी भगिनी को भी मुक्त करना चाहोगे तो उसके लिए ब्राह्मण को दास-दासी, हाथी, घोडे, बैल और स्वर्ण निष्क सौ-सौ की सख्या मे देना।'[३४] दासो की मुक्ति के सम्बन्ध मे कौटिल्य के अर्थशास्त्र से निश्चित बातें ज्ञात होती हैं। कौटिल्य के अनुसार जो दास दड-स्वरूप अथवा युद्धबन्दी होने के कारण दास बनाये जाते थे वे शुल्क देकर मुक्त हो सकते थे। क्रीतदास को उतना ही शुल्क देना पडता था जितने मे उसके स्वामी ने उसे क्रय किया हो। यदि किसी को अर्थदड चुकाने की असफलता के कारण दास बनना पडता, तो अर्थदड की राशि का भुगतान कर देने पर उसे मुक्ति मिल जाती। यदि दास-स्वामी मुक्ति-शुल्क पाकर भी किसी दास को मुक्त नही करता था तो उसे द्वादशपण दड का भागी माना जाता था। यदि दासी को अपने स्वामी से सन्तान-लाभ हो जाता तो माता और सन्तान दोनो स्वतन्त्र माने जाते।'[३५] मज्झिम-निकाय के रट्ठपाल-सुत्त से ज्ञात होता है कि

अपने स्वामी को कोई सुखद सवाद देने से भी कभी-कभी दास को पुरस्कार-स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था।[१६] दासो को मुक्त करने की प्रथा का उल्लेख नारद-स्मृति[१७] मे भी मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में दास-मोक्ष की परम्परा लम्बी अवधि तक प्रचलित रही।

४

विवाह

हिन्दू-समाज मे अति प्राचीन काल से विवाह को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अग माना गया है। ऋग्वेद-कालीन समाज ने गार्हस्थ्य, यज्ञ तथा प्रजोत्पादन के लिए विवाह की अनिवार्यता को अगीकार किया।[१] शतपथ-ब्राह्मण मे नारी का वर्णन पुरुष की अर्धांगिणी के रूप मे करते हुए कहा गया है, कि जबतक पुरुष विवाहित नही हो जाता और न प्रजोत्पादन ही करता है, तबतक वह वस्तुत अपूर्ण रहता है।[२] विवाहोपरान्त ही वह सच्चे अर्थ मे पूर्णत्व को प्राप्त करता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् मे विवाह की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की गयी है— 'आरम्भ मे पुरुष एक था। पश्चात् उसने अपने को दो भागो मे विभाजित किया। इस प्रकार नर-नारी की सृष्टि का प्रारम्भ हुआ'।[३] पत्नी को अर्धांगिणी-पद पर प्रतिष्ठित करने के कारण ही पत्नी के अभाव मे पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नही दिया गया। प्राचीन हिन्दू-परिवार मे पुत्र का स्थान बडा महत्त्वपूर्ण था, इस कारण भी पत्नी-पद की अत्यधिक गरिमा रही। ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि पति अपनी पत्नी के गर्भ मे प्रवेश कर पुनः पुत्र-रूप मे जन्म पाता है।[४] इस प्रकार धर्म और समाज दोनो ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह को अनिवार्य बनाया। पालि-पिटको मे भी इसी प्रकार के विचारो की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। परन्तु पुरुष की अपेक्षा नारी के लिए विवाह की अनिवार्यता पर अधिक बल दिया गया है और इस सम्बन्ध मे उपलब्ध प्रसगो से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे अविवाहित स्त्रियो के प्रति अश्रद्धा की भावना थी। अंगुत्तर-निकाय मे कहा गया है कि पुरुष नारी का आच्छादन है, आश्रय है और वही उसका अलकरण है।[५] एक जातक कथा मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि नारी के शरीर का वास्तविक आच्छादन तो उसका पति ही है, जिसके अभाव मे बहुमूल्य वस्त्र धारण करने पर भी वह अपने को निर्वस्त्र ही समझे।[६]

एकपत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व—हिन्दू-परिवार आदि-काल से पितृ-प्रधान रहा, अत. पुत्र-वृद्धि हेतु बहुपत्नीत्व को समाज में मान्यता मिली। पालि-पिटक मे बहु-

विवाह के अनेक उदाहरण मिलते है । मज्झिम-निकाय के रट्ठपाल-सुत्त में एक ब्राह्मण गृहपति के पुत्र रट्ठपाल की अनेक भार्याओ का उल्लेख किया गया है । अगुत्तर-निकाय में चार सुन्दरी पत्नियो वाले एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ का वर्णन मिलता है।[७] थेरीगाथा में थेरी इसिदासी के पूर्वजन्म की कथा के प्रसंग मे उल्लेख मिलता है कि उसका विवाह एक श्रेष्ठिपुत्र से हुआ । उस श्रेष्ठिपुत्र की पहले से ही एक भार्या थी जो शीलवती, गुणवती तथा यशवती थी ।[८] एक जातक मे ऐसे ब्राह्मण की कहानी मिलती है जिसने अपनी चार पुत्रियो का विवाह एक गुणवान् पुरुष से कर दिया ।[९] कहानियो की सत्यता पर अविश्वास करना स्वाभाविक है, परन्तु पारस्कर-गृह्यसूत्र में ब्राह्मण को चार, क्षत्रिय को तीन और वैश्य को दो पत्नियाँ रखने की अनुमति प्रदान की गयी है ।[१०] आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र में ऐसे मंत्र भी बतलाये गये है जिनका प्रयोग सौत को वशीभूत करने के लिए किया जाता था ।[११]

ऊपर के उद्धरणो से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि समाज में बहुपत्नीत्व मान्य था, किन्तु यह कहना कठिन है कि कितने प्रतिशत पुरुष एकाधिक विवाह करते थे । आपस्तम्ब उस समय तक पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार नही देते है जबतक उसकी प्रथम भार्या धर्मकार्य मे अपने पति का साथ देने तथा प्रजोत्पादन मे समर्थ रहती है । उनके मत मे जब प्रथम भार्या धर्मकार्य मे अपने पति का साथ देने योग्य न रह जाय अथवा बाँझ हो जाय तभी पुरुष को पुनर्विवाह करना चाहिए ।[१२] हिन्दू-धर्म मे पितृऋण की कल्पना की गयी है जिसके अनुसार जबतक पुत्रलाभ नही होना, मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता है । ज्यो-ज्यो यह धारणा प्रबल होती गयी, त्यो-त्यो पुत्र का महत्त्व बढता गया और पुत्र के अभाव मे पुनर्विवाह भी आवश्यक होता गया । परन्तु वस्तुतः यह हिन्दू-समाज का आदर्श नही माना गया है । दम्पती शब्द से एक पति और एक पत्नी की जोडी का बोध होता है । धर्मशास्त्र-रचयिताओ ने जो व्यवस्था दी है वह बहुपत्नीत्व का समर्थन करना नही है । उन्होने तो अवस्था-विशेष मे बहुपत्नीकता को मान्यता प्रदान किया— अर्थात् जब पत्नी चिर-रूग्नना के कारण धर्मकार्य मे असमर्थ हो जाय अथवा बाँझ हो जाय तो पुरुष को अपना पुनर्विवाह करना चाहिए, परन्तु न तो अधिकाश पत्नियाँ चिर-रूग्णता को प्राप्त करती होगी और न बाँझपन को ही । यह भी ध्यान देने की बात है कि दाम्पत्य सम्बन्ध के मूल मे पारस्परिक प्रेमासक्ति की प्रधानता रहती है जिसके कारण प्रायः पति पुनर्विवाह से विरत होते रहे हैं । इसके साथ ही परिवार की आर्थिक परिस्थिति पर भी बहुत-कुछ निर्भर करता है । एकाधिक

पत्नियाँ वही व्यक्ति रख सकता है जिसमे उनके भरण-पोषण का सामर्थ्य हो।

उपलब्ध प्रमाणो से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुपत्नीकता का प्रचलन मुख्यत समाज के राजन्य वर्ग तथा अभिजात कुलो मे ही सीमित रहा। राजाओ के अन्त पुरो मे सुन्दरियो का सदा जमघट रहता था। कभी युद्ध में विजश्री प्राप्त करने के कारण, तो कभी उपहार मे, तो कभी स्वयवर मे उन्हे राजकन्याओ को उपलब्ध करने का सौभाग्य मिलता रहा। महाभारत का कथन है कि राजाओ को बहुपत्नीकता से कोई अधर्म नही होता।[१३] राजाओ मे तो यदा-कदा ही मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सदृश एक पत्नीव्रती का उदाहरण मिलता है। जातको मे जिन राजाओ का उल्लेख है उनमे एकमात्र सुरुचि ही एक पत्नीव्रती हैं, शेष बहुपत्नीचारी हैं। जातको मे कही तो राजाओ के सैकडो रानियो का उल्लेख मिलता है,[१४] तो कही इस विचार की अभिव्यक्ति मिलती है कि सौत का होना स्त्री के लिए अभिशाप है।[१५] बुद्ध के समकालीन सभी राजाओ की अनेक पत्नियाँ थी—बिंबिसार, प्रसेनजित्, उदयन, अजातशत्रु, सभी बहुपत्नीचारी थे। अत राजाओ की बहुपत्नीकता मे सन्देह की बात ही नही रह जाती है। जो नागरिक धनाढ्य थे उनके एकाधिक विवाह करने की सम्भावना को भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि विवाह-सम्बन्ध-निर्धारण मे मध्यस्थता तथा पारस्परिक वार्ता का आश्रय लिया जाता था, जिसका उपक्रम होता था वर के अभिभावक द्वारा। वर के माता-पिता अपने पुत्र के लिए उपयुक्त कन्या की तलाश मे अपने आदमियो को भेजा करते थे।[१६] इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि वर स्वय कन्या को पसद करता। कई माता-पिता इस लिए चिंतित रहा करते कि उनकी प्राप्तयौवना कन्या किसी भी वर को पसद नही आती।[१७] इस बात का भी पता चलता है कि विवाह-योग्य कन्या के एकाधिक प्रणयी होने पर सफलता उसी को प्राप्त होती थी जिसके पक्ष मे कन्या के पिता का निर्णय होता। अनोपम के अनेक प्रणयी थे जो मूल्यवान् उपहार लेकर उसके पास जाते और उसके पिता के पास अपने दूतो को भेजते थे।[१८] एक ब्राह्मण की चार कन्याएँ थी और चारो के एक-एक प्रणयी थे।[१९] सामाजिक परम्परा के अनुसार वर वधू के अभिभावको द्वारा विवाह-सम्बन्ध के उपक्रम किये जाते थे, परन्तु वयस्क वर-वधू की आकाक्षाओ तथा अभिरुचियो को ध्यान मे रखना आवश्यक हो जाता होगा। यदि ऐसा नही होता तो जातको मे युवतियो के प्रणयियो के उल्लेख नही मिलते।

जाति, कुल तथा गोत्र विचार—बुद्ध-काल मे जातिगत भावनाएँ प्रबल हो गयी थी, अतः सामान्यतया यह पसंद नही किया जाता था कि अंतर्जातीय विवाह-सम्बन्धो के कारण किसी कुल का रक्त-दूषण हो। कुल की पवित्रता की रक्षा के विचार से सजातीय विवाह को सर्वोत्तम माना गया और अतर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन नही दिया गया। समाज का वातावरण जातीय मिश्रण के विरुद्ध था और शास्त्रकार अंतर्जातीय विवाहो को निरुत्साहित करने के लिए चेष्ठावान् रहे। बौद्ध-पिटक मे वर्णित विवाहों मे सम्बद्ध पक्षो को सदा समान जाति तथा कुल का बतलाया गया है—ब्राह्मण,[२०] क्षत्रिय,[२१] श्रेष्ठि,[२२] भांडागारिक[२३] आदि अपनी संतान के विवाह स्वजाति के अंतर्गत समान सामाजिक प्रतिष्ठा एव आर्थिक स्थिति के कुलो मे सपन्न करते थे। जब वे अपने पुत्र के लिए कन्या की खोज मे दूत भेजते तो उनसे कहा करते— सजातीय और समान कुल की कुमारी का चयन करना।[२४] इस विचार का समर्थन धर्मशास्त्र से भी होता है, क्योकि वे सजातीय कन्या के पाणिग्रहण की व्यवस्था देते हैं।[२५]

वर-वधू का सजातीय होना ही पर्याप्त नही माना जाता था, अपितु दोनों पक्ष एक दूसरे के कुल का भी ध्यान रखते थे। जातक कथाओ में जहाँ कही भी विवाह का वर्णन मिलता है, सर्वत्र जाति और कुल का एक साथ उल्लेख किया गया है।[२६] वर-पक्ष का सदा यह प्रयत्न रहता था कि कन्या कुलवती हो। धर्मशास्त्र की यह व्यवस्था है कि विवाह-वार्ता के समय सम्बद्ध पक्षो के मातृ-पितृ-कुल की परीक्षा होनी चाहिए—यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मातृ अथवा पितृ—किसी भी कुल मे कोई दोष या कलक तो नही है।[२७] मनु का कथन है कि विवाह-सम्बन्ध सदैव उत्तम कुलो मे किये जाने चाहिए जिससे कुल का उत्कर्ष होता रहे,[२८] परन्तु इस विषय में उनके विचार रूढ नही हैं, क्योकि वे यह भी कहते हैं कि यदि निम्न-कुलोत्पन्ना वधू कन्यारत्न हो, तो उस दशा मे कुल की उपेक्षा की जा सकती है।[२९] समाज का एक वर्ग इस विचारधारा का पोषक अवश्य रहा होगा कि किसी भी जाति की रूप-गुण-सम्पन्न कन्या से विवाह करने मे कोई दोष नही है, तभी मनु ने इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं, और जातको मे भी कतिपय ऐसे विवाह-सम्बन्धो के उल्लेख मिलते हैं जिनमे कन्या के कुल पर ध्यान नही दिया गया।

हमे यह नही भूलना चाहिए कि सामान्यतया विशेष परिस्थितियो मे ही कुल की उपेक्षा की जाती थी। जाति तथा कुल की उपेक्षा की सभावनाएँ

प्राय: समाज के अभिजात वर्ग मे थी और इस वर्ग मे यदा-कदा अन्तर्जातीय विवाह सपन्न होने के उल्लेख जातको मे मिलते हैं। इन अन्तर्जातीय विवाहो मे वर तो उच्चकुल का होता था और कन्या निम्नकुल की। यह प्रथा धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुरूप थी, क्योकि धर्मशास्त्रकार प्रतिलोम-विवाह का तो निषेध करते है, पर वे अनुलोम-विवाह को मान्यता देते है। तदनुसार, ब्राह्मण का विवाह सभी वर्ण की कन्याओं से सभव है, क्षत्रिय ब्राह्मणी के अतिरिक्त सभी से विवाह करने का अधिकारी है, वैश्य स्वजाति की अथवा शूद्रा पत्नी प्राप्त कर सकता है और शूद्र मात्र शूद्रा से विवाह का अधिकारी है।[३०] परन्तु सभी वर्णों के लिए शूद्रा के साथ समन्त्र-विवाह का निषेध मिलता है। जातको मे धर्मशास्त्रानुमोदित अनुलोम-विवाह के उल्लेख मिलते हैं और कतिपय कथाओ मे यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिलोम-विवाह समाज मे अमान्य था। सेनापति अहिपारक ने एक श्रेष्ठिकन्या से विवाह किया।[३१] एक राजा एक शाक-विक्रयी की कन्या पर आसक्त हो गया और उसने उसे अपनी अर्धांगिनी बना लिया।[३२] इन विवाहो के मूल मे प्रेम था और इन प्रेम-विवाहो मे जाति पर विचार नही किया गया, परन्तु समाज ने ऐसे विवाहो को मान्यता नही दी जिसमे वर निम्न-वर्ण का होता और कन्या उच्च-वर्ण की। लिच्छवि-कन्यासक्त एक नापितपुत्र को उसके पिता ने कहा 'पुत्र, तुम हीन-जन्मा नापितपुत्र हो और अनुरक्त हो गये जाति-सम्पन्ना, क्षत्रिय-दुहिता लिच्छवि-कुमारी पर! यह तुम्हारे उपयुक्त नही है, मैं तुम्हारे लिए सजातीय तथा सगोत्र कन्या का प्रबध करूँगा।'[३३]

बौद्ध-युग मे विवाह के समय गोत्र-विचार किये जाने के भी उल्लेख मिलते है, परन्तु एक समय ऐसा भी था जब गोत्र का विवाह से कोई सम्बन्ध नही था। ऋग्वेद में गोत्र शब्द का प्रयोग गोशाला के अर्थ मे हुआ। कालान्तर मे गोत्र के अर्थ मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया और गोत्र तथा कुल के अर्थ अभिन्न हो गये। जब कोशलराज पसेनजित् ने अगुलिमाल के माता-पिता के सम्बन्ध मे अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उसने कहा—'महाराज, मेरे पिता तो गार्ग्यगोत्री थे और माता मैत्रायणी गोत्र की थी।'[३४] पालि-पिटक में कही तो गोत्र की भिन्नता नाम से बतलायी गयी है और कही जाति से,[३५] जिससे प्रतीत होता है कि गोत्र शब्द कुल-विशेष की वंश-परम्परा का बोधक बन गया। ब्राह्मण-ग्रथो मे ऐसे उल्लेख मिलते है जिनसे यह आभास मिलता है कि स्वकुल में विवाह निषिद्ध माना जाने लगा। पाणिनि के अष्टाध्यायी तथा पातंजल महाभाष्य में जिस प्रकार युगल गोत्रो के सयुक्त शब्दो के उल्लेख

मिलते हैं[३६] उनसे यही प्रतिभासित होता है कि समाज में सगोत्र विवाह को अमान्य समझा जाने लगा था। जातको के कुछ उद्धरणो से प्रतीत होता है कि बुद्ध-काल में गोत्र तथा विवाह के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। मज्झिम-निकाय के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी नारी से प्रेम करता, तो उसके लिए यह जानना हितकर था कि वह जिस युवती पर प्रेमासक्त है, वह क्षत्रिया है या ब्राह्मणी है या वैश्य है या शूद्रा है, वह अमुक गोत्र की है और उसका अमुक नाम है।[३७] कच्छप-जातक की एक गाथा से भी यही अर्थ झलकता है कि प्राय. असगोत्र विवाह को मान्यता मिलती थी।[३८] इस विषय में गौतम, बौधायन, आश्वलायन तथा पारस्कर के मौन से प्रतीत होता है कि सगोत्र विवाह उस हद तक अमान्य न हो पाया था जैसा कि उत्तर-कालीन समाज में हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धकालीन समाज मे एक वर्ग द्वारा तो सगोत्र विवाह का सक्रिय विरोध किया गया, पर दूसरा वर्ग इस विषय में मौन रहा।

प्राचीन काल के समाज मे कई ऐसी प्रथाएँ प्रचलित थी जो हमारी आज की सामाजिक मान्यताओ की कसौटी पर सर्वथा अग्राह्य सिद्ध होगी। इस कोटि की एक प्रथा थी—स्वभगिनी का पाणिग्रहण। इस प्रथा को प्राचीन मिस्र और ईरान में प्रश्रय मिला था। भारतीय समाज मे यह प्रथा कभी प्रचलित रही अथवा नही यह विषय विवादास्पद है। ऋग्वेद मे यम और यमी का आख्यान मिलता है, परन्तु इसे भ्राता एव भगिनी के विवाह का प्रभाव नही माना जा सकता। बौद्ध-ग्र थो मे वर्णन मिलता है कि शाक्यवशियो ने वश-रक्षा के लिए अपनी भगिनियो से विवाह किया,[३९] परन्तु यह आपत्कालीन व्यवस्था थी, कोई मान्य सामाजिक रिवाज नही। वस्तुत सर्वत्र सभ्यता का विकास क्रमिक रूप मे हुआ और भारत सदृश विशाल देश के किसी कोने मे यदि कभी इस तरह की प्रथा प्रचलित रही, तो इसमे न तो आश्चर्य ही होना चाहिए और न लज्जा। वैदिक युग मे ही ऐसे सम्बन्धो को निषिद्ध मान लिया गया था, फिर भी कतिपय जातको मे भाई-बहन विवाह के उदाहरण दिये गये है।[४०] परन्तु ये उदाहरण केवल राजकुलो के हैं और सम्बन्धित भाई-बहन न तो एक पिता की सतान है और न एक माता की। एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलता कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन मे विवाह हुआ हो। अतः इस विषय मे यही कहा जा सकता है कि सभ्य भारतीय समाज ने कभी इस प्रथा को प्रश्रय नही दिया।

प्राचीन भारत मे यदि भाई-बहन के रिश्ते मे विवाह करने की अनुमति

दी गयी तो मात्र मातुल-दुहिता के साथ। बौद्ध लेखक तथा ब्राह्मण धर्मशास्त्रकार दोनों मातुल-दुहिता का पाणिग्रहण करने की प्रथा का उल्लेख करते हैं। पालि-पिटक मे तो चचेरी बहन के साथ विवाह के भी कतिपय उदाहरण दिये गये हैं,[४१] जिनका धर्मशास्त्र मे उल्लेख न होने के कारण समाज के उच्च वर्ग मे इस प्रथा की अमान्यता प्रमाणित होती है। बौधायन[४२] के अनुसार मातुल-दुहिता से विवाह करने की प्रथा केवल दक्षिण भारत मे प्रचलित थी, पर पालि-ग्र थो से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत मे भी न्यूनाधिक रूप मे ऐसे विवाह सम्बन्ध होते थे। जातक कथाओ मे काशी तथा शिवि राज्य के राजकुमारो द्वारा अपनी भगिनियो के, जो उनकी मातुलदुहिताएँ थी, पाणिग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं।[४३] मगधराज अजातशत्रु का विवाह अपने मामा कोशलनरेश की पुत्री वाजिरा के सग हुआ था।[४४] भगवान् महावीर के अग्रज नन्दिवर्द्धन ने भी अपनी मातुल-दुहिता ज्येष्ठा के साथ विवाह किया था। राजकुल मे असामान्य सम्बन्धो का होना कोई अन-होनी बात नही मानी जाती रही है, परन्तु, जातक कथाओ[४५] मे जिस ढग से मातुल-दुहिता के सग विवाह के प्रसगो के उल्लेख मिलते है, उनसे प्रतीत होता है कि समाज के सामान्य कुलो मे भी इस प्रथा को हेय नही माना जाता था। धर्मशास्त्र तथा बौद्ध-पिटक के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि उत्तर भारत मे द्विजाति-वर्ग ने मातुल-दुहिता के साथ विवाह को गर्हित माना, परन्तु समाज के निम्नवर्ग ने इस कोटि के विवाह-सम्बन्धो को निषिद्ध नही समझा।

विवाहयोग्य वय--विवाह-सम्बन्ध सम्पन्न करने के प्रसग मे वर-वधू की उम्र पर विचार करना अनिवार्य माना जाता था। बुद्धकाल-पूर्व के साहित्य मे विवाह-सम्बन्धी जो प्रसग उपलब्ध हैं उनसे स्पष्ट सकेत मिलता है कि प्राय· पूर्ण यौवन-प्राप्त युवको तथा युवतियो के ही विवाह सम्पन्न हुआ करते थे। लगभग यही स्थिति बुद्धकाल मे भी रही। पालि-पिटक मे षोडषी कन्या का विवाह सर्वोत्तम माना गया है। थेरीगाथा के अनुसार इसिदासी का पूर्वजन्म मे सोलह वर्ष की उम्र मे विवाह हुआ था।[४६] पुनः, धम्मदिन्ना, कुण्डलकेशा आदि भिक्षुणियो के कुमारी अवस्था मे प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।[४७] ये भिक्षु-णियाँ लगभग १६ वर्ष अथवा विवेकबुद्धि उदय होने की वय तक अविवाहित रही होगी, ऐसा अनुमान लगाना अनुचित नही होगा। धम्मपद-टीका मे उल्लेख मिलता है कि षोडषियाँ पुरुष-समागमार्थ उत्कठित हो जाती थी।[४८] इस वय की युवतियाँ विवाहयोग्या, सौदर्यमयी एव सर्वलक्षण-सम्पन्ना मानी जाती थी।[४९] सोलह वर्ष की वय मे ही मद्रराजकन्या फुसति का पावन परिणय

सम्पन्न हुआ।[५०] जब काशिराजकुमारी षोडषी हो गयी तो उसके पिता अपनी कन्या के विवाह के लिए चिंतित रहने लगे।[५१] बौद्ध-ग्रथो में वर्णित प्रेम-प्रसंगों तथा प्रेमी-प्रेमिका पलायन[५२] की कथाओं से भी यही निर्णय किया जा सकता है कि सामान्यतया लगभग सोलह की वय से पूर्व किसी कन्या का विवाह नहीं होता था।

गृह्यसूत्रो तथा धर्मसूत्रो मे वधू के लिए नग्निका विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस कारण कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ निकाला कि अपने विवाह के समय कन्या इतनी अल्पवय की होती थी कि उसमे अपने शरीरावयवो को वस्त्र से ढँकने की समझ का भी अभाव रहता था। नग्निका शब्द की यह व्याख्या सही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि टीकाकारो ने ही इसके परस्पर-विरोधी अर्थ लगाये हैं। गोभिल-गृहसूत्र की टीका गृह्यसग्रह मे नग्निका का अर्थ बतलाया गया है—वह कन्या जो रजस्वला नही हुई है,[५३] परन्तु हिरण्य-गृह्यसूत्र के टीकाकार मातृदत्त का कहना है कि नग्निका उस कन्या को मानना चाहिए जिसका रजोदर्शन-काल सन्निकट है, अर्थात् जो पुरुष समागम के योग्य हो चुकी है।[५४] मानव-गृह्यसूत्र ने कुमारी कन्या के लिए नग्निका विशेषण का प्रयोग किया है।[५५] हिरण्य-गृह्यसूत्र का कथन है कि विवाह के समय कन्या का नग्निका होने के साथ अखडित कुमारी होना भी अनिवार्य है।[५६] उसी कन्या के कौमार्य-भग की आशका उचित कही जायगी जो प्राप्त-यौवना हो। पुन सूत्र-साहित्य मे जिस रूप मे विवाहो के वर्णन उपलब्ध हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वधू अपने विवाह के समय कदापि अल्पवय बालिका नही रहती थी। महाभारत मे भी ऐसा प्रसग आता है जिसमे नग्निका शब्द सोलह वर्ष की कन्या के लिए प्रयुक्त हुआ है।[५७] पाणिनि ने विवाह-योग्य कन्या को वर्या कहा है, जिसका अर्थ होता है—वह कन्या जिससे प्रेम करने मे किसी प्रकार का विघ्न न हो।[५८] धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार कन्या का विवाह रजस्वला होने के पश्चात् तीन वर्षों के अन्दर सम्पन्न हो जाना चाहिए, अर्थात् १४-१६ वर्ष की वय मे।

पालि-पिटक तथा समकालीन धर्मशास्त्र मे प्राप्त स्पष्ट प्रमाणो के अनुसार इस युग मे सामान्यतया कन्या का विवाह रजस्वला होने के पश्चात् तत्काल कर देना श्रेयस्कर माना जाता था। वशिष्ठ[५९] और बौधायन[६०] के धर्मसूत्रो तथा मनुस्मृति[६१] के अनुसार कन्या को ऋतुमती होने के पश्चात् तीन वर्षों से अधिक समय तक पितृगृह मे वास नही करना चाहिए, अर्थात् पिता इस अवधि मे अपनी कन्या के विवाह की व्यवस्था अनिवार्यतः करे। गौतम तो यहाँ तक

कहते हैं कि यदि कन्या का पिता अपनी पुत्री के ऋतुमती होने के पश्चात् तीन मास के अन्दर उसका विवाह करने मे असफल हो जाता है, तो कन्या स्वयं ही उपयुक्त वर की खोज मे स्वतत्र हो जाती है ।[६१] गृह्यसूत्र-रचयिताओ ने विवाह की चतुर्थरात्रि मे पति-पत्नी समागम का विधान किया है, जिसे चतुर्थीकर्म की सज्ञा दी गयी ।[६२] चतुर्थीकर्म का वही अर्थ है जो गर्भाधान का । अत. विवाह की चतुर्थ रात्रि को गर्भाधान के उपयुक्त मानने का यह अर्थ हुआ कि विवाहित कन्या पूर्ण-यौवना रहती थी । सूत्रकालोत्तर साहित्य से यह बात स्पष्टतर हो जाती है कि सामान्यतया किसी कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने के पूर्व सम्पन्न नही किया जाता था । कौटिल्य[६४] तथा मनु[६५] के मत मे रजोदर्शन के तीन वर्षों के पश्चात् यदि अविवाहिता कन्या समान जाति तथा कुल के पुरुष को वरण करती है तो उसमे कोई दोष नही है । यह मत पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रकारो द्वारा व्यक्त विचार का समर्थन है ।

जातको मे कही-कही वर की वय भी १६ वर्ष बतलायी गयी है ।[६६] जातको का यह कथन भी अयथार्थ नही जान पडता क्योकि यदि कन्या १४-१५ वर्ष की रहती, तो उसका विवाह १६ वर्ष के वर से करने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती थी । षोडषी कन्या का विवाह सर्वोत्तम मानने का यह तात्पर्य नही है कि इससे कुछ कम अथवा अधिक वय मे किसी कन्या का विवाह होता ही नही था । दुम्मेध-जातक (५०) मे कहा गया है कि सोलह वर्ष की वय मे ही राजकुमारो को तीनो वेदो तथा अष्टादश शिल्पो का ज्ञान करा दिया जाता था । इस प्रकार के कथन को शत-प्रतिशत सत्य नही माना जा सकता, पर इससे प्रतीत होता है कि सामान्यतया लोगो का विद्यार्थी-जीवन सोलह वर्ष की वय मे समाप्त हो जाता था । सूत्रो की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बालको के उपनयन सस्कार क्रमश. आठ, ग्यारह तथा द्वादश वर्ष की उम्र मे सम्पन्न किये जाते थे और इन वर्णो के सदस्य १२ अथवा २४ अथवा ३६ अथवा ४८ वर्ष की वय तक वेदो का अध्ययन करते, अर्थात् प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए द्वादश वर्ष का समय दिया जाता ।[६७] इस व्यवस्था का पालन वस्तुत ब्राह्मण वर्ण के एक वर्ग-विशेष द्वारा ही किया जाता था; साधारण द्विजाति तो वेदो का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की अवधि तक ही अपना अध्ययन सीमित रखता था ।[६८] सभवत विद्यार्थी-जीवन का प्रारभ सात-आठ वर्ष की उम्र मे किया जाता था । मिलिन्द-पञ्हो के अनुसार ब्राह्मणपुत्र को सात वर्ष की वय मे शिक्षारभ कर देना चाहिए ।[६९] यदि सात-आठ वर्ष की उम्र मे विद्यारभ होता, तो व्यक्ति १६-१८ वर्ष की वय मे इतना ज्ञान अर्जित

कर लेता जिससे उसमे ससार-प्रवेश कर जीवन-निर्वाह करने की क्षमता आ जाती। यह आवश्यक नही था कि सभी व्यक्ति उच्च-शिक्षा प्राप्त करते। सामान्यतया सभी मे इसके लिए न तो योग्यता ही रहती है और न रुचि ही। जनमत सभी के लिए लम्बी अवधि के विद्यार्थी-जीवन के पक्ष मे नही रहा होगा। अधिकाश माता-पिता की यह अभिलाषा रहती होगी कि उनके पुत्र अपने जीवन के १६-२० वसंत देखने के पश्चात् घर के काम-काज की देखभाल आरभ कर दें। जैसा कि ऊपर विचार व्यक्त किया जा चुका है, विवाह के समय कन्या की उम्र लगभग १६ वर्ष रहती थी। कामसूत्र के अनुसार वर की वय वधू से तीन वर्ष अधिक होनी चाहिए,[७०] अतएव वर की उम्र अट्ठारह से बीस वर्ष के मध्य मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

समाज का बहुमत बाल-विवाह को विपक्ष मे था, प्राप्तयौवना कन्या का विवाह सर्वमान्य था, परन्तु विवाह-प्रथाओ मे प्राय. एकरूपता का सदा अभाव रहा है। बुद्धकालीन समाज मे भी बेमेल विवाह होते थे। वृद्ध व्यक्ति भी युवतियो से विवाह करने के लिए लालायित रहते थे, अत: सुत्त-निपात मे वृद्ध-विवाह का निषेध किया गया है।[७१] यद्यपि वृद्ध प्रत्याशी युवा वधू का पाणिग्रहण करने मे प्राय असफल हो जाया करते थे, किन्तु बूढो के विवाह कर लेने के कुछ उदाहरण जातको मे उपलब्ध होते हैं। एक धनाढ्य वृद्ध श्रेष्ठि की पत्नी नवयुवती थी, अत उसे सदा इस बात की आशका सताया करती कि उसकी पत्नी उसके मरणोपरान्त किसी नवयुवक से विवाह कर लेगी, और दोनो मिलकर उसकी सम्पूर्ण अर्जित सपत्ति को अपने आमोद-प्रमोद मे नष्ट कर देंगे।[७२] वृद्ध-विवाह की दूसरी कहानी वेस्सन्तर-जातक (५४७) मे मिलती है—एक ब्राह्मण था, जुजक नाम का। उसने अमित्त-तापना नाम की एक नवयुवती से विवाह किया। जब वह नवयुवती पानी भरने लिए कुएँ पर गयी तो वहाँ एकत्र अन्य महिलाओ ने कहा—'निःसंदेह तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे शत्रु थे, तभी तो उन्होने तुम्हें इस वृद्ध के गले मढ़ दिया।' इस कहानी से प्रतीत होता है कि समाज में वृद्ध-विवाह का उपहास किया जाता था। महाभारत मे कहा गया है कि कोई भी तरुणी साठ वर्ष के बूढ़े पति को प्यार नही कर सकती।[७३] इस तरह के विवाहो की सख्या अधिक नहीं जान पड़ती क्योंकि प्राय: धनवान वृद्ध ही कन्या के माता-पिता की निर्धनता का लाभ उठाकर अपना विवाह करने मे सफल होते थे।

वर-वधू गुण-दोष—वस्तुत. मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन मे विवाह का सर्वाधिक महत्त्व है, इसलिए धर्मशास्त्र ने इसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना। हिन्दू-

दृष्टिकोण से विवाह एक ऐसा शरीर-सस्कार है जिससे व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन प्रभावित हुए बिना नही रहता। अत वर-वधू के गुण-दोष का समुचित विचार करके ही विवाह का निश्चय करना उचित है, इस मत की अभिव्यक्ति धर्मशास्त्र तथा पिटको मे हुई है। बौद्धयुग के अभिभावक अपनी सतान के भावी सुख-सौभाग्य के प्रति पूर्ण सजग थे और वे इस बात के लिए सतत यत्नशील रहे कि वर-वधू का उचित चयन किया जाय ताकि उनका दापत्य-जीवन मैत्रीपूर्ण एव आनन्दमय हो। वर-वधू के व्यक्तिगत गुण-दोष के सम्बन्ध में पालि-ग्रन्थ इतना मात्र कहते हैं कि कन्या के सौदर्य तथा शील का विचार अपेक्षित है। वर-वधू के चयन के सम्बन्ध मे भी उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि विवाहेच्छुक व्यक्ति द्वारा स्वय ही अथवा उसके माता-पिता द्वारा वधू का चयन किया जाता था।

वर-वधू चयन के विषय मे गृह्यसूत्रो तथा धर्मसूत्रो मे सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है। तदनुसार वरपक्ष को बुद्धिमती, रूपवती, सुलक्षणा एव स्वस्थ वधू को पसद करना चाहिए।[७४] आपस्तम्ब के अनुसार जिस कन्या की शारीरिक रचना मे कोई दोष हो उसे अस्वीकार कर देना उचित है। उसी कन्या का चयन करना चाहिए जो शरीर और मन से पूर्ण स्वस्थ हो, मानसिक अस्वास्थ्य से ग्रस्त तथा शरीर से रुग्ण कन्या विवाह के लिए उपयुक्त पात्र नही मानी जा सकती।[७५] ये विचार केवल सूत्र-साहित्य मे ही व्यक्त नही किये गये है, सूत्रकाल-पूर्व भी इस विचार की अभिव्यक्ति मिलती है कि विवाह उसी कन्या से करनी चाहिए जो सुन्दरी हो। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार नारी-सौदर्य के दो प्रमुख लक्षण माने गए—उसका कृशोदरी एव नितम्बिनी होना।[७६] परन्तु वस्तुत प्रेमी का सौदर्यबोध सापेक्ष वस्तु होती है, और जो नारी किसी पुरुष-विशेष की हृदय-वीणा के तारो को अनायास झकृत कर दे, वही अन्य पुरुष की दृष्टि मे अनाकर्षक भी हो सकती है। इस तथ्य को हृदयगम करके ही आप-स्तब ने कहा कि सुखी दाम्पत्य-जीवन के लिए आवश्यक है कि जिस कन्या मे वर के मन और चक्षु का निबन्धन हो जाय, उसी कन्या को पत्नी-रूप मे स्वीकार करना श्रेयस्कर है।[७७] जातको से ज्ञात होता है कि जिस कन्या को प्रकृति ने सौदर्य का वरदान नही दिया, वे उस समय तक अविवाहित रह जाती थी जबतक उन्हे कोई विवाहेच्छुक व्यक्ति पसन्द नही कर लेता। नि सदेह ऐसी कन्याएँ अपने माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय बन जाती थी।[७८]

वधू के समान वर का भी विशिष्ट गुण-सम्पन्न होना आवश्यक माना जाता था। परन्तु वर की पात्रता के लिए उसका सच्चरित्र एव बुद्धिमान होना

ही पर्याप्त कहा गया है। कन्या के पिता की यह अभिलाषा रहती थी कि उसका जामाता ऐसा सदाचारी व्यक्ति हो जो समाज में समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हो सके। एक जातक कथा के अनुसार एक नवयुवती से विवाह करने के लिए कई व्यक्ति इच्छुक थे, पर उस कुल के पुरोहित ने कन्या के पिता को परामर्श दिया कि कन्या शीलसम्पन्न वर को दी जाय।[७९] यही विचार बौधायन का है।[८०] आश्वलायन कहते हैं कि बुद्धिमान् पुरुष को कन्या-प्रदान करनी चाहिए।[८१] आपस्तम्ब के मत में वर का सच्चरित्र, सुलक्षणसपन्न, बुद्धिमान् तथा आरोग्यवान् होना आवश्यक है।

विवाह प्रकार–हिन्दू-धर्मशास्त्र मे ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गाधर्व, राक्षस तथा पैशाच, इन आठ प्रकार के विवाहो के वर्णन किये गये हैं। दूसरी ओर पालि-निकाय मे उल्लेख मिलते हैं केवल ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गाधर्व तथा राक्षस के। दैव-विवाह के उल्लेख के अभाव का कारण प्रतीत होता है बौद्ध लेखको द्वारा ब्राह्म तथा प्राजापत्य से दैव के भेद की अस्वीकृति। इसी प्रकार पैशाच-विवाह को विवाह माना ही न गया हो। ऐसा भी हो सकता है कि दैव तथा पैशाच-विवाह के उल्लेख का कोई समुचित प्रसग ही न आया हो। आर्ष-विवाह वस्तुत आसुर का ही प्रच्छन्न रूप था, और पालि-निकाय मे इन दोनों के भेद को स्पष्ट करना अनावश्यक समझा गया होगा, अत इसका उल्लेख नही हुआ। धर्मशास्त्र के अनुसार समाज मे ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह लोकप्रिय हुए। लोक-कथाओ मे प्राय. उन विवाहो के वर्णन को प्राथमिकता मिली जिनमे नवयुवक तथा नवयुवती के पारस्परिक प्रेम अथवा बल-प्रयोग की प्रधानता होती है, परन्तु यही बात समाज मे प्रचलित सामान्य विवाह-प्रथा के साथ लागू नही होती। ब्राह्म और प्राजापत्य पद्धतियो के विवाह तो सामाजिक जीवन की नित्य-प्रति की सामान्य घटनाएँ रही हैं जिनमे वैचित्र्य का अभाव होता है। अतः जातको मे इन विवाहो के उल्लेख के प्रसग कम आये हैं, फिर भी जो कुछ सामग्री इस विषय मे उपलब्ध होती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्धकालीन समाज मे विवाहो का स्वरूप न्यूनाधिक वही था जो ब्राह्म तथा प्राजापत्य विधियो से वैवाहिक कार्य संपन्न किये जाने वाले आज के हिन्दू विवाह मे दिखलायी पडता है। उन दिनो भी वर-वधू के अभिभावक अपनी संतान के विवाह-सम्बन्ध निश्चित करते थे, किसी शुभ घडी मे वैवाहिक धर्म-विधियाँ संपन्न की जाती थी,[८२] निश्चित तिथि को वरपक्ष कन्यागृह पहुँचता,[८३] और विवाहोपरान्त वर अपनी वधू को यान मे आसीन कराकर सदलबल स्वगृह ले जाता।[८४] परन्तु विवाह की धर्मविधियों तथा अन्य संबद्ध विषयो में

बौद्ध लेखक मौन रह जाते है। इनका सविस्तार वर्णन केवल गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रो मे उपलब्ध होता है। पाणिनि धर्मविधि का उल्लेख तो करते हैं पर तत्कालीन समाज मे प्रचलित विभिन्न प्रकार के विवाहो के सम्बन्ध मे कुछ नही बतलाते।[८५] इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्कालीन समाज मे ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह ही लोकप्रिय थे।

कन्या के पिता को पर्याप्त धनराशि प्रदान कर पत्नी उपलब्ध करने की प्रथा को धर्मशास्त्र मे आसुर-विवाह की सज्ञा दी गयी। सभवत इस प्रथा का उद्भव असुर-सप्रदाय मे होने के कारण इसका यह नाम पडा। पालि-पिटक मे धन द्वारा पत्नी उपलब्धि के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन समाज मे आसुर-विवाह के प्रचलन का समर्थन होता है। एक जातक के अनुसार एक वृद्ध ब्राह्मण ने भिक्षाटन द्वारा सहस्र कार्षापण इकट्ठा किया। उन कार्षापणो को एक ब्राह्मण के पास रखकर वह पुन भिक्षाटन के लिए चल पडा। कुछ दिनो के पश्चात् जब वह वापस लौटा तो खर्च हो जाने के कारण उसे अपने एक सहस्र कार्षापण तो वापस नही मिले पर बदले मे मिल गयी—एक ब्राह्मण कन्या।[८६] पत्नी के लिए प्रयुक्त 'कीतो धनेन बहुना,[८७] भरिया या पि धनेन होति कीतो,[८८] या च भरिया धनकीता'[८९] सदृश उक्तियो की गणना भी आसुर-विवाह के प्रबल प्रमाणो मे की जा सकती है। इस श्रेणी के विवाह के लिए यह भी आवश्यक नही था कि वर अपनी पत्नी का मूल्य सदा धन के रूप मे चुकाता। कभी-कभी वर अपने पत्नीकुल मे सेवाकार्य करके अपनी लक्ष्य-सिद्धि मे समर्थ हो जाता था। महा-उम्मग-जातक मे उल्लेख मिलता है कि एक व्यक्ति ने अपनी भावी ससुराल मे सात वर्षो तक कार्य किया जिसके बदले में उस कुल की कन्या से उसका विवाह कर दिया गया।[९०]

धर्मशास्त्रकारो ने कन्या-विक्रय की प्रथा का घोर विरोध किया, परन्तु आर्येतर जातियो में इसकी लोकप्रियता के कारण वे इसे अमान्यता प्रदान करने में सफल न हो सके। इस प्रथा को किसी-न-किसी रूप में उन्हे वैध स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडा। आर्ष-विवाह, जिसमें कन्या के पिता को वर के पिता की ओर से गाय अथवा साड की एक जोडी भेंट करने का विधान है, आसुर-विवाह का ही प्रच्छन्न रूप है। मनु पत्नी-विक्रय का निषेध तो करते है, परन्तु वे यह भी कहते हैं कि कन्या-शुल्क जमा करने के पश्चात् यदि वर की मृत्यु हो जाय, तो उस कन्या का विवाह मृत-वर के अनुज से कर देना चाहिए।[९१] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय विरोध के बावजूद आसुर-विवाह की प्रथा समाज में प्रचलित रही और शास्त्रकारो को इसके लिए

अनिच्छापूर्वक अपनी स्वीकृति देनी पड़ी। मनु द्वारा इसका घोर विरोध उनका व्यक्तिगत विचार प्रतीत होता है। समाज के द्विजाति-वर्ग में भी कन्या-विक्रय को प्रश्रय उन धनवान वृद्धो द्वारा मिला जो पुनर्विवाह के लिए लालायित रहते थे और साथ ही कन्या के उन अभिभावको द्वारा जो निर्धनता के शिकार थे।

गाधर्व अथवा प्रेम-विवाह का भी समाज मे पर्याप्त प्रचलन था। जातकों से प्रतीत होता है कि समाज के अभिजात-वर्ग मे गाधर्व-विवाह लोकप्रिय हुआ। महा-उम्मग-जातक के अनुसार मिथिला के युवराज महोसध को एक ग्रामीण बाला से प्रेम हो गया तो उन्होने उससे विवाह कर लिया। कट्ठहारि-जातक मे उल्लेख मिलता है एक राजा का जिसने अपने पुष्पोद्यान मे एक नवयौवना को क्रीडा करते देखा तो उस पर मुग्ध हो उससे विवाह कर लिया। एक अन्य कहानी के अनुसार वाराणसी के एक दिशाप्रमुख आचार्य के एक शिष्य को एक स्थानीय नवयुवती से प्रेम हो गया तो उसने उससे विवाह कर लिया और अपना अध्ययन भी जारी रखा[९२]। बुद्ध के समकालीन वत्सराज उदयन की प्रेमकथाएँ लोक-विश्रुत है। धर्मशास्त्र-रचयिताओ की दृष्टि मे गाधर्व एव क्षात्र अथवा राक्षस-विवाह क्षत्रियोचित थे। वात्स्यायन के मत मे तो गाधर्व-विवाह ही सर्वोत्तम है, क्योकि इसके मूल मे होता है—प्रेम, जो विवाह का वास्तविक लक्ष्य है।

जातक कथाओ मे राक्षस अथवा क्षात्र-विवाह, अर्थात् बल-प्रयोग द्वारा कन्याहरण के भी अनेक उदाहरण दिये गये है, जैसे—एक चोर-प्रमुख ने एक ग्रामीण बाला का अपहरण कर उससे विवाह कर लिया,[९३] एक राजा ने अपने शत्रुराजा की हत्या कर उसकी रानी को अपनी पत्नी बनाया।[९४] अति प्राचीन काल में शक्ति-प्रयोग द्वारा पत्नी प्राप्त करने की प्रथा का उद्‌भव हुआ। पश्चात् समाज के योद्धा-वर्ग मे यह प्रचलित हो गया। जिस युग मे शारीरिक शौर्य ही पुरुष मे नारी के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बना था, उस समय राक्षस-विवाह की लोकप्रियता मे सदेह नही रह जाता। एक युग वह भी था जब पत्नी-प्राप्ति के लिए पराक्रम-प्रदर्शन अनिवार्य माना जाता था। सीता-स्वयवर तथा द्रौपदी के विवाह के लिए आयोजित स्वयवर मे भगवान् राम तथा अर्जुन ने अपने अप्रतिम बाहुबल द्वारा ही सफलता प्राप्त की। इन स्वयवरो को क्षात्र-विवाह का रूपान्तर मानना सर्वथा उपयुक्त है। आज भी कई आदिम जातियो मे विवाह के अवसर पर युद्ध की नकल की जाती है। वर अपनी पत्नी को बलपूर्वक वधूपक्ष से छीनने का प्रयास करता है, और कन्या-

पक्ष वाले उसे बचाने का। यह छीना-झपटी का नाटक अतीत के कन्याहरण का ही रूपान्तर है। मध्यप्रदेश तथा छोटानागपुर के कुछ क्षेत्रो में बारात-मिलन के समय युद्ध-नृत्य देखने को मिलता है। इस तरह की प्रथाएँ राक्षस-विवाह की प्राचीनता के द्योतक हैं और संभवत. यह विवाह की प्राचीनतम प्रथा है।

पुर्नविवाह तथा विवाह-विच्छेद— प्राचीन भारत के समाज मे पुरुष का स्थान नारी से उच्च होने के कारण उसने स्वभावतः पुनर्विवाह के अधिकार का उपभोग किया। पर क्या नारी भी अपने पति के मरणोपरान्त अपना पुनर्विवाह करने मे स्वतत्र थी ? यह प्रश्न जटिल है और भिन्न-भिन्न काल मे विचारको के मत भी इस विषय मे भिन्न रहे। वैदिक काल के समाज मे विधवाओ की समस्या का हल निकाला गया—नियोग प्रथा मे। नियोग की प्रथा वैदिक भारत मे ही सीमित नही थी, यह अन्य देशो की तत्कालीन सभ्यताओ मे भी प्रचलित थी। वैदिक समाज मे न केवल नियोग, परन्तु विधवा-विवाह को भी मान्यता मिली, इसके कतिपय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के एक मत्र के अनुसार यदि पुनर्भू नारी अपने नये पति के साथ देवताओ को पञ्चौदन अर्पित करती, तो उन दोनों का साथ भविष्य में नही छूटता।[५५] पुनर्भू शब्द का प्रयोग उत्तरकालीन साहित्य मे उस विधवा के लिए किया गया है जिसका पुन. विवाह हो जाता था। तैत्तिरीय-सहिता मे द्वैधिषव्य शब्द भी सभवत विधवा के पुत्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[५६]

बुद्ध-काल मे विधवा-विवाह की मान्यता के सम्बन्ध मे परस्पर विरोधी प्रमाण मिलते है। इसका कारण समाज के विभिन्न वर्ग मे प्रचलित प्रथाओ की असमानता प्रतीत होती है। धर्मशास्त्र मे समाज का आदर्श चित्र उपस्थित करने की चेष्टा के कारण विधवा-विवाह का प्राय निषेध मिलता है, अत. निषेधात्मक व्यवस्था का अर्थ अस्तित्व का अभाव मानना उचित नही। धर्मशास्त्र-कारो का दृष्टिकोण बाल-विधवा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, अतः कतिपय धर्मशास्त्र-रचयिताओ ने विधवा-विवाह की अनुमति दी, तो कुछ ने इसका निषेध भी किया। लोक-कथाओ मे केवल बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह के वर्णन नही मिलते, पर उन विधवाओ के पुनर्विवाह के भी जो ससन्तान थी। धर्मशास्त्र की व्यवस्था का पालन प्रमुखतया समाज के द्विजाति-वर्ग में हुआ, और जन-साधारण ने स्थानीय प्रथाओ को अधिक महत्त्व दिया। अतएव उच्च-जातियो मे तो विधवा-विवाह विशेष परिस्थितियो में ही सपन्न हो पाते थे, पर समाज के निम्न-वर्ग मे यह प्रथा सामान्य-रूप मे प्रचलित रही। विधवा-विवाह को मान्यता न मिलने के कारण समाज के किन्ही वर्गों मे नवयुवती विधवाओ के

भ्रष्टाचारमय जीवन मे संलिप्त होने की संभावनाओं को अस्वीकार नही किया जा सकता। समाज के उच्चकुल की विधवाओ को पुनर्विवाह की अनुमति उपलब्ध होने पर भी नि सन्तान विधवाओ का पुनर्विवाहित होना उनकी अपेक्षा आसान होता जिनपर अपनी सन्तान के पालन-पोषण का भार था। एक वृद्ध श्रेष्ठि, जिसकी पत्नी नवयुवती थी, सोचा करता—'मेरी पत्नी मेरे मरणोपरात किसी नवयुवक से अपना विवाह कर लेगी और मेरी सपूर्ण चल-सपत्ति को अपने पति के साथ ऐश करने मे विनष्ट कर देगी, जिससे मेरे पुत्र के लिए कुछ भी नही बच पायगा।'[९७] जब एक राजा परलोकवासी हो गया तो उसकी विधवा रानी ने उस राज्य के राजपुरोहित से अपना विवाह कर लिया।[९८] इनके विपरीत अंगुत्तर-निकाय मे यह उदाहरण मिलता है कि जब एक व्यक्ति मरणासन्न हो गया तो उसकी पत्नी ने उसे आश्वासन दिया—'स्वामी, आप चिंता न करें, मैं कदापि विवाह न करूँगी और अपनी सतान तथा गृहस्थी की समुचित देखभाल करती रहूँगी।'[९९] समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जहाँ विधवा-विवाह के प्रति किसी प्रकार के सामाजिक विरोध का आभास नही मिलता। उच्छग-जातक मे समाज के इस वर्ग मे प्रचलित विधवा-विवाह का यह उदाहरण मिलता है—'एक स्त्री के पति, पुत्र तथा भ्राता को राजकर्मचारी दस्यु समझ पकडकर ले गये। उस स्त्री ने राजद्वार मे दया-याचना की। राजा ने उस स्त्री से कहा—इन तीनो में जिस एक को तुम चाहो मुक्त किया जा सकता है। उस स्त्री ने उत्तर दिया—देव, मैं दूसरा पति और पुत्र तो प्राप्त कर सकती हूँ पर मेरे माता-पिता मृत हो चुके हैं, जिससे भाई ही मेरे लिए दुर्लभ है, अतः मुझे मेरा भाई ही मिले।''[१००]

धर्मशास्त्र के विधान से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे यत्र-तत्र नियोग तथा विधवा-विवाह दोनो ही प्रचलित थे। शास्त्रकारो ने औरस-पुत्र के पश्चात् दूसरे स्थान पर नियोग-पुत्र को रखा। जो विधवा अपना पुनर्विवाह कर लेती थी उसे पुनर्भू की सज्ञा दी गयी।[१०१] वशिष्ठ ने उस विधवा को कुमारी स्वीकार किया जिसका मात्र मत्र-सस्कार तो हुआ पर पति से शरीर-सम्बन्ध नही हो सका।[१०२] इस तरह की विधवा को वे पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान करते हैं। कौटिल्य के मत मे नि:संतान विधवा को पति की मृत्यु के पश्चात् सात बार रजस्वला होने पर पुनर्विवाह कर लेना चाहिए, किन्तु जिनकी संतान हो उसे वर्ष-भर प्रतीक्षा करनी चाहिए।[१०३] इस विषय मे मनु के विचार परस्पर-विरोधी हैं।

प्राचीन भारतीय परिवार के पितृ-प्रधान स्वरूप के कारण नारी को परिवार

की सम्पत्ति माना जाता था और सभवतः इसी कारण धर्मशास्त्रकारो के मत मे विधवा को प्रायः अपने मृत-पति के परिवार के ही किसी पुरुष को अपना पति स्वीकार करना चाहिए। इस मत का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि पूर्व-काल मे नियोग का व्यापक प्रचलन था। इस बात की सभावना को भी ध्यान मे रखा गया होगा कि अन्यत्र विवाह करने वाली विधवा मृत-पति के परिवार से चल-संपत्ति का कुछ भाग अपने साथ न ले जाय। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यदि विधवा किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह कर लेती जो उसके श्वसुर को स्वीकार्य न होता, तो उस अवस्था मे उसे अपने विवाह के समय पति तथा श्वसुर से प्राप्त समस्त वस्त्राभूषणादि से वचित होना पडता।[१०४]

प्राचीन भारत में नारी के पुनर्विवाह की समस्या उस समय भी उठती थी जब उसका पति सन्यासी हो जाता अथवा विदेश-यात्रा से वापस नही आता। उपनिषद्काल मे सन्यास-जीवन की ओर लोगो की अभिरुचि में अप्रत्याशित वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप तरुणियाँ पतिविहीना होने लगी। बुद्ध-काल में सन्यासियो, भिक्षुओ तथा श्रमणो की सख्या मे पूर्वापेक्षा अत्यधिक वृद्धि हुई। बौद्ध-सघ में प्रवेश करने वालो मे उन युवको की सख्या न्यून नही थी जिन्होने अपनी नवयुवती पत्नियो को असहाय छोड दिया। यही वह प्रमुख कारण था कि राजगृह में जब भगवान् बुद्ध का प्रथम पदार्पण हुआ, तो मगधवासी ब्राह्मणो ने नारी के वैधव्य के अग्रदूत के विरोध के लिए जनता का आह्वान किया।[१०५] यह विरोध बौद्ध-धर्म के प्रचार एव प्रसार को अवरुद्ध करने मे सफल नही हुआ। बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता मे दिनो-दिन वृद्धि होती गयी और भिक्षुओ की सख्यावृद्धि के साथ परित्यक्ता नारियो की सख्या भी निरतर बढती गयी। इस अवस्था मे कुछ नारियो ने अपने पति के चरण चिह्नो पर चलना पसन्द किया, पर कई ने पुनर्विवाह कर घर बसाना श्रेयस्कर समझा। कभी-कभी तो प्रव्रज्या लेते समय स्वय पति ने अपनी पत्नी को पुनर्विवाह के लिए प्रेरित किया।[१०६] धर्मशास्त्र मे इस बात की व्यवस्था है कि यदि पति संन्यासी हो जाय अथवा विदेश चला जाय तो प्रतीक्षा की एक निश्चित अवधि के पश्चात् पत्नी अपना नया पति चुन लेने के लिए स्वतत्र हो जाती है। वशिष्ठ के मत मे सन्तानवती ब्राह्मणी को भी पाँच वर्ष ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, जिसके पश्चात् उसे किसी निकट सम्बन्धी से विवाह कर लेना चाहिए, परन्तु पति-कुल मे सुयोग्य पात्र का अभाव होने पर ही अन्यत्र विवाह का विचार किया जा सकता है।[१०७] कौटिल्य के अनुसार ससन्तान विधवा के लिए एक वर्ष मात्र की प्रतीक्षावधि

पर्याप्त है; किन्तु यदि उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध हो अथवा उसके ज्ञाति उसका निर्वाह करें, तो उसे दो से आठ वर्षों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् उपयुक्त वर ढूँढ लेना चाहिए।[108] मनु के मत मे पति की विदेश-यात्रा के उद्देश्य के अनुरूप प्रतीक्षा की अवधि तीन से आठ वर्षों तक होनी चाहिए।[109]

पति-पत्नी द्वारा पारस्परिक सहमति से विवाह-विच्छेद कर पुनर्विवाह करने के भी कुछ उदाहरण पालि-पिटक मे उपलब्ध होते हैं। धर्मशास्त्र मे अपवाद-स्वरूप विवाह-विच्छेद की अनुमति दी गयी। धर्मशास्त्र मे वस्तुतः समाज का आदर्श चित्रण होने के कारण समाज के निम्न-वर्ग मे प्रचलित कतिपय प्रथाओ का, जिन्हे निषिद्ध माना गया, उल्लेख करना अनावश्यक समझा गया। परन्तु बौद्ध पालि-वाङ्मय मे प्रसंगवशात् समाज की अच्छाइयो और बुराइयो का वास्तविक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया जिससे प्रतीत होता है कि समाज के कुछ वर्गों मे विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह की घटनाओ का घटित हो जाना कोई अनहोनी बात नही थी। मज्झिम-निकाय के पियजातिक-सुत्त के अनुसार एक स्त्री के निकट सम्बन्धियो ने उसका विवाह अन्य पुरुष से करने का निश्चय किया, वह भी अपने पति को नही चाहती थी।[110] कुस-जातक (५३१) मे बतलाया गया है कि मद्र-राजकुमारी फुमति ने अपने कुरूप पति का परित्याग कर किसी अन्य राजकुमार से विवाह करने का निश्चय किया। इस सम्वाद को सुनकर अनेक राजकुमार फुमति को हस्तगत करने के लिए सदलबल पहुँच गये, परन्तु सभी को राजकुमार कुस के बाहुबल से पराजित होकर निराश लौट जाना पडा। यद्यपि इस कहानी मे पुनर्विवाह सपन्न नही कराया गया है, परन्तु नारी द्वारा विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह के निश्चय के उल्लेख से समाज मे इस प्रथा की मान्यता का समर्थन होता है। धर्मशास्त्र द्वारा विशेष परिस्थिति मे विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया गया है। तदनुसार वशिष्ठ ने पति के नपुंसकत्व या चरित्रहीनता अथवा विक्षिप्तता के आधार पर उसका परित्याग कर नारी को अन्यत्र विवाह करने की अनुमति प्रदान की।[111] कौटिल्य ने पति-पत्नी मे निरन्तर वैमनस्य की विद्यमानता के कारण दोनो पक्ष की सहमति से विवाह-विच्छेद का विधान किया है।[112] इस प्रकार कौटिल्य ने उन धूर्त तथा मतलबी पति या पत्नी पर प्रतिबन्ध लगाया जो अपने स्वार्थवश दूसरे के परित्याग का षड्यन्त्र रचते। परन्तु मौर्य-पूर्व काल मे इस तरह के प्रतिबन्ध के अस्तित्व की कल्पना करना वास्तविकता की अस्वीकृति होगी और यदि ऐसा रहा भी हो तो उसे सक्रिय रूप देना सम्भव न हो पाता। कौटिल्य ने जो नियम बनाये उनको समाज मे लागू करना सहज

था क्योकि मौर्य-शासन अत्यन्त दक्ष था।

यह निर्धारित करना सम्भव नही है कि विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह करनेवालो की प्रतिशत सख्या कितनी रही होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया, समाज के निम्नवर्ग मे इनका प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक था। सामाजिक रीति-रिवाजो का नियमन प्राय कुलाचार तथा स्थानीय परम्पराओ द्वारा होता है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे कुल-परम्पराओ के प्रति विशेष अनुरक्ति होती है, अत वे पति मे प्रगाढ अनुराग का अभाव होने पर भी प्राय· विवाह-विच्छेद का सहारा लेना पसन्द नही करती होगी, जैसा कि एक जातक कथा मे कहा गया है कि एक स्त्री अपने पति से असतुष्ट थी, पर उसने उसका परित्याग नही किया। कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया— 'इस कुल की परम्परा मे पति-परित्याग का स्थान नही है, अत· अनिच्छापूर्वक ही सही, मैं अपने पति के साथ दाम्पत्य-जीवन का निर्वाह कर रही हूँ।'[११३] पति भी प्राय विवाह-विच्छेद के लिए इच्छुक नही रहा करते थे इसके भी उल्लेख मिलते हैं। एक ब्राह्मणी ने दुराचार किया, पर उसके पति ने अपनी पत्नी का परित्याग कर पुनर्विवाह करने के विरुद्ध मत व्यक्त किया।[११४] इन उदाहरणो से यह प्रतीत होता है कि दाम्पत्य-जीवन की कटुता की चरम अवस्था को छोडकर विवाह-विच्छेद का आश्रय नही लिया जाता था और समाज के निम्नवर्ग मे इसका अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रहता था। नारद[११५] तथा पराशर[११६] के समय तक परिस्थिति अपरिवर्तित रही, क्योकि इन्होने विशेष परिस्थिति मे विवाह-विच्छेद का विधान किया है। परन्तु कालान्तर मे सामाजिक रीति-रिवाजो मे कई परिवर्तन हो गये और बारहवी शताब्दी के धर्मशास्त्र-रचयिताओ ने विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह को कलिवर्ज्य की सूची मे रखा।

दाम्पत्य-जीवन—पालि-पिटक तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र से व्यक्त होता है कि बुद्धकालीन-समाज मे पति-पत्नी का दाम्पत्य-जीवन प्राय आदर्श एव आनन्दमय था—पारस्परिक सम्मान तथा प्रगाढ प्रेम से पूर्ण। परन्तु जातक कथाओ मे दु खी दाम्पत्य-जीवन के अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं, जिनका कारण प्राय स्त्री की दुष्टता बतलाया गया है, परन्तु कुछ मे पति की धूर्त्तता का भी उल्लेख किया गया है। कथाकारो ने प्राय· साधारण घटनाओ को भी अतिरजित कर दिया है, अत· वे पूर्ण विश्वस्त नही माने जा सकते। बौद्ध लेखको का लक्ष्य था—कथा के माध्यम से भिक्षुओ को स्त्री-साहचर्य से विरक्त करना, अतः जातको मे स्त्री-जाति को दुष्टता का अवतार बना दिया गया। बौद्ध धर्माचार्यों ने स्त्री-सम्पर्क

से भिक्षुओं को दूर रखने का प्रयत्न किया, क्योंकि नारी-सौन्दर्य की माया किसी भी समय उन्हे भिक्षु-जीवन के आदर्श से च्युत कर सकती थी। पुरुष का विवेक नारी के निकट विनष्ट हो जाता है इस धारणा को अंगीकार करने के कारण बौद्ध धर्म-ग्रन्थों मे नारी का वर्णन सर्वत्र दुराचारिणी के रूप में किया गया। एक जातक कथा का कथन है कि स्त्री स्वभाव को समझ पाना असम्भव है, उनका चित्त चचल होता है, जैसा कि बानर का।[117] दूसरी जातक कहानी मे बतलाया गया है कि एक पति ने अपनी पत्नी की प्यास बुझाने के लिए अपना रक्त दिया, परन्तु उस दुष्टा ने एक अपंग दस्यु के प्रति प्रेमासक्ति के फलस्वरूप अपने पति को त्याग दिया।[118] कई कहानियो मे वर्णन मिलता है कि किस प्रकार दुराचारिणी पत्नियाँ अपने पति की अनुपस्थिति मे अपने प्रेमियो के सग मौज किया करती थी[119]। दुष्टा-पत्नियाँ जनता के बीच अपने पति को उपहास का पात्र तक बना देती।[120] कई कहानियो मे वर्णन मिलते हैं कि स्त्री अपने प्रेमी के साथ भागी जा रही और उसका पति उनका पीछा कर रहा है[121]। चुल्लवग्ग ने स्त्रियो के अवैध गर्भधारण करने तथा गर्भपात कराने का वर्णन किया है।[122]

स्त्रियो के दुश्चारित्र्य-वर्णन के समान जातको मे पुरुषो के व्यभिचार के भी उदाहरण दिये गये हैं। तदनुसार कई पति अपनी पत्नी की उपेक्षा कर दूसरो की स्त्री मे अनुरक्त हो व्यभिचार करने लगते थे।[123] स्त्रियाँ भी अपने दाम्पत्य जीवन से विरक्त होकर भिक्षुणियाँ बन जाती थी।[124] कभी-कभी पुरुष अपनी व्यभिचारिणी पत्नी की अच्छी तरह मरम्मत करके घर से निकाल भी देते थे।[125] ऐसा भी होता था कि साधारण भूल के कारण पुरुष स्त्री-त्याग का विचार कर लेता। काना नाम की एक लडकी अपने पितृगृह गयी। उसके पति ने उसे लाने के लिए तीन बार अपना दूत प्रेषित किया, पर वह ससुराल नही आयी। इस बात पर क्रुद्ध होकर उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया।[126] समाज मे ऐसे पुरुषो का भी अस्तित्व था जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए पत्नी का परित्याग कर सकते थे। ऐसे ही पति का वर्णन एक जातक कथा मे किया गया है। जब एक सेनापति ने राजा को अपनी पत्नी मे अनुरक्त देखा, तो वह अपने स्वामी को तुष्ट करने के लिए पत्नी-परित्याग को प्रस्तुत हो गया।[127]

वस्तुत: समाज मे सभी तरह के मनुष्यो का अस्तित्व होता है। न तो गुणवान् व्यक्तियो का अभाव रहता है, और न मूर्खों का, सत है तो असत भी विद्यमान है। न तो समाज मे सती-साध्वी स्त्रियो का कभी अभाव रहा

है और न पत्नीव्रत पुरुषो का। अत बौद्ध-वाड्मय मे जहाँ स्त्री-पुरुष-दुश्चारित्र्य सम्बन्धी अनेक उदाहरण दिये गये है, वहाँ इसके भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते है कि दाम्पत्य-जीवन प्राय सुखमय था। पति-पत्नी के लिए सर्वोत्तम आदर्श माना गया था—आनन्दमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करना। वयोवृद्ध जन नवविवाहित दम्पति को आशीर्वाद देते थे कि उनके दाम्पत्य-जीवन मे अटूट मैत्री का साम्राज्य बना रहे।[१२८] धर्मशास्त्रकार भी पति-पत्नी की सौंदयानुभूति तथा उनके भौतिक एव धार्मिक अभिन्नता की परिकल्पना करते हैं।[१२९] पालि एव सस्कृत वाड्मय मे समान रूप से पत्नी को अपने पति का अतरग मित्र स्वीकार किया गया है। अपने पति के प्रति प्रगाढ अनुरागमयी स्त्री परलोक मे भी पति-सयोग की कामना करती थी।[१३०] पुरुष भी अपनी सच्चरित्रा पत्नी पर गर्व का अनुभव करता था।[१३१] सुजाता,[१३२] संबुला[१३३] आदि स्त्रियाँ साध्वी, गुणवती तथा कर्त्तव्य-परायणा थी और उन्होने अपने दाम्पत्य-जीवन मे सुख, एकचित्तता, तथा अनन्य-भाव का अनुभव किया, ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है। सबुला के पति को कुष्ठ हो गया था लेकिन उस साध्वी एव पति-परायणा नारी ने वन मे रहकर उनकी सेवा-सुश्रूषा की।

साध्वी स्त्रियो के समान पत्नी-निष्ठ पुरुषो के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक जातक कथा मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि पुरुष के लिए अपनी प्रेममयी पत्नी से बढकर प्रिय कोई अन्य वस्तु नही हो सकती है।[१३४] ऐसे पति के उदाहरण उपलब्ध होते है जो व्यभिचारिणी पत्नी का भी परित्याग करना अनुचित मानते थे।[१३५] दुश्चरित्रा पत्नी का परित्याग शास्त्र-सम्मत था और इस प्रकार के उदाहरण जातको मे दिये गये है। साध्वी पत्नी का परित्याग शास्त्र-विरुद्ध था, अत इसे लोककथाओ मे भी प्रश्रय नही मिला। धर्मशास्त्र मे दाम्पत्य-व्रतभग को अधम पाप की सज्ञा दी गयी है। अत न तो स्त्री के लिए पुरुष का त्याग, न पुरुष के लिए अपनी साध्वी पत्नी का परित्याग, शास्त्रसम्मत माना जा सकता है। आपस्तब ने कहा है कि यदि पुरुष अपनी साध्वी पत्नी का परित्याग कर दे, तो उसे इसके प्रायश्चित के लिए गर्दभ-चर्म धारण कर सात घरो मे भिक्षा मागनी चाहिए।[१३६] मनु पत्नी-परित्यागी के लिए आर्थिक दड की व्यवस्था करते है।[१३७] इसी प्रकार पति-परित्यागिनी नारा के लिए कृच्छ्र नामक प्रायश्चित की व्यवस्था है।[१३८]

५

गणिकाएँ

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल मे तथा तदनन्तर भारत मे नगर-सभ्यता का पूर्वापेक्षा विशेष विकास हुआ। महापरिनिब्बाण-सुत्त मे उल्लिखित ६ प्रमुख महानगर—चम्पा, राजगृह, साकेत, श्रावस्ती, कौशाम्बी और वाराणसी, तथा वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, उज्जैनी प्रभृति वैभवशाली नगरो को उस युग के व्यावसायिक एव सास्कृतिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। पाटलिपुत्र ग्राम को अजातशत्रु के राजत्वकाल मे महत्त्व दिया गया और वही से इसका विकास क्रमश. होने लगा और इसने शीघ्र ही मगध-साम्राज्य की राजधानी के पद को प्राप्त कर महानगरो मे अपना प्रमुख स्थान बना लिया। इन समृद्ध नगरो के विलासप्रिय नागरिको को आमोद-प्रमोद की वे सभी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थी जो ग्रामीण जीवन मे दुर्लभ मानी जाती है। नागरिक जन अनेकानेक प्रकार के आनन्दोपभोगो मे लिप्त रहा करते थे। उनके विलासमय जीवन में गणिकाओ को प्रमुख स्थान मिला। बौद्ध-पिटक के अनुसार नगरो की शोभा मे गणिकाओ ने चार चाँद लगा दिये थे। नगरवासी अपने नगर की गणिका के सौंदर्य पर गर्व का अनुभव करते थे। गणिका के अभाव को किसी भी प्रमुख नगर के जीवन की महती त्रुटि समझी जाती थी, तभी तो राजगृह के नागरिको ने वैशाली का अनुसरण कर अपने नगर के लिए भी गणिका की व्यवस्था की। राजगृह के एक प्रमुख श्रेष्ठि ने वैशाली नगरी का अवलोकन किया। उसने वहाँ के नागरिको को सभी प्रकार से समृद्ध एव सतुष्ट पाया। राजगृह वापस आने पर उसने मगधराज श्रेणिय बिम्बिसार के पास जाकर निवेदन किया—'महाराज, वैशाली नगरी समृद्ध एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न है · वहाँ अम्बपाली नाम की गणिका का वास है जो परम सुंदरी, रमणीया, नयनाभिरामा, परम सुंदर-वर्णा, गायन-वादन-नृत्य-विशारदा तथा अभिलाषीजन-बहुदर्शनीया है। महाराज प्रसन्न हो, हम भी एक गणिका का अभिषेक करें।'' उस समय राजगृह नगर में सालवती नाम की एक नवयुवती थी जो परम सुंदरी, रमणीया, दर्शनीया तथा परम सुंदर-वर्णा थी। उसे ही गणिका पद के उपयुक्त पाकर उसका गणिकाभिषेक

सम्पन्न किया गया।[2] जिस प्रकार सालवती को गणिका-पद पर प्रतिष्ठित किया गया, उससे प्रतिभासित होता है कि गणिका-पद को प्राप्त करना किसी नारी के लिए समाज में अप्रतिष्ठासूचक नही माना जाता था। इस पद पर प्रतिष्ठित हो संभवत. नारी भी उन दिनो अपने को गौरवान्वित अनुभव करती थी। समाज में अम्बपाली और सालवती का स्थान सामान्य गणिका से सर्वथा भिन्न था, क्योकि वे राजगणिका-पद को सुशोभित करती थी और वस्तुत: वे अभिजातकुल-भोग्या बनी रही।

विनय-पिटक मे उपलब्ध प्रमाणो से विदित होता है कि तत्काकीन समाज में गणिकाओ को समुचित सम्मान मिला। वे अभिजात-वर्ग की सौदर्योपभोग-लिप्सा की तुष्टि का साधन-मात्र न थी, उन्होने गायन-वादन-नृत्य-कला का यथोचित सरक्षण भी किया। गणिकाओ के माध्यम से जन-मानस का सौदर्यानुराग प्रबुद्ध एव परितुष्ट होता था। वे महोत्सवो पर राजप्रासाद में लोकरंजनार्थ सगीत-नृत्य के हृदयग्राही प्रदर्शन करती थी। भगवान् बुद्ध द्वारा अम्बपाली का आतिथ्य स्वीकार करने तथा उसके द्वारा अम्बपाली वन का भिक्षु-सघ को दान करने की घटनाओ से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज ने गणिकाओ को हेय दृष्टि से नही देखा।[3] भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ अम्बपाली ने अनेक सुशोभित रथो को लेकर जिस ठाटबाट से कोटिग्राम के लिए प्रस्थान किया उससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि उसका रहन-सहन राजसी था।[4] गणिका की कोख से जन्मे व्यक्ति का समाज में तिरस्कार भी नही किया गया। यदि गणिकापुत्र प्रतिभासपन्न होता तो उसे अपनी योग्यता के अनुरूप उच्चपद को प्राप्त करने मे बाधा नही पडती थी। इसका सबल प्रमाण तो यही है कि प्रख्यात राजवैद्य जीवक का जन्म राजगृह की गणिका सालवती के गर्भ मे हुआ था।[5]

जातक कथाओ में अनेक गणिकाओ के वर्णन से प्रतीत होता है कि उनको अपने व्यवसाय से इतनी आय हो जाती थी कि वे विलासमय जीवन व्यतीत करने के सभी साधन जुटाने में समर्थ थी। सामा,[6] सुलसा,[7] काली[8] आदि गणिकाएं प्रतिरात्रि एक सहस्र कार्षापण अर्जित कर लेती थी। वस्त्र, अगराग तथा माला में ही काली का दैनिक व्यय पाँच सौ कार्षापण तक पहुँच जाता था।[9] जो रसिक उसके पास रात्रि व्यतीत करने जाता उसे अपने वस्त्र उतार कर गणिका द्वारा प्रदत्त परिधान धारण करना पडता। ग्राहको द्वारा किसी गणिका को प्रतिरात्रि सहस्र कार्षापण देने के कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है। वस्तुतः राजगणिका की दैनिक आय पचास से सौ कार्षापण के

बीच थी जो विलासमय जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है। सालवती को प्रतिरात्रि सौ कार्षापण प्राप्त होते थे,[10] पर अम्बपाली को केवल पचास।[11] इसका कारण राजगृह एव वैशाली के जीवन-स्तर का वैषम्य प्रतीत होता है। मगध-साम्राज्य की राजधानी में विलासिता की वस्तुओ के लिए अधिक धन व्यय करने में सक्षम नागरिको की सख्या अन्य नगरो से अपेक्षाकृत अधिक रही होगी।

सामान्य नारी के समान गणिका के आचरण मे भी महानता एव क्षुद्रता के गुणावगुणों का होना स्वाभाविक है। जातक कथाओ मे सद्गुणसम्पन्न तथा दुराचारिणी दोनो प्रकार की गणिकाओ के उदाहरण मिलते हैं। काली नाम की गणिका मे प्रबल आत्म-सम्मान का भाव तो था ही, साथ ही उसमे सामाजिक मान्यताओं के निर्वाह की अपूर्व क्षमता भी थी। उसका तुण्डिल नामक भाई बडा दुश्चरित्र, शराबी तथा जुआडी था और उसके धन का दुरुपयोग किया करता था। उसने अपने भाई के सुधार करने का प्रयत्न किया, पर व्यर्थ। एक दिन तुण्डिल को लोगो ने खूब पीटा और उसके वस्त्र भी छीन लिये। जब वह अपनी बहन के पास चिथडो मे लिपटा हुआ पहुँचा तो उसने अपनी दासियो द्वारा उसे भगा दिया।[12] एक अन्य गणिका एक नवयुवक पर अनुरक्त हो गयी। वह नवयुवक उसे एक सहस्र कार्षापण देकर कही चला गया, तो वह गणिका तीन वर्षों तक उसकी प्रतीक्षा करती रही। वह निर्धन हो गयी, पर उसने किसी अन्य पुरुष से ताम्बूल तक स्वीकार नही किया।[13] सुलसा नाम की गणिका का वर्णन एक अति बुद्धिमती तथा साहसी नारी के रूप मे मिलता है। वह एक दस्यु पर आसक्त हो गयी। उसने उसकी प्राणरक्षा की और अन्य पुरुषो के सपर्क मे आना बन्द कर दिया, परन्तु वह दस्यु धूर्त निकला। उसके मन मे पाप हो गया। उसने अपनी प्रेमिका की हत्या कर उसके मूल्यवान् आभूषणो को हस्तगत करने का निश्चय किया और इस दुराकाक्षा की पूर्ति के विचार से एक दिन वह सुलसा को सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलकृत कर एक पर्वत-शिखर पर ले गया। सुलसा ने परिस्थिति की गम्भीरता भाँपकर उस दस्यु से प्राणदान के लिए बड़ी विनती की पर उस क्रूर का हृदय नही पिघला। इस विकट स्थिति मे भी उसने अपने मस्तिष्क का सन्तुलन नही खोया, और उसने उस दस्यु के आलिगन के स्वाग की ओट मे उसे पर्वत-शिखर के नीचे ढकेल दिया जिससे वह टुकडे-टुकडे हो गया।[14] इन कहानियो से विदित होता है कि गणिकाओ मे भी कोमल भावनामयी नारी का हृदय

होता है, मानापमान तथा आत्मसम्मान की भावनाएँ रहती हैं और उनमें भी साहस का अभाव नही होता ।

गणिका के आचरण के दूसरे पक्ष के वर्णन भी जातको मे उपलब्ध हैं । जिस प्रकार कतिपय गणिकाएँ गुणवती थी, उसी प्रकार कई गणिकाएँ अविश्वसनीय तथा क्षुद्र-विचारशीला थी । एक श्रेष्ठिकुमार अपनी प्रेमिका गणिका को प्रतिरात्रि सहस्र कार्षापण दिया करता, परन्तु एक रात वह विलम्ब से खाली हाथ पहुँचा तो उस गणिका ने उससे कहा—'आर्य, मैं गणिका हूँ, बिना सहस्र कार्षापण लिये किसी की अंकशायिनी नही बन सकती, अतः जब आपके पास एक सहस्र कार्षापण हो तो मेरे निकट आवें ।' श्रेष्ठिपुत्र ने बडा अनुनय किया, पर व्यर्थ । उस गणिका ने अपनी दासियो को उसे बलपूर्वक निकाल देने का आदेश दिया । इस अप्रत्याशित व्यवहार का उस श्रेष्ठिकुमार के हृदय पर इतना कठोर आघात हुआ कि वह ससार त्याग कर सन्यासी हो गया ।[१५] सामा नाम की गणिका ने एक दस्यु को देखा तो उस पर वह आसक्त हो गयी । उस दस्यु को राजपुरुष बाँधकर ले जा रहे थे । उसे प्राप्त करने का कोई अन्य उपाय न देख उसने उस दस्यु के बदले मे उस नवयुवक को बन्दी बना दिया जो उसे प्रतिदिन सहस्र कार्षापण दिया करता था ।[१६] उसके इस विश्वासघात के कारण दस्यु तो बच गया, पर बदले मे जान गयी उस निर्दोष नवयुवक की । इससे अधम कर्म और क्या हो सकता है ?

जातक कथाओ मे प्राय उन गणिकाओ का वर्णन मिलता है जो समृद्ध थी । अम्बपाली तथा सालवती राजगणिकाएँ थी और वे सुशोभित करती थी—राजधानियो को । समाज मे उनको धन, आदर और यश मिले । परन्तु क्या यही बात एक सामान्य गणिका के विषय मे कही जा सकती है ? प्रायः समाज चाँदी-सोने के थोडे से टुकडो के बदले शरीर-विक्रय के कर्म को हेय-दृष्टि से देखता था । इसे नीच-कर्म की सज्ञा दी गयी ।[१७] नीचघर अथवा गणिकाघर[१८] और दुरत्थि-कुम्भदासी[१९] सदृश शब्दो से यही अर्थ प्रतिभासित होता है कि वेश्या-कर्म को समाज मे सम्मान का स्थान कदापि नही दिया गया ।

६

खान-पान

मनुष्य की भोजन-सम्बन्धी आदतो का निर्माण प्रकृति करती है। जिस क्षेत्र मे जो खाद्यान्न प्रकृति मनुष्य को उपलब्ध कराती है, वह उसीको विभिन्न रूप मे ग्रहण करता है। पश्चिमोत्तर भारत मे जौ और गेहूँ उपजते है और ये ही इस क्षेत्र के निवासियो के मुख्य खाद्यान्न हैं। पूर्व और दक्षिण भारत में चावल उपजता है, अत. इन क्षेत्रो के निवासी भात तथा चावल-निर्मित भोज्य पदार्थों को उदरस्थ करते हैं। पालि-पिटक मे मज्झिम देश के जनजीवन का विशेष वर्णन होने के कारण वे अन्न के रूप मे धान का अधिक उल्लेख करते है। बौद्ध-युग मे धान की अनेक जातियो की खेती पूर्व भारत मे होती थी। पालि-पिटक मे सालि (शालि), वीहि (व्रीहि) तथा तडुल जातियो के धान के उल्लेख किये गये है,[१] पर गृहसूत्रो मे मात्र व्रीहि का।[२] पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी मे शालि, व्रीहि और महाव्रीहि का उल्लेख किया है[३] जिससे प्रतीत होता है कि व्रीहि की दो उपजातियाँ थी—एक तो वह जिसका उपभोग उच्चवर्ण के लोग करते थे, और दूसरी वह जो जनसाधारण को नसीब होती। पतजलि[४] ने मगध के शालि की बडी प्रशसा की है और सुश्रुत[५] ने उल्लेख किया है, महाशालि का। ह्यूएनसाग को सभवत शालि अथवा महाशालि चावल का भात नालन्दा मे खाने को मिला, क्योकि उसने मगध के चावल के विषय मे लिखा है कि वह सामान्य चावल से सर्वथा भिन्न प्रकार का था—उसके दाने लम्बे थे, उसमे सुगन्ध थी और उसका वर्ण चमकीला था। इस चावल का प्राय: धनी-मानी व्यक्ति ही उपयोग करते थे।[६] ह्वइली ने तो यहाँ तक लिखा है कि महाशालि धान की खेती केवल मगध मे होती थी।[७] आज भी नालन्दा क्षेत्र के वासमती चावल का कोई मुकाबला नही। पाणिनि ने हायन, षष्टिका और नीवार का भी उल्लेख किया है[८] जो सम्भवत धान की ही उपजातियाँ थी। इनके अतिरिक्त यव और कंगू के उल्लेख मिलते है।[९] पाणिनि ने अन्न मे गोधूम और गवेधूका का भी उल्लेख किया है।[१०] दाल की जातियो में खेती की जाती थी—कलाये, मुग्ग (मूग), मास (मसूर) और कोलत्थि (कुलथी) की।[११]

जातको से विदित होता है कि साधारण प्रकार का चावल तो जनता का भोजन था, परन्तु उच्चवर्ग के लोग महीन अथवा उत्कृष्ट कोटि के चावल का

भात खाते थे। लोग प्राय: पुराने चावल का भात विशेष चाव से खाते हैं और जातकों में उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन समाज में तीन वर्ष पुराने चावल का भात पसन्द किया जाता था।[१२] इतना पुराना चावल प्राय. धनवान व्यक्तियों को ही मिल पाता होगा। जो निर्धन थे और जिन्हे दैनिक मजदूरी अथवा सेवक-कर्म पर जीवन-निर्वाह करना पडता, उन्हे तो मध्यम अथवा मोटा ही चावल बदा था।

भात के लिए पालि में भत्त अथवा भक्त शब्द मिलते हैं।[१३] पाणिनि ने ने इसे ओदन की भी सज्ञा दी है।[१४] भात ऐसा खाद्यान्न है जो अकेला नही खाया जा सकता, अत: जैसा कि आजकल की प्रथा है, सामान्यतया इसे सूप (दाल) और सब्जी के साथ खाया जाता था।[१५] जातको के अनुसार मास या मछली के साथ भात का भोजन अधिकाश लोगो का मनपसन्द भोजन था। जनसाधारण ही नही, तपस्वी भी इसे बडे चाव से खाते थे।[१६] थोडा घी मिला देने पर तो यह और भी सुस्वादु हो जाता। सारिपुत्त ने बिम्बादेवी का भोजन सत्कार किया—भात, लाल मछली और ताजा घी परोस कर।[१७] पाणिनि के अनुसार भात के सग खाये जाने वाले अन्य खाद्य-पदार्थ थे—मास, मछली, सूप, सब्जी, गुड, घी आदि।[१८]

दूध-भात अर्थात् खीर भी लोगो का प्रिय आहार था। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ को इस आहार का गुण बतलाया और उनके प्रात.कालीन जलपान के लिए इसे सर्वोत्तम कहा।[१९] खीर में शहद भी मिलाया जाता था।

यवागू एक लोकप्रिय तरल खाद्य था। इसे यव अथवा भात से बनाया जाता था। पूर्व भारत मे आज भी यवागू भात निर्धन जनता का आहार है। यवागू भात तैयार करने के लिए रात्रि मे भात और पानी मिलाकर रख दिये जाते हैं। प्रातःकाल इसमे सरसो का तेल, इमली, मिर्च और नमक मिलाकर खाया जाता है।

गरीब जनता का प्रमुख आहार सत्तू भगवान् बुद्ध के समय मे भी खाया जाता था।[२०] पालि-लेखको के साथ पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार लोग सत्तू को पानी मिलाकर खाया करते थे।[२१] उदमन्थ या उदकमन्थ शब्द से विशेष प्रकार के सत्तू का बोध होता है जिसे भूजे हुए चावल से बनाया जाता है।[२२] आजकल इसे भूजिया का सत्तू कहते हैं। कुम्मास या कुल्मास निर्धन जनता का आहार था।[२३]

मनुष्य की जिह्वा को नित्य-प्रति ग्राह्य आहार से तृप्ति नही मिल पाती

है। उसे सदा शौक रहा है विशिष्ट पकवान एव मिष्टान्न का। बुद्धकाल में पूवा लोगों का प्रिय पकवान था। इल्लीस-जातक के अनुसार पूवा बनाने के लिए आवश्यकता पडती थी— चावल, दूध, चीनी, घी और शहद की। आज भी मैदा, आटा या पीसे चावल से बने पूवे का विशेष प्रचार है।

पिट्ठखज्जक शब्द मिलता है, खाजा के लिए। इसे भी लोग खूब पसंद करते थे। सारिपुत्त को खाजे अतिप्रिय थे, पर उन्होने इन्हे न खाने का प्रण कर लिया, क्योकि खाजे उनकी जिह्वालोलुपता को जागृत कर देते थे।[२४] ब्रह्मछत्त-जातक (३३६) मे वर्णन मिलता है कि एक राजा ने एक तपस्वी का सत्कार यवागू और पिट्ठखज्जक से किया। राजगृह के क्षेत्र मे खाजा अत्यत लोकप्रिय है और सिलाव, जो राजगृह के अतिनिकट है, अपने उत्कृष्ट खाजा के लिए प्रसिद्ध हो गया है। सम्भवत. बुद्धकाल मे भी राजगृह मे उत्कृष्ट खाजे बनते होगे।

पाणिनि ने पलल नामक सुस्वादु मिष्टान्न का उल्लेख किया है, जिसे तिल के चूर्ण और चीनी अथवा गुड के मिश्रण से बनाया जाता था।[२५] इसका आधुनिक रूप तिलकुट है। प्राचीन मगध मे इस मिष्टान्न का पर्याप्त प्रचार रहा होगा क्योकि गया मे आज भी उत्कृष्ट कोटि के तिलकुट बनते हैं।

पाणिनि ने पिष्टक का भी उल्लेख किया है,[२६] जिसे सुश्रुत विशिष्ट खाद्य (कृतान्तवर्ग) मानते हैं। पालि मे पिट्ठ-खादनीय का उल्लेख मिलता है। पिष्टक चावल की लप्सी से बनता था और आज भी पूर्व भारत की ग्रामीण जनता इसे पीठा के नाम से बनाकर चाव से खाती है। पिष्टक का प्रचलन निम्न एवं मध्यवर्गीय परिवारो तक ही सीमित रहा होगा। इनके अतिरिक्त कई तरह के अन्य पकवान और मिष्टान्न बनते होगे जिनके उल्लेख का प्रसग ही न आया हो।

मनुष्य के आहार मे अति प्राचीन काल से दुग्ध तथा दुग्ध-निर्मित खाद्य का प्रमुख स्थान रहा है। बुद्धकालीन साहित्य मे भी दुग्ध के साथ दही, मक्खन और घी के उल्लेख मनुष्य के प्रिय आहार के रूप में मिलते हैं।[२७]

दुग्ध के समान फल और सब्जियों का भी मनुष्य के प्रमुख आहार मे स्थान है। इस युग मे भी आम, जामुन आदि अनेक प्रकार के फलों तथा कद्दू, कुम्हड़े, ककड़ी इत्यादि विभिन्न सब्जियों को भोजन का अग बनाया गया।[२८]

मांसाहार— प्रागैतिहासिक युग का मनुष्य मांसाहारी था, और जब

सभ्यता का विकास हुआ, तब भी मास उसका एक मुख्य भोजन बना रहा। वैदिक आर्य मासाहारी थे। ऋग्वेद मे इन्द्र तथा अग्नि का वर्णन पशुमास-भक्षी के रूप मे उपलब्ध होता है।[२९] यज्ञाग्नि मे अश्व, वृषभ, बैल, गाय, भेड आदि विभिन्न पशुओ की आहुति देने के उल्लेख मिलते है।[३०] उत्तर वैदिक युग मे भी मासाहार के प्रति लोगो की रुचि मे परिवर्तन नही दीखता। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार मास को उन दिनो सर्वोत्तम भोजन माना जाता था और याज्ञवल्क्य मुनि ने मास भक्षण किया भी।[३१]

जब हम बुद्ध-युग मे पहुँचते हैं तब भी मांसाहार के प्रचलन में कोई कमी दृष्टिगोचर नही होती। पालि-पिटक से विदित होता है कि जैनियो तथा बौद्धो के अहिंसावाद के प्रचार के कारण जनता के आहार-सम्बन्धी व्यवहार मे कोई परिवर्तन नही हुआ। अहिंसावाद के प्रचारक ही निवेदन करने पर मास-भक्षण कर लेते थे। बौद्ध-भिक्षु भिक्षा मे गृहस्थो द्वारा प्रदत्त मास स्वीकार करते ही थे।[३२] महापरिनिब्बान-सुत्त के अनुसार भगवान् बुद्ध ने पावा मे चुन्द कर्मार-पुत्र के घर शूकर-मार्द्दव खाया।[३३] उनके मुख से यह भी कहलाया गया है कि वस्तुतः मास खाने मे कोई दोष नही, दोषी तो वह है जो जीवहिंसा करके मास खाता है। बौद्धो का यह तर्क हृदयगम नही किया जा सकता, क्योकि खानेवालो की तुष्टि के लिए ही मास बनाया जाता है, और यदि मास खानेवाले ही न हो तो पशु-पक्षी का वध ही क्यो होगा? खाने और मारने वाले दोनो को हत्यापराध का समान भागी मानना चाहिए। वस्तुत समाज मे मासाहार की लोकप्रियता के कारण बुद्ध ने इसका सर्वथा निषेध नही किया। मासाहार-सम्बन्धी उनका निषेध भिक्षुओ तक ही सीमित रहा और यदि उन्हे भी गृहस्थ भिक्षा मे मास दे देते, तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे। जैन-मत मे हिंसा का निषेध होने के कारण इस प्रकार की छूट नही दी गयी और जैन-मतावलम्बी विशुद्ध शाकाहारी बने।

पालि-निकाय मे गोघातक, मेषघातक, अजघातक, शूकरघातक, मृगलुब्धक, शाकुनिक तथा हत्यागृहो के उल्लेख[३४] से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समाज मे मासाहार के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप अनेक पेशेवर जातियो का प्रादुर्भाव हुआ जो पशु-पक्षियो को पकडने, मारने तथा मास-विक्रय के कर्मो द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते थे। वे निगम तथा नगर के बाजार मे विक्रय के लिए शकटों मे भरकर मास ले जाते।[३५] जब उत्सव मनाये जाते या विवाह-सदृश कोई अवसर आता तो लोग जी भर कर मास खाते। राजकीय पाक-

गृह मे मांस-मछली का खुलकर उपयोग किया जाता था।[11] वहाँ किस प्रकार पशु-पक्षी का वध होता था, इसका अनुमान अशोक के प्रथम शिला-अभिलेख से लगाया जा सकता है जिसके अनुसार प्रतिदिन सैकड़ो हजार प्राणियो का वध किया जाता था।

जातक कथाओ में बतलाया गया है कि ब्राह्मण बडे चाव से मांस-मछली खाते थे। वे यज्ञ और श्राद्ध मे मासाहार ग्रहण करते; श्राद्ध मे प्रायः बकरा काटा जाता।[17] जातको मे वर्णित ब्राह्मणो के मासाहार ग्रहण करने का समर्थन होता है, धर्मशास्त्र से। आपस्तम्ब ने वैदिक आचार्य के लिए मासाहार का निषेध किया है—उपाकर्म और उत्सर्ग के मध्य की अवधि मे,[18] जिससे प्रतीत होता है कि वे वर्ष के अन्य महीनो मे मास खा सकते थे। इस व्यवस्था से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक आचार्य तथा पुरोहित के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों के लिए मासाहार-सम्बन्धी प्रतिबध नही लगाये गये। आपस्तम्ब ने यह भी कहा है कि मास से अतिथि-सत्कार करने वाला व्यक्ति द्वादशाह-यज्ञ करने के तुल्य फल का भागी होता है।[19] मधुपर्क मे मास खाने का रिवाज था और ब्राह्मण अतिथि के आतिथ्य मे मास की व्यवस्था न करने का कोई कारण नही दीखता। सम्भावना तो इस बात की जान पडती है कि आतिथ्यकर्त्ता अधिक पुण्यफल प्राप्त करने की आशा से ब्राह्मण अतिथि के आतिथ्य मे यथासम्भव उत्कृष्ट भोजन की व्यवस्था करता होगा जिसमे मास की प्रमुखता रहती होगी। मनु के अनुसार ब्राह्मण अतिथि को श्राद्ध मे मास खिलाना चाहिए।[40] वे यह भी कहते हैं कि श्राद्ध मे मासाहार अस्वीकार करने वाला ब्राह्मण इक्कीस बार पशु-योनि में जन्म पाता है।[41] मनु के इस कथन से इसमे सन्देह नही रह जाता कि यज्ञ तथा श्राद्ध-सदृश धार्मिक समारोहो मे तथा आतिथ्य मे ब्राह्मण मासाहार करते थे। यूनानी लेखको ने भी लिखा है कि जब ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थ हो जाते, तो वे मासाहार करते।[42]

मृगमास खूब खाया जाता था। मृग का आखेट करनेवाले मृगलुब्धक[43] कहलाते थे और उनकी एक अलग जाति बन गयी। वे मृगमास को शकटों में लाद कर निगम तथा नगर के बाजार में विक्रय के लिए ले जाते।[44] सम्राट् अशोक भी बौद्ध होने के पूर्व मृगमास के बडे प्रेमी थे।

शूकरमास खाने वालों की सख्या न्यून नहीं जान पडती। पालि-निकाय में शूकरिक अथवा शूकरघातक का उल्लेख है[45] और शूकरमांस की गणना उत्तम दक्षिणा-सामग्री मे की गयी है।[46] विवाह-भोज के दिन शूकर मारने की प्रथा

प्रचलित थी।[47] इस रिवाज का आज भी कही-कही प्रचलन है। जातको से प्रतीत होता है कि केवल जनसाधारण ही नही, उच्च-जातीय भी शूकरमांस-भक्षी थे। आज भी राजस्थान के क्षत्रिय शूकरमास खाते हैं, पर वनशूकर का, जो शास्त्रसम्मत है। धर्मशास्त्र[48] मे ग्रामशूकर के मास का निषेध होने से यह उच्च जातियो मे अखाद्य माना जाता रहा है, पर पालि-ग्रंथो मे इसका कोई सकेत नही मिलता। कभी-कभी मारने के पूर्व शूकर को खिला-पिलाकर मोटा बनाया जाता था।[49]

गोमास अभक्ष्य तो नही माना जाता था परन्तु समाज का एक वर्ग गाय के प्रति श्रद्धालु हो चुका था। उपयोगी साँढ-बैल की भी हत्या न करने के विचार पनप रहे थे। बौद्ध लेखको ने अपने ब्राह्मण-विरोध के कारण ब्राह्मणो द्वारा गोहत्या करने तथा गोमास-भक्षण का अतिरजित वर्णन किया है। पालि-निकाय मे गोघातक तथा उसके अन्तेवासी,[50] गोहत्या-स्थल (गोघातकसूनम्)[51] तथा गो-हत्या मे प्रयुक्त छूरे[52] के उल्लेख से प्रमाणित होता है कि गोमास भक्ष्य था, परन्तु एक स्थान पर दुर्भिक्षकाल मे वृद्ध बैल की हत्या[53] के वर्णन से प्रतीत होता है कि प्राय उपयोगी गाय-बैल नही मारे जाते थे। जब दुर्भिक्षकाल मे वृद्ध बैल की हत्या करनी पडी, तो सामान्यावस्था मे उपयोगी गाय-बैल शायद ही मारे जाते हो ऐसा प्रतीत होता है। परस्पर-विरोधी उल्लेख उपलब्ध होने के कारण गोमास-भक्षण के विषय मे निश्चित निर्णय करना कठिन हो जाता है। आपस्तम्ब गोमास-ग्रहण की अनुमति देते है।[54] श्राद्ध[55] तथा मधुपर्क[56] मे आतिथ्य हेतु गोहत्या की अनुमति भी धर्मशास्त्र मे दी गयी और शूलागव-यज्ञ मे साँढ मारा जाता था।[57] अत अवसर-विशेष पर समाज मे गोमास अखाद्य नही माना जाता था, यद्यपि अधिकाश जनमत इसके विपक्ष मे रहा होगा।

जातक कथाओ के अनुसार लोग कबूतर, हस, क्रौच, मयूर, काक तथा मुर्गे के मास खाते थे।[58] धर्मशास्त्र मे उन पक्षियो के मास का निषेध मिलता है जो मासभोजी, ग्रामवासी तथा विष्ठा के ढेर को खरोचने वाले हैं।[59] चातक, सुग्गे, सारस आदि भी अभक्ष्य माने गये हैं।[60] लोगो मे यह धारणा व्याप्त थी कि मासाहारी भक्ष्य-पक्षी के गुण-दोषो को ग्रहण कर लेगा,[61] अत निष्ठुर पक्षी के मास को अभक्ष्य माना गया। पालतू पक्षी के प्रति पोषक के हृदय मे अपनत्व तथा सवेदना के भाव घर कर लेते है, अतः उनको मार कर खा जाना अनुचित माना गया। निषेध होने पर भी ग्रामवासी मुर्गे का मास खाया करते थे। वस्तुतः ग्राम-कुक्कुट को उसकी गन्दी आदतो के कारण

अभक्ष्य माना गया था, अतः द्विजातियो मे तो इस नियम का पालन होता था, पर निम्नवर्ग मे ग्राम्य-कुक्कुट भक्ष्य बना रहा ।

पालि-निकाय मे उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि मछली का मांस समाज के सभी वर्ग मे भक्ष्य माना जाता था। ब्राह्मण तथा अब्राह्मण सभी चाव से मछली खाते थे। राजकीय पाकशाला मे विभिन्न जातियो की मछलियो का मास बनता था।[६२] पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार अन्नप्राशन मे शिशु को मछली खिलाना चाहिए।[६३] धर्मशास्त्र मे भी मछली को भक्ष्य की श्रेणी मे स्थान मिला, परन्तु सभी प्रकार की मछलियो के मास खाने की अनुमति नही दी गयी। चेत, मकर, सर्पाकृति, विचित्राकृति तथा मृतमत्स्यभोजी मछलियो को आपस्तम्ब अभक्ष्य मानते है।[६४] मनु के अनुसार प्राय: सिहाकृति तथा वल्कावृत मछलियो को ही खाना चाहिये, पर देवपितृयज्ञ मे पाठिन और रोहित भी भक्ष्य है।[६५] बुद्धकालीन समाज मे मत्स्य-भोजियो की सख्या न्यून प्रतीत नहीं होती है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मत्स्य-व्यवसाय मे सलग्न लोगो की सख्या पर्याप्त रही होगी।

जातक कथाओ से यह भी विदित होता है कि गोध तथा सर्पों को भी मार कर लोग खा जाते[६६] थे, यद्यपि धर्मशास्त्र मे ये भक्ष्य नही माने गये हैं। आज भी ससार के कतिपय देशो मे सर्पमास खाया जाता है। भारत मे भी कुछ पिछडी जातियो मे सर्प का मास खाने की प्रथा है और प्राचीन काल मे भी ऐसा ही होता होगा। गोध अभक्ष्य रहा है, पर जातको मे तपस्वियो को भी गोधमास खाते हुए दिखलाया गया है। गोध-जातक (१३८) मे वर्णन मिलता है कि ग्रामवासियों ने अनेक गोध पकडकर मार डाला और उनका मास पकाकर सिरका और नमक के साथ तापसो को परोसा तो वे बडे प्रसन्न हुए। पुन. दूसरी कहानी मे बतलाया गया है कि एक तापस को गोधमास इतना भाया कि उसने स्वय गोधवध कर मास बनाने का निश्चय किया।[६७] इस तरह के वर्णन के मूल मे ब्राह्मण-तापसो को लालची बतलाना तथा तपश्चर्या की निरर्थकता सिद्ध करना बौद्धो का लक्ष्य था, परन्तु कही-कही कुटुम्बिको को भी गोधमासभक्षी बतलाया गया है।[६८] इस विषय मे इतना ही सत्य प्रतीत होता है कि समाज के निम्नवर्ग मे गोधमास खाया जाता था।

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणो से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समाज का बहुसख्यक समुदाय मासाहारी था। जैन एव बौद्ध-मत के प्रवर्तको ने अहिंसाधर्म का उपदेश दिया, श्रमण एवं भिक्षु के लिए हिंसा और मासाहार

का निषेध किया गया। ब्राह्मणो के एक वर्ग तथा ब्रह्मचारी के लिए भी मांसाहार वर्जित हुआ, परन्तु बौद्ध-मत मे उपासकों के लिए मांसाहार का निषेध न होने के कारण बौद्ध मांसाहारी बने रहे।

सुरापान—मासाहार के समान सुरापान की प्रथा भी मानव-समाज में अति प्राचीन काल मे प्रचलित हुई। ऋग्वेदकालीन समाज मे दो प्रकार के मादक पेय—सोम और सुरा बनाये जाते थे। सोम तो अर्पित किया जाता था देवताओ को और उसका पान करते थे पुरोहित, पर सुरा सर्व-साधारण का पेय थी। अथर्ववेद मे स्वर्ग की कल्पना से प्रतीत होता है कि सुरापन को हेयदृष्टि से नही देखा जाता था। अथर्ववेद के अनुसार स्वर्ग एक ऐसा लोक है जहाँ घी और शहद की झीले है और जहाँ प्रवाह है, सुरा-सरिताओ का।[६९] ब्राह्मणो में सुरा-निर्माण का वर्णन मिलता है।[७०] वहाँ इस बात का भी उल्लेख है कि सौत्रामणी-यज्ञ में अर्पित सुरा के उच्छिष्टाश के पान के लिए ब्राह्मण को नियुक्त किया जाता था।[७१] काठक-सहिता का कथन है कि ब्राह्मण को मद्यपान से दूर रहना चाहिये, पर क्षत्रिय को इसमें कोई दोष नही होता।[७२] बुद्ध-पूर्व काल में भी ब्राह्मण-समुदाय में सुरापान का विरोध आरम्भ हो गया था, पर ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए इसमें प्रतिबन्ध के प्रमाण नही मिलते।

पालि-पिटक, जैन-आगम तथा तत्कालीन धर्मशास्त्र मे उपलब्ध प्रमाणो से विदित होता है कि समाज मे मद्यपान का व्यापक प्रचार था। ब्राह्मण-तापस, पुरोहित, ब्रह्मचारी, श्रमण, भिक्षु आदि मद्यपान-विरत रहते, पर गृहस्थ-वर्ग के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही दीखता। मादक पेय के रूप मे सुरा और मैरेय (मेरय) के उल्लेख मिलते है।[७३] मद्यपान को तत्कालीन समाज मे बुरा नही माना जाता था, क्योकि गृह्यसूत्रो के अनुसार श्राद्ध मे पितरो के लिए सुरा का तर्पण किया जाता था।[७४] जातको मे वर्णन उपलब्ध होते है मधुशाला के, जहाँ पीने वालो की भीड लगी रहती और बेचने के लिए घडो मे भर-भर कर रखी रहती—सुरा।[७५] मधुशाला के स्वामी को उनके अन्तेवासी कार्य-सचालन मे सहयोग करते थे।[७६] मधुशाला के स्वामी प्राय. धनी श्रेष्ठि हुआ करते थे जिनकी समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी। सुरापान करने वालो मे केवल साधारण लोगो के उदाहरण उपलब्ध नही होते हैं, परन्तु करोड़पति श्रेष्ठियो के भी।[७७] सुरापान के लिए लोग मधुशाला मे सपत्नीक भी जाते थे।[७८] इन सबसे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे सुरापान का वही स्थान था जो आज पाश्चात्य देशो के समाज मे उसका है।

बुद्धयुग के सामाजिक जीवन मे कई ऐसे अवसर आते थे जब सुरापान खुलकर होता था। पालि तथा जैन ग्रथो से ज्ञात होता है कि लोग उत्सव के दिन जी भर कर खाते-पीते और आनन्दोल्लास मनाते जिसमे मद्यपान का प्रमुख स्थान होता।[७९] एक उत्सव का तो नाम ही सुरानक्षत्र (सुरानक्खत) पड़ गया था जिसकी विशेषताएँ थी— अनियन्त्रित सुरापान, भोजन तथा नृत्य-सगीत।[८०] सुरानक्षत्र मे सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या, तापस लोग भी अपना नियंत्रण खोकर सुरापान कर बैठते थे।[८१] कुम्भ-जातक (५१२) मे सुरापान की एक विचित्र प्रथा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"एक राजा ने अपने राज-प्रासाद के प्रागण मे निर्मित मडप मे आसीन हो मद्यपान किया। उस समय वहाँ नगरवासी काफी सख्या मे उपस्थित थे और उनलोगो ने भी राजा का साथ दिया।" इस कहानी मे आगे चलकर सुरापान के दोष भी बतलाये गये हैं।

यद्यपि मद्यपान के व्यापक प्रचार के उल्लेख मिलते है, परन्तु बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण लेखको ने समान रूप से पुरोहित वर्ग के लिए इस व्यसन का निषेध किया है। विनय के नियमानुसार श्रामणेर तथा भिक्षु के लिए सुरापान वर्जित था।[८२] केवल रुग्ण होने पर औषधि के रूप मे सुरा का अश लेना निर्दोष माना जाता था।[८३] महासुतसोम-जातक (५३७) के अनुसार ब्राह्मण मद्य-पान को दुष्कर्म मानते थे।[८४] सदाचारी व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह इस व्यसन से मुक्त हो। जैन-सूत्रो मे ब्राह्मणो को उन उत्सव-स्थानो मे जहाँ सुरापान होता, दूर रहने के आदेश दिये गये है।[८५]

धर्मशास्त्र मे ब्राह्मण के लिए सुरापान का सर्वथा निषेध किया गया,[८६] पर क्षत्रिय-वैश्य के लिए नही। गौतम क्षत्रिय-वैश्य को पैष्टि नामक सुरा का पान करने की अनुमति देते हैं।[८७] वशिष्ठ के अनुसार जो ब्राह्मणी मद्यपान करेगी उसके लिए पतिलोक का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। यदि पत्नी सुरापान करेगी तो उसका पति भी दुष्कर्म का भागी हो जायगा, क्योकि स्त्री पुरुष की अर्धांगिणी है।[८८] गौतम और मनु सुरापायी ब्राह्मण के लिए कठोर प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।[८९] विष्णु के अनुसार दस प्रकार के मद्य केवल ब्राह्मणो के लिए वर्ज्य हैं, क्षत्रिय-वैश्य के लिए नहीं।[९०] इससे स्पष्ट है कि अब्राह्मण-समुदाय मे सुरा-पान का प्रचलन था। वस्तुतः नशे की दशा मे मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिससे वह अवाछित कर्म कर बैठता है। अतः आध्यात्मिक तथा बौद्धिक

कर्मों मे सलग्न रहने वाले ब्राह्मण को इस व्यसन से दूर रखने की व्यवस्था दी गयी। मनु का विचार है कि यदि ब्राह्मण सुरापायी हो जायगा तो उससे अब्राह्मणोचित कर्म हो जाने की सभावना रहेगी।[११] जैन-सूत्रो के अनुसार मद्यपान के फलस्वरूप लोग अनियन्त्रित हो जाते थे।[१२] एक जातक मे वर्णन मिलता है कि सुरानक्षत्र नामक उत्सव मे लोग सुरापान कर मदोन्मत्त हो झगड़ने लगते, जिससे कितनो के सिर फूटते और कितनो के हाथ-पैर टूट जाते।[१३] संभवतः इसी कारण धर्मशास्त्र मे सभी वर्ग के ब्रह्मचारी तथा विद्यार्थी के लिए मद्यपान का निषेध किया गया।[१४] जब मद्यपान के दुष्परिणाम पर समाज के सदाचारी वर्ग का ध्यान केन्द्रित हुआ और उन्होने यह अनुभव किया कि समाज के हित मे क्षत्रिय-वैश्य भी नशे के व्यसन से मुक्त रहे, तो द्विजाति-मात्र के लिए सुरापान को निषिद्ध घोषित किया गया,[१५] परन्तु ब्राह्मणेतर वर्ग के गृहस्थ मद्यपान करते रहे।

वस्तुतः ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ तथा अन्य तापस और सभी वर्ण के ब्रह्मचारी मद्यपान से दूर रहे, फिर भी यह साधिकार नही कहा जा सकता कि शतप्रतिशत ब्राह्मण-समुदाय इस व्यसन से मुक्त था। जातको के अनुसार ब्राह्मण भी उत्सवो मे सुरापान कर लेते थे। बुद्ध युग मे व्यवसायो की सख्या मे अतिशय वृद्धि हुई और ब्राह्मणो ने भी परिस्थितिवश कृषि, वाणिज्य तथा विभिन्न शिल्पो के क्षेत्र मे प्रवेश किया। इस बात की सभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता कि इस श्रेणी के ब्राह्मण अवसर-विशेष पर मद्यपान न करते हो। मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को मद्यपा-पत्नी का परित्याग कर देना चाहिए। मनु की यह व्यवस्था इस बात का द्योतक है कि यदि आदर्श ब्राह्मण का विवाह ऐसे ब्राह्मण-कुल की कन्या से सपन्न हो जाय जहाँ मद्यपान का रिवाज है, तो उस अवस्था मे उस ब्राह्मणकन्या को चाहिए कि वह अपनी पुरानी आदत को छोड दे। निषेधादेश के बावजूद अनेक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मद्यपान के आदी रहे होगे। धर्माचार्यों की ओर से उन्हे मद्यपान से विरत करने के प्रयास का श्रीगणेश हो जाने पर उसका शनै-शनै प्रभाव पडने लगा। सैनिक, सामन्त, रईस, श्रेष्ठि तथा जनसाधारण अवसर-विशेष पर मद्यपान किया करते थे। मद्यपान पर जो धार्मिक प्रतिबन्ध लगाये गये उनका पालन उत्सवो मे नही हो पाता था जब गृहस्थजन उन्मुक्त सुरापान करते।

७

वस्त्राभूषण

वस्त्र-उद्योग—नगर-सभ्यता के उत्कर्ष के इस युग मे नागरिकों के पहनने-ओढ़ने के शौक मे पर्याप्त वृद्धि हुई जिससे एतद्विषयक व्यवसाय, जैसे—कताई, बुनाई, रगाई, सिलाई इत्यादि को पनपने के काफी अवसर मिले। पालि-पिटक तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी मे इसके उल्लेख मिलते हैं कि कपास, रेशम, क्षौम, ऊन तथा सन के धागो से अनेक प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे।[1] बुनकर (पेसकार, तन्तुवाय),[2] कपडे बुनने के उपकरण (तन्तभण्ड)[3] और बुनाई के स्थान (तन्तवितट्ठानम्)[4] के भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। कपडे बुनने के उद्योग के पनपने के साथ-साथ सीने-पिरोने के व्यवसाय के चमकने के भी प्रमाण मिलते है। बौद्ध-भिक्षु अपने चीवरो की सिलाई स्वयं करते थे। इसके लिए उन्हे सुई और कैंची रखनी पडती थी।[5] जातको मे सुई बनाने के वर्णन मिलते हैं।[6] चुल्लवग्ग मे दर्जी द्वारा कपडो की सिलाई का काम करने तथा उसकी दूकान का वर्णन किया गया है।[7] महावग्ग मे कपडा काटने, सीने और रफू करने के शब्दो के उल्लेख किये गये हैं।[8] कौटिल्य ने इस बात का उल्लेख किया है कि तत्कालीन समाज मे कुशल कारीगर सूत्र, वर्म, वस्त्र और रज्जू का निर्माण करते थे।[9] अत: इन प्रमाणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत मे सिले कपडे पहनने का प्रचलन अत्यत प्राचीन काल से चला आ रहा है।

जिन नगरो मे वस्त्रोद्योग के पनपने के साधन उपलब्ध थे, वे अब इस व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र बन गये। बौद्ध-ग्रथो मे बनारसी (वाराणसेय्यक) वस्त्रो की बडी प्रशसा की गयी है।[10] काशिराज्य मे बने कपडे (काशीय, काशीकुत्तम) अत्यंत उत्कृष्ट माने जाते थे। वहाँ के उत्कृष्ट वस्त्रो मे एक अड्ढकासिक नामक वस्त्र भी था जो सभवत: आधुनिक अद्धी के समान बारीक कपड़ा रहा होगा।[11] महापरिनिब्बाणसुत्त के टीकाकार के अनुसार भगवान् बुद्ध के शव को वाराणसी मे बने ऐसे कपड़े से लपेटा गया था जो इतना महीन

और गँठ कर बुना हुआ था कि उसमे तेल भी प्रवेश नही कर सकता था।[१२] बनारसी वस्त्र के विषय मे यह भी कहा गया है कि वह हर तरफ से नीली झलक मारता था और इसके साथ ही वह लाल, पीला तथा सफेद भी हो जाता था।[१३] वाराणसी मे सूती वस्त्र के अतिरिक्त रेशमी, क्षौम और ऊनी वस्त्र भी बनते थे।[१४] इस नगर मे वस्त्रोद्योग के पनपने मे यहाँ का प्राकृतिक वातावरण प्रमुख सहायक था, परन्तु इस उद्योग मे सलग्न स्थानीय कारीगरो की कार्य-कुशलता की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नही थी। काशिराज्य मे कपास की अच्छी खेती होती थी, वहाँ की कत्तिने और बुनकर अपनी कला मे पटु होते थे और वहाँ का नरम पानी धुलाई के लिए अनुकूल पडता था।

आज की तरह प्राचीन भारत के बाजार मे भी देश के पश्चिमोत्तर भाग मे बने ऊनी वस्त्रो की धाक थी। उड्डीयान (कश्मीर) तथा गाधार के रक्त-कबल की प्रशसा मिलती है।[१५] शिवि-राज्य के ऊनी शाल (सीवेय्यक दुस्स)[१६] की भी प्रसिद्धि कम नही थी। उस राज्य मे बने एक वस्त्र का, जो सभवत: दुशाला रहा होगा, मूल्य शिवि-जातक मे एक लाख कार्षापण आँका गया है, जिससे प्रतीत होता है कि शिवि देश के दुशाले काफी महँगे पडते थे। पठान-कोट के क्षेत्र मे बने कोटुम्बर नामक ऊनी वस्त्र की गणना भी उत्कृष्ट कपडो मे की जाती थी।[१७] पश्मीना (राकव:) का उल्लेख अर्थशास्त्र[१८] मे किया गया है, और सभवतः मौर्यकाल से पूर्व भी यह वस्त्र बनता था। क्षौम के वस्त्र भी बुने जाते थे जो काफी महीन और सुन्दर होते थे। क्षौम अलसी (अतसी) की छाल के रेशो से बनता था।[१९] सन के धागो से भी कपडा बुना जाता था जो शाण कहलाता था।

इस प्रकार हम पाते है कि बुद्धकालीन समाज मे भिन्न-भिन्न प्रकार के धागो से वस्त्र बनते थे और कपडो की सिलाई भी होती थी। पालि-पिटक मे स्त्री-पुरुष, राजा-रानी, धनी-मानी नागरिक, साधारण गृहस्थ, ब्राह्मण-श्रमण, भिक्षु-भिक्षुणियाँ आदि के वस्त्राभूषणो के वर्णन मिलते है। सूत्र-ग्रन्थो, पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी इस विषय की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है, परन्तु तत्कालीन समाज मे प्रचलित पहनावे के वास्तविक नमूनो के लिए पारखम तथा बडौदा से प्राप्त यक्ष-मूर्तियो, दीदार-गज और बेसनगर की यक्षिणी मूर्तियों, साँची तथा भारहुत की वेदिकाओं एव तोरणो मे उत्कीर्ण चित्रो तथा मिट्टी की मूर्तियो को देखना अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। इनसे यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि इस विशाल देश के जन-जीवन

में जो विविधता है वह न्यूनाधिक रूप में यहाँ की वेश-भूषा में भी दृष्टिगत होती है।

विभिन्न परिधान—वस्त्र के विषय मे उपलब्ध प्रमाणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग के समाज मे कपास, रेशम, क्षौम तथा ऊन के विभिन्न आकार-प्रकार के रंग-बिरंगे परिधान धारण करने का काफी प्रचलन हुआ। अब कपडो पर कशीदाकारी भी होने लगी और लोग सोने-चाँदी के रत्न-जडित आभूषण भी पहनने लगे। महापरिनिर्वाणसूत्र मे वर्णन मिलता है कि जब भगवान् बुद्ध वैशाली गये, तो रग-बिरगी पोशाक पहन कर वहाँ के नागरिको ने उनका स्वागत किया। वैशाली-वासियो ने अपने शरीर के वर्णों से मेल खाते हुए वस्त्राभूषण धारण कर रखा था। साँवले रग वालो ने गहरे नीले रग का वस्त्राभूषण धारण किया था और गौर वर्ण के लोगो ने हल्के रग के कपड़े और गहने पहने थे। रगो के मेल पर ध्यान देने मे स्त्रियाँ अधिक सजग रहती थी, इसके भी उल्लेख मिलते हैं। सिरिकालकण्णि-जातक मे वर्णन मिलता है कि कालकण्णि नामक युवती ने एक श्रेष्ठि से मिलते समय नीले रंग के वस्त्र, नील-विलेपन और नील-मणियों से अपने शरीर का शृंगार किया था। मेगास्थनीज ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि तत्कालीन भारतीय नागरिक वस्त्राभूषण के मामले मे बडे शौकीन होते थे। उनके वस्त्र उत्कृष्ट कोटि के मलमल के बनाये जाते, जिनमे जरी के काम तथा बहुमूल्य पत्थर जडे होते। उसने यह भी लिखा है कि मौर्यकालीन दार्शनिक अनेक तरह के रग-बिरगे चमकीले कपडे पहना करते थे। वे मलमल के बने वस्त्र पहनते, पगडी बाँधते और इत्र लगाते।[२०]

गृहस्थो के परिधान मे साधारणतया दो वस्त्र होते थे—धोती (अन्तरवासक) और दुपट्टा (उत्तरीय, उत्तरासग)। उत्खनन मे प्राप्त मिट्टी की मूर्तियो से प्रतीत होता है कि कुछ लोग तो अधोवस्त्र-मात्र धारण करते थे और कुछ लोग सम्पूर्ण शरीर को वस्त्र से ढँकते थे, अर्थात् ऊपर से उत्तरीय ओढ़ते थे। यदि शहरी इलाके को छोड दिया जाय, तो आज भी अधिकाश भारतवासी मात्र धोती पहने हुए और कधे पर अगोछा या उत्तरीय रखे दीख पड़ेंगे। एरियन ने लिखा है कि अधोवस्त्र घुटने तक पहना जाता था।[२१] साँची तथा भारहुत के उत्कीर्ण चित्रो मे भी साधारण गृहस्थ अधोवस्त्र पहने हुए तथा उत्तरीय ओढे दीखते हैं। सेट्ठि तथा अन्य उच्च-वर्ग के लोग पगड़ी बाँधे हुए हैं।

स्त्रियो तथा पुरुषों के कचुक पहनने के भी उल्लेख मिलते हैं ।[२२] पुरुष का कंचुक कुरता जैसा कोई वस्त्र रहा होगा ।[२३] स्त्रियो के कंचुक का आकार चोली-सदृश रहा होगा । स्त्रियाँ प्रायः साडी (साटक) या घाघरा, उत्तरीय (उत्तरासग) तथा चोली पहना करती थी ।[२४] रानियाँ जो साड़ी पहना करती थी वह सामान्यतया सट्टसाटक कहलाता था ।[२५]

यद्यपि जनता की वेश-भूषा सादी थी, परन्तु लोग अपने सादे कपडे को बडे आकर्षक ढंग से पहना करते थे । दीदारगज की यक्षिणी-मूर्ति की साड़ी एडियो तक पहुँचती है, साडी मे पटका (फासुका) खोसा हुआ है और एक बटा हुआ दुपट्टा लटक रहा है । भारहुत के उत्कीर्ण चित्रो मे स्त्रियाँ घुटने तक साडी पहने दीखती हैं जो भारी करधनी और कमरबद से बधी है और जिसके फुदनेदार छोर एक ओर लटकते हैं । कमरबद से लहरियादार पटके भी सलग्न दिखलाये गये है । शरीर का ऊपरी भाग विवृत है । कही-कही मलमली चादर के चिन्ह भी दीखते हैं ।

पुरुष भी अपने कपडे बडे आकर्षक ढग से पहना करते थे । अधोवस्त्र अर्थात् धोती अनेक प्रकार से पहनी जाती थी जिसके लिए विभिन्न नामो के उल्लेख मिलते हैं, जैसे—हस्तिशौडिक, मत्स्यवालक, चतुष्कर्णक, तालवृन्तक तथा शतवल्लिक ।[२६] धोती या साडी पहनने मे लाँग पीछे बाँध ली जाती थी । कायबध बाँधने की भी अनेक विधियाँ प्रचलित थी और आकार के अनुसार इसके अनेक नाम पडे । कलाबुक नाम का कमरबद बटी रस्सियो से बनाया जाता था । डेड्डुभक कमरबद का आकार जल मे रहने वाले डेढे सर्प के सदृश रहता था । मुरज ढोल के आकार का होता था और मद्वीन मे एक आभूषण लटकता रहता था ।[२७] कलात्मक कमरबन्द और पटके बाँधने का प्रचलन पुरुषो की तुलना मे स्त्रियो मे अधिक था । पटके बाँस के रेशे, चर्मपट्ट, ऊर्ण-पट्ट, गुथे हुए ऊन, बटे हुए ऊन, बटे हुए चोलवस्त्र, गुँथे हुए चोलवस्त्र और गुँथे हुए सूती वस्त्र के बनाये जाते थे ।[२८]

उत्तरासग (उत्तरीय, दुपट्टा) ओढने की अनेक विधियो के नमूने प्रस्तर-मूर्तियो मे देखने को मिलते है । एक विधि तो यह थी कि उत्तरीय बायें कधे के ऊपर से आकर वक्षस्थल के ऊपर से होता हुआ नीचे ले जाया जाता और नाभी के नीचे गाँठ लगाकर बाँध दिया जाता ।[२९] कभी-कभी उत्तरीय को छाती के निम्न-भाग की बायी ओर फेककर ओढ लिया जाता था जिससे

इसका एक छोर बायी ओर लटकता रहता ।[10] साँची तथा भारहुत के उत्कीर्ण चित्रो मे उत्तरीय ओढ़ने की जो सामान्य विधि दीखती है उसमे इसका एक छोर बायें कधे के ऊपर से पृष्ठभाग मे डाल दिया जाता था और दूसरा दाहिनी ओर कमर से थोडा ऊपर करके छाती पर इस प्रकार रखा जाता था कि इसके दोनो छोर बायी ओर, एक तो सामने और दूसरा पीछे लटकता रहता ।[11]

भारतीय परिधान मे पगडी (उष्णीष) बाँधने की प्रथा काफी प्राचीन है और बुधकाल में भी इसका समाज के उच्चवर्ग मे विशेष प्रचलन था। उन दिनों लोग बडे ही आकर्षक आकृतियो की पगडियाँ बाँधते थे। भारहुत के उत्कीर्ण चित्रो मे पगडियो की बहार देखने को मिलती है। लोग लट्टूदार, झालरदार, चूनरदार, कामदार, पान की आकृति के आभूषणयुक्त, पुष्पालंकार-युक्त इत्यादि अनेक प्रकार की पगडियाँ बाँधे हुए दिखलाये गये है।[12] उन दिनो सामान्यतया दो प्रकार की पगडियाँ बाँधने की विधि प्रचलित थी। पहले प्रकार मे सिर पर केश का जूडा बाँध दिया जाता था, तत्पश्चात् पगडी के दो फेटे मस्तक के ठीक मध्य से ले जाकर जूडे को ढँक दिया जाता और उसके दोनो छोर खोस दिये जाते। दूसरी थी भारी पगडी, जिसमे सारा सिर ढँक दिया जाता।[13]

मनुष्य के पैरो की रक्षा के लिए उसके पहनावे मे जूतो, चप्पलो तथा पादुकाओ का विशेष महत्त्व रहा है। भगवान् बुद्ध ने जब एक भिक्षु के क्षत-विक्षत तथा रक्त-रजित तलवे को देखा, तो द्रवित होकर उन्होने भिक्षुओ को जूते-चप्पल पहनने की अनुमति प्रदान कर दी, परन्तु रग-बिरगे नही, सादे। कालान्तर मे भिक्षु भी रग-बिरगे जूते पहनने लगे थे, परन्तु अनेक रगो के तथा एकाधिक तल्ले वाले जूते पहनना गृहस्थ-जीवन का अग माना जाता था। जूते भिन्न-भिन्न रगो के तथा अनेक तल्लो के बनते थे। नील, लोहित, मजीठ, कृष्ण, नारगी तथा पीले रग के चमडो से जूते बनाये जाने के तथा इनमे रंग-बिरगे किनारे लगाने के उल्लेख मिलते हैं।[14] एकतल्ले, दोतल्ले, तीनतल्ले तथा चारतल्ले जूते बनते थे।[15] सिह, व्याघ्र, मृग, चीते, उदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लू के चमड़ो से भी जूते बनाये जाते थे।[16] आकार के अनुसार महावग्ग मे जूतो के लिए पुटबद्धक (घुटने तक चढ़े हुए), पालि-गुंठिम (केवल पैर ढँकने वाले), खलबद्धक (सभवत: आधुनिक पेशावरी

चप्पल सदृश), मेण्डविषाणबद्धिक (मेढ के सीगवाले), अजविषाणबद्धिक (बकरे के सीगवाले), वृश्चिकालिक (नोक पर बिच्छू की पूँछ लगी हुई), मोरपिंछ-परिसिब्बित (तलवे मे या बदो मे मोरपख सिला हुआ) तूलपुण्णिक (रूई भरा हुआ) तथा तित्तिरपट्टिक (तितर-पख सदृश) नाम मिलते हैं।[३७]

लोग लकड़ी की पादुकाएँ और बाँस तथा तालपत्र की बनी चप्पलें भी पहना करते थे।[३८] शौकीन लोग अपनी पादुकाओ को सोने, चाँदी, स्फटिक, वैडूर्य, काच, काँसे, रागे, तथा ताँबे के अलकारों से अलंकृत करते थे।[३९]

आभूषण— बौद्ध-पिटक तथा जैन एव ब्राह्मण सूत्र-ग्रथो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज के स्त्री-पुरुष आभूषण-प्रिय थे। वे अपने शरीरावयवों को कलात्मक आभूषणो से अलकृत करते थे। दक्ष स्वर्णकार और मणिकार स्वर्ण और रजत के मुक्ता-मणि-जडित अलकारो का निर्माण कर कलाप्रिय नागरिको के शौक की पूर्ति करते थे। वे अँगूठी (पट्टिका, मुद्रिका), कुंडल (वल्लिका), गले का हार (कायूर या ग्रैवेयक), सुवर्णमाला या कचनमाला, कर्णफूल (पामङ्ग), कगण (ओवत्तिका), चूडी (हत्थरण), मेखला इत्यादि अनेक प्रकार के आभूषण बनाते थे जिनका तत्कालीन समाज मे प्रचलन था।[४०] सोने तथा चाँदी के अतिरिक्त मुक्ता, मणि, वैडूर्य, भद्रक, शख, शिला, प्रवाल, लोहितक तथा मसारगल्ल का भी उपयोग आभूषण-निर्माण के लिए किया जाता था।[४१] मणियो को प्राय सोने-चाँदी के गहनों मे जडा जाता था।

इस युग के नागरिक पुष्पमालाओ, गुलदस्तो, सुगधित आलेपनो तथा इत्र के प्रेमी थे। मालाकार भाँति-भाँति के सुन्दर एव सुगन्धित पुष्पो से भिन्न-भिन्न आकार की मनोहर पुष्पमालाएँ गूँथकर शौकीन नागरिको को बेचा करते थे। पालि-निकाय मे दक्ष-मालाकारो द्वारा पुष्पहार गूँथने के उल्लेख मिलते हैं।[४२] इत्र बेचने वालो (गधक) तथा इत्र की दूकान के उल्लेख भी उपलब्ध होते है जिनसे तत्कालीन समाज मे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है।[४३] महावग्ग मे चदन, तगर, कृष्णानुसारि, कालिय तथा भद्रमुक्तक से आलेपनो को सुगधित करने का उल्लेख किया गया है।[४४] निकायो मे मूलगध, पुष्पगध, फलगध, पत्रगध तथा रसगध के उल्लेख मिलते हैं।[४४] चन्दन, कालानुसारि तथा वस्सिका से बने सुगध सर्वोत्तम माने जाते थे।[४५] इत्र बनाने

में दो तरह के चन्दन काम में लाये जाते थे, अर्थात्—हरिचंदन तथा लोहित-चंदन।[४६] कासिकचंदन[४७] शब्द के उल्लेख से प्रतीत होता है कि काशी इत्र-निर्माण मे अग्रणी था और वहाँ बने इत्र उत्कृष्ट माने जाते थे। जिन पुष्पो से इत्र तथा आलेपन बनाये जाते थे उनमे वस्सिका, मल्लिका, कमल तथा प्रियगु प्रमुख थे।[४८] अगर और तगर के भी सुगध बनते थे।[४९] सब्बसहारक नामक इत्र अनेक सुगंधो के मिश्रण से बनता होगा।[५०]

८

लोक-महोत्सव

सामाजिक जीवन में उत्सवों की व्यापकता एवं स्वरूप— अति प्राचीन युग से मनुष्य के धार्मिक एव सामाजिक जीवन मे विभिन्न उत्सवो का बडा महत्त्व रहा है। भारतीय साहित्य मे वैदिक युग से ही उत्सवों के उल्लेख उपलब्ध होते है। वैदिक-वाड्मय मे उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री से विदित होता है कि भारतीय आर्य बडे उत्सव-प्रेमी थे और वे समय-समय पर आनन्द मनाने के लिए उत्सव-समारोहो का आयोजन किया करते थे। उत्तरकालीन साहित्य मे भी उत्सव मनाने के वर्णन का अभाव नही दीखता। उत्सव के आयोजन मे जनता के साथ राज्य के सक्रिय सहयोग के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। रामायण के अनुसार उत्सव तथा समाज राज्य की लोकप्रियता का सवर्द्धन करते हैं। कौटिल्य का कथन है कि राज्य को जनता के मनोरजनार्थ यात्रा, समाज, उत्सव और प्रवहण का आयोजन करना चाहिए।[1] अशोक के अभिलेख समाज नामक उत्सव का उल्लेख करते है। समाज से उन दिनो धार्मिक अथवा सामाजिक समारोहो पर एकत्र होने वाले जनसमूह का बोध होता है। कलिंगाधिपति खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उन्होने अपने सफल विजय अभियान के उपलक्ष्य मे कलिंगवासियो के रजनार्थ एक महोत्सव का आयोजन किया जिसमे मल्लयुद्ध, वादन, गायन तथा नृत्यादि के प्रदर्शन किये गये।

बौद्ध-पिटको तथा जैन-सूत्रो से विदित होता है कि तत्कालीन समाज मे बडी धूम-धाम से धार्मिक एव लौकिक उत्सव मनाये जाते थे। जैन-सूत्रो[2] से ज्ञात होता है कि उन दिनो लोग विभिन्न देवताओ, जैसे—इन्द्र, स्कन्द, रूद्र, मुकुन्द आदि की पूजा तथा यक्ष, नाग, स्तूप, मन्दिर, वृक्ष, नदी, सरोवर इत्यादि की पूजा के लिए समय-समय पर समारोहो का आयोजन करते थे। इन उत्सवो की प्रमुख विशेषताएँ थी—विशिष्ट भोजन, नृत्य, सगीत आदि। पालि-पिटक मे उत्सव मनाने के लिए एकत्र जनसमूह के लिए समज्ज शब्द प्रयुक्त हुआ है जो पाणिनि[3] के समज्या का रूपान्तर है। समज्या का अर्थ है—'वह स्थान जहाँ

लोग एकत्र होते हैं।[३] चुल्लवग्ग में गिरज्जसमज्ज का उल्लेख आया है जो राजगृह में किसी पहाडी पर मनाया गया उत्सव था।[४] यह संभवतः धार्मिक उत्सव था तभी तो उसे पहाड़ी पर मनाया गया। हो सकता है जनधारणा के अनुसार उस पहाडी को किसी देवता का वासस्थान माना जाता होगा। इस उत्सव के वर्णन मे यह भी कहा गया है कि राज्य के उच्च पदाधिकारियो को भी आमंत्रित कर उनके लिए विशेष आसन की व्यवस्था की गयी थी। सिगा-लोवाद-जातक के अनुसार समज्ज मे नृत्य, गायन, वादन, आख्यान, ऐन्द्रजा-लिक खेल, रस्सी पर चलने आदि के प्रदर्शन किये जाते थे। जातको मे समज्ज का प्रयोग किया गया है मनोरंजनार्थ एकत्र जनसमूह तथा मेले के अर्थ मे। समज्ज के आयोजन प्राय. मांगलिक अवसर पर हुआ करते थे। जातक कथाओं मे उत्सव को नक्खत भी कहा गया है जिससे प्रतीत होता है कि समज्ज उस दिन मनाया जाता जो नक्षत्र-विचार से धार्मिक कृत्य के लिए शुभ होता। कभी-कभी समाज का आयोजन राजागण मे किया जाता था[५] और उस अवसर पर वहाँ मुख्य रूप से मल्लयुद्ध होता था।[६] धनुर्वेद, हस्ति-व्यायाम, घुडदौड, नाटक, सगीत प्रतियोगिताएँ आदि द्वारा जनता का मनोरंजन किया जाता था।[७] ऐसे उत्सव को वास्तव मे लौकिक कहा जा सकता है और इनकी तुलना उस उत्सव से की जा सकती है जो चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा राजधानी मे प्रति-वर्ष मनाया जाता था। उसमे भेड, जंगली साँढ, हाथी, गैंडे आदि की लडाइयाँ और रथ-दौड दिखलाये जाते थे। रथदौड में प्रयुक्त रथ विशेष प्रकार का होता था जिसमे दो बैलो के मध्य एक घोडा जोता जाता।[८]

पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि उन दिनो मनाये जाने वाले महोत्सवो का स्वरूप कई दिनो तक चलने वाले मेलो जैसा हो गया था। इन मेलो में खेल-तमाशे देखने के लिए लोग बडी संख्या मे जमा ह जाते थे। दीघ-निकाय के अनुसार दर्शको को मनोरजन के अनेक कार्यक्रमो को देखने का सौभाग्य प्राप्त होता था, जैसे—नृत्य, गीत, बाजा, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घडा पर तबला बजाना, समूहगान, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, धोपन (उस समय का एक खेल जिसे चाडाल दिखाया करते थे), हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरो का युद्ध, भेडो का युद्ध, मुर्गों की लड़ाई, लाठी के खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मार-पीट के खेल, सेना और लडाई की चालें इत्यादि।[९] मेले मे नट और ऐंद्रजालिक के नृत्य तथा खेल बड़े ही मनोरंजक

हुआ करते थे—लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।[१०] नटों के खेल साहसिक तथा खतरनाक हुआ करते थे—वे रज्जु-नृत्य करते और भालों के ऊपर छलाँग मारते जिसे देखकर दर्शको को रोमाच हो जाता।[११] कभी-कभी तो भाले पर गिर जाने से नट की मृत्यु ही हो जाती। सँपेरो के खेल भी दर्शनीय होते थे।[१२] शख फूँकनेवाले (शख-धमक)[१३] तथा भेरीवादक[१४] वातावरण को सगीत-मय बना देते। लोग मस्ती मे आ जाते और माला, इत्र, विलेपन का खुलकर उपयोग करते, मद्य, मास और उछली का जी भर सेवन करते।[१५] जैन-सूत्रो के अनुसार उत्सवो मे प्रमुखता रहती थी—भोजन, मद्यपान और विलासिता के कर्मों की।[१६]

मेले प्रायः नगरो मे लगते थे जिसे देखने के लिए निकटवर्ती ग्रामो के निवासी बडी सख्या मे एकत्र हुआ करते। राजधानियो मे उत्सव मनाने की घोषणा राजाज्ञा से भेरी-घोष द्वारा की जाती थी। नक्षत्र-भेरीघोष सुनते ही सभी नगरवासी आनन्द मनाने के लिए घर से निकल पडते।[१७] लोग अपने दैनिक व्यवसाय बन्द कर खाते, पीते और इष्ट-मित्रो को खिलाते-पिलाते।[१८] ब्राह्मणो का भोजन सत्कार माम-भात से होता और इष्ट-देवो की पूजा की जाती।[१९] जैन-सूत्रो के अनुसार ब्राह्मण, श्रमण, अतिथि, निर्धन तथा भिखमंगो को भोजन कराया जाता था।[२०] राजधानी मे पर्व और मेले के अवसर पर बडी धूमधाम देखने को मिलती। नगरवासी अपने नगर को यथासभव अलकृत करने का प्रयास करते। उत्सव की शोभावृद्धि मे राजा भी अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करते थे। दुम्मेध-जातक मे राजगृह के एक उत्सव का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"एक उत्सव के दिन सपूर्ण राजगृह नगर को देवनगर की भाँति सजाया गया। मगधराज ने एक पूर्ण अलकृत मगलहस्ति पर आरूढ हो अपने अनुचरो के साथ सम्पूर्ण नगर की प्रदक्षिणा की।"

जातको के अनुसार मेले प्राय एक सप्ताह तक चलते थे।[२१] कई मेले तो मास भर लगे रहते और उन दिनो लोग मौज मे रहते।[२२]

कौमुदी-महोत्सव—अधिकाश हिन्दू-पर्व ऋतु से सम्बद्ध हैं— वसन्त, वर्षा और शीत से तीन प्रमुख पर्वों का उद्भव हुआ जिन्हे चातुर्मास्य कहा गया। वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुओ का आगमन कृषि-प्रधान भारतीय आर्य-जाति के लिए नयी आशा, उमग एव सक्रियता का प्रतीक बन गया। उन्होने आरम्भ मे यज्ञ-समारोह द्वारा इनका समुचित स्वागत सत्कार किया जो कालान्तर मे प्रसिद्ध पर्व बन गये। चातुर्मास्य समारोह फाल्गुन, आषाढ़ तथा कार्तिक मास

मे पूर्णिमा के दिन मनाये जाते थे। वर्षा का अवसान और शरद के आगमन का काल भारतीय कृषक-समुदाय के लिए आनन्दायक रहा है। जब कृषक एक ओर पकते धान के खेतो मे पूर्ण अन्नपूर्णा धरती का दर्शन करता है, और दूसरी ओर निरभ्र आकाश पर दृष्टिपात करता है, तो उसका हृदय पुलकित हो उठता है। अतएव कार्तिक-पूर्णिमा के दिन जो चातुर्मास्य मनाया जाता था वह अत्यन्त उल्लासमय हो गया। पालि-निकाय मे इस पर्व की सज्ञा मिलती है—कौमुदी अथवा कत्तिका। शरद-पूर्णिमा की चाँदनी किसके हृदय मे आनन्द का सचार नही करती ? दीर्घ-निकाय से ज्ञात होता है कि मगधराज अजातशत्रु शरद-पूर्णिमा की शोभा का अवलोकन कर उमंग का अनुभव करते थे। कौमुदी की रात्रि को वे राजामात्यों से घिरे, उत्तम प्रासाद के ऊपर बैठे थे, तब उन्होने कहा 'अहा ! कैसी रमणीय चाँदनी रात है ! कैसी प्रासादिका चाँदनी रात है।'[२३]

जातको मे कौमुदी अथवा कत्तिका का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है जिससे प्रतीत होता है कि यह पर्व उन दिनो सर्वाधिक लोकप्रिय महोत्सव के रूप में मनाया जाता था। यही एक त्यौहार था जिसे धनी-निर्धन, वृद्ध-युवा, स्त्री-पुरुष, सभी समान उमग के साथ मानते थे। राजगृह,[२४] वाराणसी[२५] तथा श्रावस्ती[२६] आदि प्रसिद्ध नगरो मे कौमुदी-महोत्सव के बडे शानदार ढग से मनाने के वर्णन जातको मे किये गये है। उम्मदन्ती-जातक (५२७) के अनुसार कत्तिका के दिन नगर-परिक्रमा के लिए राजा की शानदार सवारी निकला करती थी। वे सुन्दर अश्व-जुते एक भव्य रथ मे बैठते, पीछे-पीछे सारे दरबारी चला करते, प्रासादो के झरोखे से सुन्दरियाँ राजा पर पुष्प-वर्षा करती। इच्छा होने पर वे प्रमुख राज-सभासदो के प्रासादो के सामने थोडी देर के लिए रुक जाते। उस दिन नगर आकर्षक ढग से सजाया जाता और रात्रि मे सम्पूर्ण नगर दीपो से जगमगाने लगता। सजीव-जातक (१५०) मे वर्णन मिलता है कि अजातशत्रु के राज्यकाल मे कत्तिका के अवसर पर राजगृह नगर को देवनगर के समान अलकृत कर दिया गया। उत्सव के दिन सकल नगरवासी छुट्टी मनाते और रात मे नगर-शोभा के अवलोकनार्थ तथा अन्य मनोरजन के लिए निकलते।[२७] स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र एव आभूषण धारण करती। निम्न-वर्ग की स्त्रियाँ अपने प्रेमियो के गले मे बाहे डाल कर घूमना पसन्द करती,[२८] जैसा कि प्राय: आदिवासी क्षेत्रो मे देखा जाता है।

कौमुदी-महोत्सव का रूप भी मेला जैसा हो गया था और इसे लोग सात

दिनो तक आनन्दोल्लास के साथ मनाया करते ‘इस महोत्सव की सूचना भी नगरवासियो को भेरी-घोष द्वारा दे दी जाती थी ।'[३०] यह प्रसिद्ध पर्व अभी तक हिन्दू-समाज मे प्रचलित है, यद्यपि इसका रूपान्तर हो गया है । हिन्दू-धर्म मे कार्त्तिक-पूर्णिमा का ही नही, सम्पूर्ण कार्त्तिक मास का माहात्म्य है । कही शरद-पूर्णिमा को सारी रात जागरण की प्रथा है, तो कही पतितपावनी भागीरथी के जल मे अवगाहन द्वारा मन-शरीर को पवित्र करने का महत्त्व है । सोनपुर का प्रसिद्ध मेला कार्त्तिक मास मे लगता है और पूर्णिमा को हरिहर क्षेत्र मे स्नान का महत्त्व है, जिससे प्रतीत होता है कि यह मेला भी कौमुदी-महोत्सव का रूपान्तर है ।

साल-भञ्जिका—पालि-निकाय के अनुसार लोग निश्चित तिथि को शालवन मे जाते और शाल-पुष्प तोडकर तथा अन्य क्रीडाओ द्वारा खुशियाँ मनाते । इस उत्सव का नाम पडा— शालभञ्जिका, जिसका शाब्दिक अर्थ है शाल-पुष्पो को तोडना । पाणिनि के अनुसार यह उत्सव प्राच्य-भारत मे प्रचलित हुआ ।[३१] डॉ० वॉगेल (Vogel) के मत मे मगध तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र मे ही शाल-भञ्जिकोत्सव विशेष रूप मे मनाया जाता था ।[३२] जातक निदान-कथा मे शाल-भञ्जिका का इस प्रकार वर्णन किया गया है— ‘कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक पवित्र शालवन है जिसपर दोनो नगरो का अधिकार है । उसे लुम्बिनीवन कहते है । उस समय सभी शाल-वृक्ष नीचे से ऊपर तक पूर्ण-विकसित पुष्पो से लदे थे । शाल-वृक्ष की शाखाओ मे भ्रमर गुंजन कर रहे थे, विभिन्न प्रकार के पक्षी मधुर कूजन करते हुए फुदक रहे थे । सम्पूर्ण वन ऐसा लगता था मानो वह चित्र-विचित्र रंगीन लताओ का वन हो अथवा किसी तेजस्वी राजा का नृत्य-मण्डप । वन की ऐसी शोभा का अवलोकन कर रानी (मायादेवी) के हृदय मे केलि करने की इच्छा बलवती हो गयी तो उन्होने अपनी परिचारिकाओ के झुण्ड के साथ वन मे प्रवेश किया ।'[३३] अवदान-शतक मे इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है— ‘एक समय मे भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन मे निवास कर रहे थे । उस समय श्रावस्ती मे शालभञ्जिका-समारोह मनाया जा रहा था—सैकड़ो हजार की भीड इकट्ठी हो गयी और शाल-पुष्पो का ढेर लग गया, लोग आनन्द मनाने के लिए क्रीडा करने लगे और इधर-उधर घूमने लगे ।'[३४]

सुरानक्षत्र—अनेक जातक कथाओ मे सुरानक्षत्र नाम के एक उत्सव का वर्णन मिलता है । सुरानक्षत्र के दिन स्त्री-पुरुष सभी जी भर कर मद्यपान करते

और नाचते-गाते। अनियन्त्रित मद्यपान के कारण ही इस उत्सव का ऐसा नाम पड़ा।[१५] एक जातक में सुरानक्षत्र का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है—'एक बार राजगृह मे सुरानक्षत्र मनाया गया। उस दिन सभी ने खूब मद्यपान किया, मांस खाया, लोगो ने उत्तम वस्त्र धारण किया और नृत्य मे भाग लिया। बाजार मे मद्य-मांस की प्रर्याप्त बिक्री हुई।'[१६] यो तो लोकोत्सवो मे, मद्य-मास का सेवन करना तथा नाचना, गाना और बाजा बजाना सामान्य बातें थी, परन्तु सुरानक्षत्र तो सुरापान के सम्मान के प्रतीक-रूप मे प्रचलित हुआ, जिससे उस दिन अधिकाश लोग यथाशक्ति मद्यपान करते थे। जनता तो मद्यपान करती ही थी, राजें, महाराजे और तापस भी पीछे नही रहते थे। उल्लेख मिलता है कि एक बार अनेक तापस वाराणसी के राजोद्यान मे ठहरे। उस दिन नगर मे सुरा-नक्षत्र का उत्सव मनाया जा रहा था अत. काशिराज ने उनके लिए उत्तम मद्य भेजा। तपस्वियों ने मद्यपान किया और वे मदोन्मत्त होकर नाचना-गाना आरम्भ कर दिया।[१७] इस प्रकार के वर्णन अतिरजित प्रतीत होते हैं क्योकि सच्चे तापस के लिए मद्यपान सर्वथा निषिद्ध माना गया है। हो सकता है यदा-कदा उत्सवो मे कोई तपस्वी पथभ्रष्ट हो जाता होगा, लेकिन इस कारण यह निर्णय कर लेना कि तापस भी सुरानक्षत्र के दिन स्वच्छन्द मद्यपान करते थे, अनुचित होगा। सुरानक्षत्र मे अनियन्त्रित मद्यपान के कारण अप्रिय घटनाएँ भी हो जाती थी—नशे की हालत मे लोग झगडना शुरू कर देते थे जिससे लोगो के हाथ-पैर टूटते और सिर फट जाते।[१८]

हस्तिमंगल—हस्तिमंगल (हत्थिमगल) समारोह राजप्रासाद के प्रांगण में मनाया जाता था,[१९] अतः यह राजवैभव का द्योतक था। इससे प्रमुखतः समाज के अभिजातवर्ग का मनोविनोद होता। यह समारोह वस्तुतः हाथियो की शोभा-यात्रा अथवा उनका व्यायाम था। सुजीम-जातक (१६३) में हस्तिमंगल का का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार इसे प्रतिवर्ष राजागण में मनाया जाता था। एक दिन ब्राह्मणो ने राजा के निकट जाकर निवेदन किया—'हे महाराज, हस्तिमंगल का शुभ दिन सन्निकट है अतः उत्सव का आयोजन होना चाहिए।' तदनुसार हस्तिमंगल का आयोजन किया गया। सम्पूर्ण राज-प्रागण अलकृत किया गया और एक सौ हाथियो को स्वर्णपरिष्टोम, स्वर्णध्वज एवं स्वर्णजाल से सज्जित कर पंक्तिबद्ध खडा किया गया। सामरोह का सचालन किया एक वेदज्ञ एव हस्तसूत्रज्ञ ब्राह्मण ने। परम्परानुसार उपयुक्त ब्राह्मण की अनुपस्थिति में समारोह स्थगित कर दिया जाता था।

कर्षणोत्सव—काम-जातक (४६७) मे कर्षणोत्सव का उल्लेख मिलता है। पालि-निकाय के अनुसार यह उत्सव प्रतिवर्ष सोत्साह मनाया जाता था। इस समारोह की प्रमुख बात यह थी कि उस दिन हल जोतने का काम राजा करता।

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है जहाँ अन्नपूर्णा धरतीमाता की पूजा अति प्राचीन काल से होती रही है। धरतीमाता की छाती पर हल चलाकर ही मनुष्य अन्न उपजाता है, अतः इस कार्य को पवित्र माना गया। वर्षाकाल के प्रारम्भ मे पृथ्वी की विशेष पूजा करके हल चलाने का आरम्भ करना श्रेयस्कर माना जाता था। जब धरती माता प्रसन्न रहेंगी तभी तो वे आशानुकूल अन्न देंगी! प्रथम हल भी साधारण कृषक नही चलाता, इस पुण्यकार्य को करता, राजा। जब मिथिला मे दुर्भिक्ष पडा तो राजा जनक ने स्वर्ण-निर्मित हल से कर्षण-कार्य का आरम्भ किया। सांख्यायन-गृह्यसूत्र के अनुसार कर्षण का प्रारम्भ रोहिणी नक्षत्र मे होना चाहिए।[४०] हल चलाने के पूर्व खेत के पूर्वी छोर पर द्यावापृथ्वी को बलि देनी चाहिए। पश्चात् ब्राह्मण वैदिक मन्त्रोच्चार के साथ हल का स्पर्श करे, तदनन्तर विभिन्न दिशाओं की पूजा की जाय। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार पृथ्वी सीता है, इन्द्रपत्नी है,[४१] अतः सीता की पूजा होती थी और लोग वर्षा के लिए इन्द्र का आह्वान करते थे। इस प्रकार पालि-निकाय तथा समकालीन धर्मशास्त्र मे उपलब्ध सामग्री से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे वर्षा के आरम्भ मे कृषिकार्य का सोत्सव श्रीगणेश करने की प्रथा प्रचलित थी।

६

शिक्षा की प्रगति

शिक्षण संस्थाएं—ऋग्वेद-काल तथा बुद्ध के आविर्भाव-काल के मध्य में ज्ञान के विभिन्न अंगो के साहित्य-भाडार की जो समृद्धि हुई उससे हम तत्कालीन समाज मे शिक्षा की प्रगति का अनुमान लगा सकते हैं। ब्राह्मण-वर्ण के निर्माण का लक्ष्य समग्र आर्य समाज को ज्ञानार्जन का अवसर प्रदान करना था। इस व्यवस्था का ही यह सुफल था कि शिक्षण-संस्था के रूप मे गुरुकुलों की स्थापना हुई, जिनके माध्यम से समाज मे शिक्षा का व्यापक प्रचार हुआ और इस देश मे ज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति हो सकी। बौद्ध-पिटक मे भी ब्राह्मण आचार्यों के गुरुकुलो के उल्लेख मिलते हैं। उन दिनो ख्यातिप्राप्त ब्राह्मण आचार्यों को दिशा-प्रमुख आचार्य कहा जाता था। दिशाप्रमुख आचार्यों की समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी और उनकी पादसेवा सैकडो शिष्य किया करते थे। चम्पा मे एक दिशाप्रमुख आचार्य द्वारा अध्यापन के कार्य करने का उल्लेख मिलता है। वे अपने आश्रम मे पाँच सौ छात्रो को शिक्षा प्रदान करते थे।[1] कोशल राज्य के सुनेत्त तथा सेल की ख्याति भी किसी से कम नही थी।[2] मिथिला में एक ब्रह्मायु विद्वान् ब्राह्मण का वास था जो समस्त शास्त्रो के पडित थे; उनके अन्तेवासी का पाडित्य भी अपने गुरु के समान था।[3] वाराणसी के दिशा-प्रमुख आचार्यों के सन्निकट भी पाँच-पाँच सौ शिष्यो के जमघट के उल्लेख मिलते हैं।[4] तक्षशिला तो इस युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र था, अतः वहाँ के दिशाप्रमुख आचार्यों की कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त थी। पालि-पिटको मे अनेक ब्राह्मण परिव्राजकों के नाम मिलते हैं। निःसदेह ये परिव्राजक धर्माचार्य थे और उनके बडे-बडे शिष्य-समुदाय के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अनुमान है, उनके शिष्यों को अध्यात्म के साथ अन्य विषयों का भी ज्ञान कराया जाता होगा। इन उल्लेखो से प्रतीत होता है कि उन दिनो देश मे अनकानेक गुरुकुल विद्यमान थे जहाँ जिज्ञासु छात्रों को ब्राह्मण आचार्यों से ज्ञान प्राप्त होता था।

गुरुकुल प्रायः तपोवन में स्थापित किये जाते थे। प्राचीन काल में वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व, गौतम, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो के आश्रमों में शिक्षण का

कार्य चलता था, परन्तु सभी गुरुकुलो की स्थापना इन आश्रमों के समान वन मे नही की जाती थी—कई गुरुकुल नगरो के सन्निकट स्थापित किये जाते। वाराणसी और तक्षशिला जैसे नगरो मे जिन गुरुकुलो के उल्लेख मिलते हैं, वे वस्तुतः नगर से अविदूर ऐसे एकात उपवनो मे निर्मित थे, जहाँ एकाग्रचित हो अध्ययन करने के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध था। राजधानियो तथा व्यापार-केन्द्रो मे स्वभावतः विद्वानो का वास था और जहाँ विद्वान् रहते वहाँ शिष्य पहुँच जाते। नगरो के कोलाहलपूर्ण वातावरण मे अध्ययन का कार्य सुचारु-रूप से सपन्न होने मे विघ्न होने के कारण जनरव से दूर एकान्त स्थलो मे विद्वान् वास करने लगते और उनके निवास-स्थान गुरुकुलो मे परिवर्तित हो जाते। इसी तरह वाराणसी और तक्षशिला मे प्रसिद्ध शिक्षण-केन्द्रो की स्थापना हो गयी। इन विद्या-केन्द्रो मे दूर-दूर से विद्यार्थी पहुँच जाते और इस प्रकार शिक्षा का प्रचार होता। जातको से विदित होता है कि इन प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रा मे विद्यार्थी १४-१६ वर्ष की उम्र मे आचार्य के पास जाते थे।

बौद्ध भिक्षु-सघ का सगठन आश्रम-व्यवस्था के आदर्शों पर किया गया, अत बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र बन गये। भिक्षु-जीवन मे ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम का समन्वय होने के कारण विहारो मे शिक्षण-कार्य को प्रमुखता मिली। ब्राह्मणो के गुरुकुलो के साथ-साथ अब बौद्ध विहारो मे भी अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध होने से शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ। इन विहारो के छात्रो के आदर्शों, गुरु-शिष्य-सम्बन्धो तथा अनुशासन के नियम आदि पर बौद्ध-सघ के प्रसग मे विचार किया गया है। बुद्ध-काल मे राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती तथा कपिलवस्तु आदि नगरो मे कई प्रसिद्ध विहारो का निर्माण हुआ जो बौद्ध-शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। राजगृह मे वेणुवन, यष्टिवन तथा सीतवन, वैशाली मे कूटागारशाला तथा आम्रवन, कपिलवस्तु मे निग्रोधाराम और श्रावस्ती मे जेतवन तथा पूर्वाराम इस युग के प्रसिद्ध विहार थे।[५] इनके अतिरिक्त अनेक विहारो का निर्माण हुआ। इन्हे सघाराम कहा जाता था। इन सघारामो मे आध्यात्मिक चितन होता था। यहाँ के आचार्य अपने शिष्यो को अध्यात्म-ज्ञान के सागर मे अवगाहन कराते थे। बुद्ध के समय के बौद्ध विहारो के भिक्षुओ को सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकच्चान, महाकोट्ठित, महाकप्पिन, महाचुन्द, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनन्द तथा राहुल आदि प्रमुख थेरो के प्रवचनो को श्रवण करने तथा उनसे वार्तालाप कर अपने को कृतार्थ करने का मौका मिलता रहता था। ये लोग प्रायः भ्रमणशील रहा करते थे और जिस विहार मे कुछ समय व्यतीत करने के लिए रुक जाते, वहाँ के भिक्षुओ

को इनसे जटिल विषयो पर विचार-विमर्श कर शंका-समाधान का सुअवसर अनायास ही प्राप्त हो जाता था।[६] इन बौद्ध विहारो में भिक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने की भी व्यवस्था की गयी थी। उदाहरणार्थ, जब भिक्षुओं के आवास के लिए विहारों का निर्माण किया जाता, तो उसकी देखरेख एक भिक्षु करता। इस भिक्षु की नियुक्ति संघ द्वारा विधिवत् की जाती थी और वह नवकम्मिक कहलाता था। वह केवल नये भवनो के निर्माण का ही निरीक्षण नही करता, बल्कि पुराने भवनों की मरम्मत के कार्यों की भी देखभाल करता था।[७] भिक्षुओं द्वारा बुनने का काम करने के उल्लेख मिलते हैं।[८] वे अपने पहनने के लिए चीवरो की सिलाई भी करते थे।[९] कालान्तर मे जब बौद्ध विहारो मे उपासको को शिक्षा दी जाने लगी, तो लौकिक विषयों को पाठ्यक्रम मे सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया होगा। यदि बौद्ध विहारो में सभी विषयो के अध्यापन की व्यवस्था नही की गयी होती, तो अवान्तर काल मे नालन्दा, विक्रमशिला तथा वलभी आदि महाविहारो को विद्या-केन्द्रो के रूप मे ख्याति नही मिल पाती।

विद्याकेन्द्र तक्षशिला— सातवी शताब्दी ई० पू० मे तक्षशिला की ख्याति प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप मे दूर-दूर तक व्याप्त हो गयी, जिसका श्रेय वहाँ के आचार्यों को है। वहाँ के दिशाप्रमुख आचार्यों की बडी प्रसिद्धि थी और उनके नाम का ही यह प्रभाव हुआ कि सहस्रो मील दूर के प्रदेशो से जिज्ञासु जन अपने प्राणो की परवाह न कर तक्षशिला पहुँचने लगे। जातको मे उल्लेख मिलता है कि समग्र भारतवर्ष के क्षत्रिय एव ब्राह्मण कुमार शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला के आचार्यों के पास जाते थे।[१०] वाराणसी,[११] राजगृह,[१२] मिथिला,[१३] उज्जैनी[१४] आदि सुदूर नगरो से विद्यार्थीगण तक्षशिला पहुँच जाते थे। कोशल-राज्य से भी विद्यार्थी वहाँ जाते।[१५] कोशल-नरेश प्रसेनजित्, मगध के विख्यात वैद्य जीवक और वैयाकरण पाणिनि, आचार्य कौटिल्य तथा सम्राट् चन्द्रगुप्त तक्षशिला के स्नातक थे।[१६] बौद्ध-पिटको मे जिस प्रकार तक्षशिला का उल्लेख उपलब्ध होता है उससे प्रतीत होता है कि वह अपने समय का सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त विद्या-केन्द्र था।

वस्तुत: तक्षशिला मे आधुनिक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय जैसी कोई शिक्षण-सस्था नही थी। वहाँ तो विद्वानों का आवास ही संस्था था, जहाँ आचार्य अपने वरिष्ठ शिष्यो के सहयाग से शिक्षण-कार्य संपन्न करते थे। वहाँ न तो किसी आचार्य के शिष्यो की निश्चित संख्या थी और न अध्ययन की कोई निश्चित अवधि ही। जितने विद्यार्थी मिल जाते, आचार्य उन्हें विद्यादान देते।

जबतक उनकी शिक्षा पूर्ण नही हो जाती, विद्यार्थी गुरु के पास रहते। जातको मे उदाहरण मिलते हैं कि तक्षशिला में दिशाप्रमुख आचार्य पाँच-पाँच सौ विद्यार्थियो को पढ़ाया करते थे। एक आचार्य के पाँच सौ शिष्यो का उल्लेख परपरागत शैली के कारण मिलता है, अत: इस सख्या को विशेष महत्त्व देना अनावश्यक है। एक जातक में उल्लेख मिलता है कि एक आचार्य १०३ राजकुमारो को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान कर रहे थे। इस सख्या मे सत्य का आभास मिलता है और इससे यह अनुमान लगाना सही होगा कि तक्षशिला के प्रमुख आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो की सख्या लगभग एक-एक सौ की रही होगी। शिक्षण-कार्य के लिए आचार्य कुछ शिक्षकों का भी सहयोग लेते होगें जो वस्तुतः उनके वरिष्ठ शिष्य होते होगें।

तक्षशिला मे अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक नही था कि सभी विद्यार्थी गुरुकुल मे ही वास करते। अनेक राजकुमार अपने रहने की व्यवस्था स्वय ही करते थे,[१७] परन्तु यह राजकुल के विद्यार्थियो के लिए ही संभव था। सामान्यतया सभी विद्यार्थी गुरु के आवास मे निवास करते, जहाँ उन्हे निवास, भोजन तथा अध्ययन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होती। धनी विद्यार्थी शिक्षा-शुल्क के साथ ही भोजन तथा आवास-शुल्क भी दे दिया करते थे। जो विद्यार्थी निर्धन होते, वे शुल्क के बदले दिन मे गुरुकुल का कोई काम किया करते। ऐसे विद्यार्थियो के लिए रात्रि मे अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी।[१८]

तक्षशिला मुख्यत. उच्च-शिक्षा का केन्द्र था, अतः वहाँ अध्ययन के लिए जाने वाले विद्यार्थियो की उम्र प्राय १६ वर्ष बतलायी गयी है। वहाँ पढने के लिए समाज के विभिन्न जातियों एव वर्गों के विद्यार्थी जाते थे, परन्तु ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो की सख्या अधिक प्रतीत होती है। एक जातक मे पाँच सौ ब्राह्मण विधार्थियो को लकडी जमा करने मे सलग्न दिखलाया गया है।[१९] पुन: दूसरे जातक मे उल्लेख मिलता है कि १०३ राजकुमार एक आचार्य से धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।[२०] तक्षशिला के अचार्य विद्यादान मे बडे उदार थे। उन्होने राजकुमारो, ब्राह्मण कुमारो तथा श्रेष्ठिपुत्रो के साथ दर्जी और मछली मारने वालो को भी शिष्य बनाया।[२१] उनके गुरुकुलो मे केवल चाडालो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध था।[२२]

तक्षशिला मे अध्ययन करना महँगा पडता था, क्योकि वह उच्च-शिक्षा का केन्द्र था और किसी विशेष विषय मे विशिष्टता प्राप्त करने के उद्देश्य

से ही वहाँ कोई विद्यार्थी जाता था। जो जिज्ञासु छात्र बहुत दूर से वहाँ जाते, उनके लिए वहाँ की शिक्षा महँगी पडती ही थी, परन्तु वहाँ की मुहर लग जाने के पश्चात् किसी की योग्यता में संदेह करने का साहस कौन करता ? अतः वहाँ के स्नातक होने के लोभ का संवरण भी नही किया जा सकता था। धनवानो के लिए तो तक्षशिला में अध्ययन करना कोई बडी समस्या न थी, पर निर्धनो के लिए कुछ दिक्कतें थी। प्राचीन भारत मे मेधावी निर्धन छात्रो के मार्ग मे भी ऐसी कोई दुर्लंघ्य रुकावट नही आती थी कि वह विद्याध्ययन से वञ्चित रह जाता। तक्षशिला मे पढ़ने वाले धनाढ्य छात्र एक सहस्र कार्षापण तक गुरुदक्षिणा दिया करते थे,[२३] परन्तु निर्धन छात्र इतनी बडी धनराशि देने मे असमर्थ होने के कारण श्रम के रूप मे गुरुदक्षिणा चुकाते।[२४] गुरुदक्षिणा की राशि संग्रह करने के लिए कई विद्यार्थियो को भिक्षा का सहारा लेना पडता था।[२५]

मेधावी छात्रो को विद्याध्ययन से वञ्चित न होना पड़े, इस उद्देश्य से उन्हे राजकीय प्रोत्साहन प्रदान करने के भी उदाहरण मिलते है। राजकीय वृत्ति पर अनेक छात्रो ने तक्षशिला मे शिक्षा प्राप्त की। वे प्रायः राजकुमारो के साथियो के रूप मे वहाँ भेजे जाते थे। वाराणसी[२६] और राजगृह[२७] के राज-पुरोहित-पुत्र युवराजो के संग तक्षशिला मे अध्ययनार्थ गये थे। ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि होनहार युवकों को राज्य के व्यय से उच्च-शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजा गया।[२८] राजकीय प्रोत्साहन के साथ सामाजिक वातावरण का भी शिक्षा के प्रसार मे बड़ा हाथ रहा है। प्राचीन भारत मे धनी तथा निर्धन दोनो को अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर मिला। अन्तर इतना अवश्य था कि धनी की अपेक्षा निर्धन छात्र को अधिक परिश्रम करना पड़ता था, परन्तु यदि उसमे उत्साह, लगन और जिज्ञासा का अभाव नही रहता, तो उसे अग्रसर होने का मार्ग उन्मुक्त मिलता।

शिक्षण अवधि— बुद्ध के समय मे यह विशेषता देखने को मिलती है कि सामान्यतया १६-१८ वर्ष की उम्र मे व्यक्ति अपना अध्ययन समाप्त करके गृहस्थ बन जाते थे। जो उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक होते थे, जिनका उद्देश्य किसी विषय में विशेष योग्यता प्राप्त करने की रहती थी, वे किसी प्रमुख शिक्षण केन्द्र मे चले जाते थे। तक्षशिला उच्च-शिक्षा का केन्द्र था, अतः वहाँ अध्ययनार्थ जाने वाले छात्रो की उम्र १६ वर्ष बतलायी गयी है। धर्मसूत्रो एवं स्मृति-ग्रथों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के उपनयन की न्यून-

तम वय क्रमश: आठ, ग्यारह और बारह वर्षों की मानी गयी है और अधिकतम —सोलह, बाइस तथा चौबीस वर्षों की।[२९] दूसरी ओर जातको मे उल्लेख मिलते हैं कि सोलह वर्ष की उम्र मे राजकुमारो की सभी विषयो की शिक्षा पूर्ण हो जाती थी,[३०] परन्तु इस तरह के कथन लौकिक हैं, अत. इनसे यह अर्थ नहीं निकलता कि सोलह वर्ष की उम्र मे व्यक्ति सम्पूर्ण शास्त्र का ज्ञाता हो जाता होगा। एतद्विषयक धर्मशास्त्र के निर्देशो का पालन समाज के उच्च वर्णों मे भी थोड़े ही लोग कर पाते थे। मिलिन्दपञ्हो मे उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मणो का विद्यार्थी-जीवन सात वर्ष की उम्र मे आरम्भ होता था।[३१] धर्मशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन ८ और १६ वर्षों के बीच होना चाहिए। जातको के इस कथन से कि १६ वर्ष की उम्र मे व्यक्ति अपना अध्ययन पूर्ण कर लेता है, यह अर्थ निकलता है कि साधारणतया १६-१८ वर्ष की उम्र मे लोग अपनी पढ़ाई समाप्त करके गृहस्थ बन जाते थे। यह स्वाभाविक था, क्योकि उच्च-शिक्षा प्राप्त करना सभी का लक्ष्य नही रहता था। सामान्यतः लोग काम चलाऊ शिक्षा प्राप्त करके गृहस्थ बनना पसन्द करते थे। जिनका लक्ष्य उच्च-शिक्षा प्राप्त करना रहता था, वे प्राय. १५-१६ की उम्र मे साधारण शिक्षा समाप्त करके प्रमुख विद्या-केन्द्रो के लिए प्रस्थान करते थे। अतः जातको मे उल्लेख मिलते है कि तक्षशिला मे अध्ययनार्थ जाने वाले छात्रो की वय १६ वर्ष रहती थी। जातको मे गृहस्थ छात्रो के भी उल्लेख मिलते है। वाराणसी मे एक ग्रामीण ब्राह्मण वहाँ के एक प्रसिद्ध आचार्य के पास पढने गया। वहाँ उसने एक स्थानीय नवयुवती से विवाह करके घर बसा लिया और अध्ययन भी जारी रखा, परन्तु उसकी पत्नी दुष्टा थी और जब वह ब्राह्मण पढने जाने की तैयारी करता, तो उसकी पत्नी अस्वस्थ होने का बहाना करती। इससे उसके अध्ययन मे विघ्न हो जाता था।[३२] अध्ययन के लिए यथासमय गुरु के निकट छात्र के उपस्थित होने मे पत्नी की बाधकता के अनेक उदाहरण जातको मे मिलते है।[३३] कुछेक छात्रो का विवाह गुरु-पुत्री से ही हो जाता था।[३४]

शिक्षा के विषय— प्राप्त प्रमाणो से प्रतीत होता है कि उन दिनो ६ प्रमुख विषयो की शिक्षा प्रदान की जाती थी। ये विषय थे[३५]—(१) वेद (२) वैदिक साहित्य— षड्वेदाङ्ग, अर्थात् शाखा, छद, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष (३) ब्राह्मण, सहिता और उपनिषद् (४) गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र (५) अन्य विषय— सूत्रो के परिशिष्ट का साहित्य व्यापक है। यज्ञो से सम्बद्ध

विषय के साहित्य का विकास हुआ, जिसका नाम पड़ा प्रयोग। धर्मविधियों का पद्यमय वर्णन करने वाला साहित्य कारिका कहलाया। वैदिक अनुक्रमणी का भी निर्माण हुआ। (६) लौकिक साहित्य—अर्थशास्त्र, शिल्प तथा वार्ता। पाणिनि ने धार्मिक तथा लौकिक विषयो के समृद्ध साहित्य-भाण्डार का उल्लेख किया है जिससे तत्कालीन पाठ्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।[३६] बौद्ध विहारो में बौद्ध-दर्शन तथा पालि भाषा की शिक्षा को प्रमुखता दी गयी। दर्शन तथा साहित्य के पंडित के लिए विरोधियो के मतों को भी जानना अनिवार्य हो जाता था, अत ब्राह्मण तथा बौद्ध एक दूसरे के साहित्य-भाडार से पूर्ण परिचित रहते थे। इसके बिना वे शास्त्रार्थ मे विरोधियो को परास्त नही कर सकते थे। अत. बौद्ध विहारो मे ब्राह्मण-दर्शन का ज्ञान कराया जाता था, तो गुरुकुल परम्परा की शिक्षा मे बौद्ध-दर्शन का।

साहित्यिक एव दार्शनिक विषयों के साथ-साथ शिल्प-शिक्षा को भी इस युग मे प्रमुखता मिली। विनय-पिटक के अनुसार विद्यार्थियों के माता-पिता परस्पर वार्तालाप किया करते थे कि उनके पुत्र किन-किन विषयो का अध्ययन करेंगे। इस प्रसग मे उल्लेख हुआ है—लेख, गणना और रूप (मुद्राशास्त्र) का।[३७] चुल्लवग्ग मे भिक्षुओ को भी उन उपकरणो का उपयोग करते हुए दिखलाया गया है जो कपड़े बुनने के काम आते थे।[३८] पालि ग्रंथों मे अष्टादश शिल्पो[३९] के उल्लेख मिलते हैं और इस प्रसग मे यह भी कहा गया है कि इनकी श्रेणियाँ (निगम) बन चुकी थी। मिलिन्दपञ्हो मे उन्नीस शिल्पो के उल्लेख हैं, जिनमे चतुर्वेद, पुराण, दर्शन तथा इतिहास का भी समावेश कर दिया गया है, अत यह सूची दोषपूर्ण है।[४०] तक्षशिला मे धनुर्वेद, रणविद्या, वैद्यक, मत्रविद्या, सर्प-वशीकरण तथा गुप्तधन खोजने की विद्या की शिक्षा प्रदान करने के उल्लेख मिलते हैं।[४१] इनके अतिरिक्त पालि-निकाय मे विधि, गणित, गणना, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा इस्सथ के उल्लेख किये गये हैं।[४२] एक जातक मे बड्ढकि, कर्मार, चर्मकार तथा चित्रकार की श्रेणियो के उल्लेख मिलते हैं।[४३] यदि इस सूची मे अभियात्रिक तथा सगीत जोड दिये जायँ तो शिल्पो की सख्या उन्नीस पहुँच जायगी। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धकाल मे अनेक शिल्पो का विकास हो गया था और दिनोदिन उनकी सख्या मे वृद्धि होती जा रही थी। यह कहना उचित नही जँचता कि केवल अमुक-अमुक शिल्पो की ही शिक्षा दी जाती थी। ज्यो-ज्यो समाज तकनीकी क्षेत्र में प्रगति करता गया, त्यो-त्यो नये-नये शिल्पो की शिक्षा का द्वार नवयुवको के लिए खुलता

गया। मौर्यकाल मे शिल्पो की विशेष उन्नति हुई जान पड़ती है, क्योंकि मौर्य-शासन ने उद्योग, शिल्प तथा कला की सुव्यवस्था के उद्देश्य से इन विभागों के लिए अध्यक्षो को नियुक्त किया। मौर्य-काल के पूर्व ही शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों मे तकनीकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी थी। यदि ऐसा नही होता, तो आयुर्वेद के अध्ययन के लिए जीवक को मगध से तक्षशिला नही भेजा जाता, और न चन्द्रगुप्त को ही वहाँ जाकर रणविद्या सीखने की आवश्यकता पड़ती। व्यापारिक शिल्पो की शिक्षा मे व्यापार निगमो का पर्याप्त हाथ था, क्योकि इस युग मे सभी शिल्पो की श्रेणियाँ बन गयी थी और उनके अधिकार व्यापक थे। बिना अभ्यास के शिल्प-ज्ञान न तो पूर्ण हो पाता है और न उपयोगी, अतः कर्म-शालाओ मे छात्रो को अभ्यास का अवसर दिया जाता था। इस प्रकार हम पाते हैं कि बुद्धकाल मे शिक्षा के विभिन्न अगो की उल्लेखनीय प्रगति हुई।

१०

बौद्ध-मत

बौद्ध-मत का विकास एव प्रसार— भारतीय सस्कृति आदिकाल से ही धर्मप्रधान रही है। पूर्व-वैदिक युग मे आर्य तथा आर्येतर सस्कृतियो के सम्पर्क ने भारतवासियो की धर्म-चेतना को पूर्वापेक्षा अधिक उदार बनाया। भारतीय आर्यों ने भारतभूमि के निवासियो की धार्मिक मान्यताओ एव व्यवहारो को दार्शनिक पृष्ठभूमि मे सँवार कर ऐसा स्वरूप प्रदान किया जो अन्यत्र देखने मे नही आता है। आर्यों के अभ्युदय के पूर्व जो धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएँ देश के विभिन्न सम्प्रदायो मे प्रचलित थी, उनमे समुचित परिवर्तन कर वैदिक आर्यों ने उनका नवीकरण कर दिया और विभिन्न धार्मिक आचार-विचारो का समन्वय करके उन्होने पूर्ण सफलता के साथ अनेकत्व मे एकत्व की स्थापना की। ऋग्वेद-कालीन धर्म व्यवहार मे सरल तो था, पर अप्रौढ नही। विशाल देवकुल की कल्पना से इस धर्म के पर्याप्त विकसित अवस्था का अभास मिलता है। वैदिक आर्यों ने प्रकृति की संजीवनी-शक्ति-सम्पन्न वैभवो की आराधना की— सूर्य, पवन, जल, अग्नि, पृथ्वी इत्यादि ही तो मानव-जीवन के आधार हैं, अत: उन्होने इन सभी को देवपद प्रदान किया। बहुदेवपूजक आर्यों ने ऋग्वेदकाल मे ही इस सत्य का भी साक्षात्कार कर लिया कि सम्पूर्ण दृश्य-जगत् एक ही सर्वशक्तिमान् सत्ता की अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदकाल मे आर्यों ने जिस धार्मिक समन्वय की प्रक्रिया का सूत्रपात किया वह पूर्ण हुआ— उत्तरवैदिक काल मे। उत्तरवैदिक युग मे आराध्य देवताओ की संख्या मे वृद्धि हो गयी। अनेक यक्ष, भूत, प्रेत आदि भी पूजा के पात्र मान लिये गये। अथर्ववेद मे अनेक ऐसे धार्मिक विचारो तथा व्यवहारो को मान्यता मिली जो पूर्व-काल मे अमान्य थे। अशिक्षित जनता और बुद्धि-वादी वर्ग के धार्मिक आचार-विचार मे सदा अन्तर रहा है, परन्तु समाज मे मान्यता तो सभी को मिलती रही है—यही हिन्दू-धर्म की विशेषता है। उत्तर-वैदिक युग मे ऐसा भी हुआ कि जनता वैदिक वाङ्मय से दूर होने लगी, ब्राह्मण-धर्म के व्यवहार-पक्ष मे जटिलता आने लगी और वैदिक सस्कृत तथा पुरोहित-समुदाय के धार्मिक अनुष्ठान जनता के लिए दुर्बोध हो गये।[1] इस

प्रकार जहाँ एक ओर तो समाज के निम्न-वर्ग के धार्मिक व्यवहार को मान्यता देकर धर्म को व्यापक रूप प्रदान किया गया, वही ब्राह्मण-धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के फलस्वरूप समाज मे एक संकुचित विचारधारा पनपने लगी।

फिर आया दार्शनिक चिंतन का युग, अर्थात् उपनिषद्-काल। इस युग मे अध्यात्मवाद पर विशेष चिंतन हुआ और धीरे-धीरे यह विचार प्रबल हो चला कि मोक्ष का मार्ग केवल वैदिक यज्ञो तथा धार्मिक अनुष्ठानो द्वारा ही प्रशस्त नही होता है, इसके लिए अन्य साधन भी अपनाये जा सकते हैं। अब लोग यह कहने लगे कि वैदिक कर्मकाण्ड से उत्तम है— ब्रह्मज्ञान। ब्रह्मविद्या की चर्चा बढने लगी और इस युग मे अनेक ब्रह्मज्ञानी-तत्त्वदर्शी महापुरुषो का अभ्युदय हुआ, जिन्होने भारतवासियो की आत्मज्ञान-जिज्ञासा को तृप्त किया। इस युग के आध्यात्मिक चिंतन का ही यह सुफल था कि भविष्य मे अनेक नवीन धार्मिक मतो का जन्म हुआ।

भगवान् बुद्ध के जन्मकाल के लगभग भारतीय विचार-जगत् मे उथल-पुथल हो रही थी। उस समय देश मे, प्रमुखत. पूर्वोत्तर भारत मे अनेक वाद प्रचलित थे। एक प्राचीन पालि-सूत्र मे बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित दर्शन के ६३ वादो का उल्लेख किया गया है, जिनमे अनेक ब्राह्मण-विरोधी थे।[2] जैन-ग्रथो मे भी अनेक वेद-विरुद्ध वादो का उल्लेख मिलता है। पालि-सूत्रो मे बुद्ध के समकालीन प्रमुख वादो का उल्लेख है।[3] इस युग के धर्म-प्रवर्तको मे प्रमुख थे—गौतम बुद्ध, महावीर और मक्खलि गोसाल। इन तीनो मे नैसर्गिक प्रतिस्पर्धा थी। इनके अनुयायी प्राय. झगडा कर बैठते थे। बुद्ध का व्यक्तित्व अपने विरोधियो की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली था। उनके सामने सभी नतमस्तक होते गये और उनके अनुयायियो की सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। अपने मत के प्रचार मे बुद्ध के समान न तो महावीर को सफलता मिली और न गोसाल को।

बुद्ध का धर्म-प्रचार— पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्म का उदय हुआ मगध मे, जहाँ से इसका प्रचार बुद्ध के जीवन काल मे ही सम्पूर्ण बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश मे हो गया। पश्चात् बहुत दिनो तक बिहार मे बौद्ध-मत की प्रधानता रही। वस्तुत· बौद्ध-धर्म के विकास एव प्रचार मे बिहार राज्य का सराहनीय योग रहा। बिहार की ही भूमि मे निरजना (पालि नेरञ्जरा) नदी के तटवर्ती उरुवेला नामक स्थान पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को सबोधि प्राप्त हुई। महावग्ग के अनुसार उस

समय ब्रह्मा सहंपति ने बुद्ध को सम्बोधित करते हुए कहा— 'अबतक मगध देश में कलुषित मानव द्वारा परिकल्पित धर्म ही प्रतिपादित हुए हैं, परन्तु अब भगवान् धर्मोपदेश कर मानवमात्र के लिए निर्वाण-मार्ग को प्रशस्त करने की कृपा करें, सभी मनुष्य अमृतद्वार को खोलने वाले विमल (पुरुष) द्वारा प्रतिपादित मत को श्रवण करें।'[४] ब्रह्मा सहंपति की प्रार्थना पर ही भगवान् बुद्ध धर्मोपदेश के लिए प्रस्तुत हुए। तब उनका विचार आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र को धर्म का उपदेश देने का हुआ, किन्तु यह बात जानकर कि वे उस समय तक परिनिर्वृत्त हो चुके थे, उन्होंने उन पाँच भिक्षुओ को धर्म का उपदेश देने का निश्चय किया जो उनका साथ छोडकर ऋषिपत्तन चले गये थे।[५] भगवान् बुद्ध ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन अपना पहला उपदेश सारनाथ मे दिया। इस उपदेश को धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र को संज्ञा दी गयी। सारनाथ से बुद्ध के सदेश का प्रसार हुआ—वाराणसी मे। वाराणसी का एक श्रेष्ठिपुत्र यश ससार से विरक्त हो ऋषिपत्तन आया और बुद्ध का उपदेश सुनकर भिक्षु हो गया।[६] यह सवाद पाकर उसके श्रेष्ठि-कुमार मित्र—विमल, सुबाहु, पूर्णजित् तथा गवाम्पति भी भिक्षु हो गये।[७] पुनः अन्य पचास व्यक्तियो ने श्रेष्ठिकुमारो का अनुसरण किया।[८] इन साठ भिक्षुओ को लेकर बुद्ध-शासन का आरम्भ हुआ। बुद्ध ने एक सघ की प्रतिष्ठा की,[९] परन्तु बुद्ध का महत्त्वपूर्ण धर्मप्रचार तो उसी स्थान पर हुआ जहाँ वे संबुद्ध हुए थे। उस समय उरुवेला वैदिक यज्ञानुष्ठान का एक प्रमुख स्थान था। वहाँ वैदिक मतावलबी जटिल-तापसो का प्रभुत्व था। उरुवेल काश्यप, नादि काश्यप तथा गया काश्यय—तीनों भाई निरंजना नदी के तट पर आश्रम बनाकर अपने एक सहस्र शिष्य-समुदाय के साथ वास करते थे।[१०] जटामडित सिर के कारण ये ब्राह्मण-तापस जटिल कहलाते थे। अंग और मगध की जनता पर इनका बडा प्रभाव था, अतः बुद्ध ने इन जटिल-तापसों को बौद्ध-मत मे दीक्षित कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व के सामने इन जटिल-बंधुओ को नत-मस्तक होना पडा। तीनो भाइयो ने अपने अनुयायियों के साथ बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।[११] इस घटना का स्थानीय जनता पर स्वभावतः अद्भुत प्रभाव पड़ा। तदनन्तर बुद्ध गयासीस चले गये और वहाँ से राजगृह।[१२] दिनानुदिन उनकी ख्याति फैलने लगी। मगधराज बिंबिसार भी बुद्ध का यशगान सुनकर प्रभावित हुए। जब राजगृह में बुद्ध का पदार्पण हुआ, तो बिंबिसार ने उनसे उपदेश श्रवण कर उनका भोजन-सत्कार किया और भिक्षुसंघ को वेंणुवन दान में दिया।[११]

बौद्ध-धर्म के प्रचार की दिशा मे उरुवेला के पश्चात् राजगृह मे दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई। राजगृह भी ब्राह्मण तापसो तथा ब्राह्मण धर्मावलम्बियो का प्रमुख गढ़ था और साथ ही मगध की राजधानी। वहाँ सञ्जय नाम के परिव्राजक अपने २५० शिष्यो के साथ निवास करते थे।[१४] इन शिष्यों मे प्रमुख थे, सारिपुत्त और मोग्गलान। सर्वप्रथम सारिपुत्त ने बुद्ध के शिष्य बनने का निश्चय किया। यह जानकर मोग्गलान ने भी अपने मित्र का अनुसरण किया।[१५] इन दोनो ने सञ्जय से बुद्ध से मिलने का अनुरोध किया, पर वे अपने गुरु को इसके लिए प्रवृत्त नही कर पाये। अत मे उन्होने सञ्जय का साथ छोड दिया और उनके सभी अनुयायियो के साथ बुद्ध से उपसपदा की दीक्षा ली।[१६] इस प्रकार राजगृह मे भी बुद्ध को चमत्कारपूर्ण सफलता मिली। इस घटना के बाद राजगृह के समृद्ध नागरिको ने बुद्ध के विरुद्ध आवाज उठायी। इस बुद्ध-विरोध का मुख्य कारण था—नवयुवको को भिक्षु बनाना, जिससे माता-पिता सन्तानहीन होने लगे, पत्नियाँ पतिविहीना होने लगी और अनेक परिवारो मे कोई उत्तराधिकारी नही बचा।[१७] बुद्ध ने अपने शिष्यो को इस विरोध का शातिपूर्वक सामना करने का उपदेश दिया। उन्होने अपने शिष्यो से कहा—'हे भिक्षुओ, आपलोग विरोध करने वालो को कहे कि महावीर तथागत लोगो को सद्धर्म के मार्ग से ले चलते है, शाक्यपुत्र बुद्ध के अनुयायी श्रमण, धर्म के मार्ग से लोगो को ले जाते हैं, अधर्म से नही।' फिर, सारा विरोध एक सप्ताह के बाद शात हो गया।[१८]

उरुवेला और राजगृह मे बुद्ध की सफलता के फलस्वरूप भिक्षुओ की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हो गयी। जब उनकी सख्या लगभग तेरह सौ पहुँच गयी, तो भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-सघ के लिए विनय के नियम बनाना प्रारम्भ किया। विनय के नियमो के सग्रह का नाम पडा विनय-पिटक। बौद्ध भिक्षु-सघ का विवरण अन्तिम परिच्छेद मे दिया गया है। बुद्ध ने अपने जीवन का अधिकाश समय बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश मे व्यतीत किया। वे इस क्षेत्र के ग्रामो, निगमो तथा राजधानियो मे घूमते रहे, धर्म का उपदेश देते रहे। इस भूभाग की जनता तथा शासक-वर्ग ने उनके धर्मोपदेश से प्रभावित हो उनका अतिशय सम्मान किया। विनय-पिटक के अनुसार जबतक भगवान् बुद्ध राजगृह मे रहे, उनको बिम्बिसार का सहयोग मिला और राजवैद्य जीवक ने उनके स्वास्थ्य की देखभाल की।[१९] जब वहाँ बौद्ध-मत की जडें जम गयी, तब उन्होने कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान किया,[२०] परन्तु राजगृह से उनके सम्बन्ध की यही इति नही हो गयी। वस्तुतः राजगृह से उनका सम्बन्ध आजीवन बना

रहा। वहाँ उन्होने सम्बोधि प्राप्त करने के पश्चात् प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, सप्तम तथा बीसवाँ वर्षावास व्यतीत किया।[२१] उन्होने एकादश वर्षावास ब्राह्मणग्राम एकनाल मे किया जो मगध के दक्षिण दक्षिणागिरि के निकट था।[२२] यही उन्होने कसिभारद्वाज-सुत्त नामक प्रवचन दिया। अपने जीवन के उत्तरार्ध मे जब वे श्रावस्ती मे वास करने लगे थे तब भी वे राजगृह आते रहे। राजगृह मे ही उन्होने अपने कई प्रसिद्ध प्रवचन दिये, जैसे—आटानाटिय-सुत्त, उदुम्बरिक-सुत्त, कस्सपसीहनाद-सुत्त, जीवक-सुत्त, महासकुलुदायी-सुत्त तथा सक्कपञ्ह-सुत्त।[२३] भगवान् बुद्ध की अंतिम पदयात्रा भी राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत से आरम्भ हुई थी।[२४] राजगृह के अतिरिक्त उन दिनो बिहार मे दो प्रमुख नगर थे, वैशाली और चम्पा। इन नगरों मे भी बुद्ध कई बार गये। जब उन्होने प्रथम बार वैशाली मे पदार्पण किया, तो उस समय अम्बपाली (आम्रपाली) ने उनका अतिथि सत्कार करके भिक्षु-सघ को आम्रपालीवन का दान कर दिया। जब बुद्ध वैशाली जाते थे तो वे प्राय· महावन मे वास करते थे। वैशाली मे उनके प्रसिद्ध प्रवचन हुए— महालि-सुत्त, महासीहनाद-सुत्त, चुल्लसच्चक-सुत्त, महासच्चक-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त, वच्छगोत्त-सुत्त, सुनक्खत्त-सुत्त तथा रतन-सुत्त।[२५] चम्पा मे वे गग्गरा-पोक्खरणी के तटवर्ती वन मे वास करते थे, जहाँ उन्होने सोणदड-सुत्त, दसुत्तर-सुत्त, कन्दरक-सुत्त तथा कारण्डव-सुत्त नाम के धर्मोपदेश दिये।[२६]

कोशल-राज्य की राजधानी श्रावस्ती मे भी भगवान् बुद्ध का राजगृह के समान स्वागत किया गया। कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने तो बुद्ध का सम्मान किया ही, वहाँ के श्रेष्ठियो ने अपने उदार दान से बौद्ध-सघ को समृद्ध किया। वहाँ के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक द्वारा बौद्ध-सघ को जेतवन के दान की कथा प्रसिद्ध है। अनाथपिंडिक ने उस उद्यान का मूल्य वहाँ की सम्पूर्ण भूमि को स्वर्णमुद्राओ से आच्छादित करके चुकाया था।[२७] उसी जेतवन विहार मे भगवान् बुद्ध ने पचीस वर्ष निवास किया।[२८] इस अवधि मे उन्होने कई प्रसिद्ध प्रवचन दिये, जैसे—जटिल-सुत्त, चूलहत्थिपदोपम-सुत्त, महाहत्थिपदोपम-सुत्त, अस्सलायन-सुत्त, महाराहुलोवाद-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, ब्राह्मणधम्मिय-सुत्त, अगुलिमाल-सुत्त, सुन्दरिकभारद्वाज-सुत्त आदि। कौशाम्बी नगरी से भी बुद्ध का सम्बन्ध था और वहाँ वे घोषिताराम विहार मे वास करते थे।

बुद्ध के प्रमुख शिष्य—बौद्ध-धर्म के प्रचार मे मात्र भगवान् बुद्ध के भ्रमणों तथा उपदेशो का ही हाथ नही था, उनके प्रमुख शिष्य— सारिपुत्त, मोग्गलान,

महाकस्सप, आनन्द तथा उपालि की देन भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपने शिष्यो के सहयोग से ही भगवान् बुद्ध अपने धर्म की नीव को सुदृढ बनाने में सफल हुए। सारिपुत्त, मोग्गलान तथा महाकस्सप मगधवासी थे, आनन्द तथा उपालि कपिलवस्तु के रहने वाले थे। इन सभी ने भगवान् बुद्ध के सन्देशो के प्रचार मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सारिपुत्त भगवान् के अग्रश्रावक (प्रमुख-शिष्य) माने जाते थे।[२९] भगवान् ने सभी के सम्मुख सारिपुत्त को प्रज्ञावानो मे अग्रणी घोषित कर दिया था और भिक्षु-सघ मे बुद्ध के पश्चात् उनका ही स्थान माना जाता था।[३०] सारिपुत्त बुद्ध के बडे प्रिय एव विश्वासपात्र शिष्य थे। कभी-कभी प्रवचन के समय बुद्ध केवल विषय का प्रस्ताव मात्र कर देते और सारिपुत्त उपदेश देकर उनके द्वारा प्रशसित होते।[३१] सारिपुत्त के प्रवचनो मे सर्वाधिक प्रमुख हैं दसुत्तर-सुत्त और सगीति-सुत्त। बुद्ध सारिपुत्त के प्रज्ञा की सर्वदा प्रशसा करते थे। सारिपुत्त भगवान् के इतने बडे भक्त थे कि वे उस समय तक नियम-विरुद्ध काम नही करते थे, जब तक कि बुद्ध स्वय उनसे वैसा करने को नही कहते। एक बार वे रुग्ण हो गये और उन्हें ज्ञात था कि लहसुन खाने से वे स्वस्थ हो जायँगे, परन्तु उन्होने बुद्ध की अनुमति मिलने पर ही लहसुन खाया।[३२] अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्होने भगवान् बुद्ध मे अपनी अगाध श्रद्धा का प्रदर्शन किया था, जब उन्होने नालन्दा मे सीहनाद (सिंहनाद) किया।[३३]

महामोग्गल्लान या मोग्गल्लान (मौद्गल्यायन) का स्थान भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्यो मे द्वितीय था। उनका जन्म राजगृह के निकट कोलितग्राम मे हुआ था। सयोगवश सारिपुत्त और मोग्गल्लान, दोनो परम मित्रो का जन्म एक ही दिन हुआ था।[३४] दोनो की मित्रता प्रगाढ थी, अत जब सारिपुत्त ने मोग्गल्लान को भगवान् की शरण मे जाने का अपना निश्चय बतलाया, तो उन्होने अपने मित्र का साथ नही छोडा।[३५] मोग्गल्लान को इद्धिमतो मे अग्रणी माना जाता था।[३६]

महाकस्सप (महाकाश्यप) धूतवादियो मे अग्रणी माने जाते थे। उनका जन्म मगध मे महातीर्थ नामक ब्राह्मण ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल मे हुआ था।[३७] पालि-सूत्रो के अनुसार महाकस्सप के ही सभापतित्व मे बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर राजगृह मे पाँच सौ प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओ की सगीति हुई जिसका नाम पडा, प्रथम बौद्ध सगीति।[३८] कहा जाता है कि इन भिक्षुओ ने राजगृह के सप्तपर्णीगुहा मे एकत्र होकर धम्म तथा विनय के सूत्रो का इस उद्देश्य से पाठ किया कि भगवान्

द्वारा उपदिष्ट सूत्रो के स्वरूप को यथावत् सुरक्षित रखा जा सके । महावश मे इस संगीति का नाम थेर-सगीति दिया गया है और कहा गया है कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म का जो स्वरूप स्थिर हुआ वह थेरवाद कहलाया ।[१९] पालि-पिटक में महाकस्सप को प्रथम बौद्ध सगीति के सभापति के रूप मे उल्लेख करना बौद्ध-धर्म में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान का द्योतक है ।

बुद्ध के विरोधी और समर्थक— धर्म-प्रचार के क्रम मे भगवान् बुद्ध को आतरिक विद्रोह तथा बाह्य विरोध का भी सामना करना पडा । इस प्रकार की अधिकतर घटनाएँ मगध तथा कोशल राज्यो मे घटित हुईं । बौद्धमत के आतरिक विद्रोहियो मे षड्वर्गीय भिक्षुओ का प्रमुख उल्लेख मिलता है । इन भिक्षुओ मे दो राजगृह के निकट वास करते थे, दो कीटागिरि के निकट और दो कोशल मे । इन्होने सदा विनय के नियमो का उल्लघन किया । ये कई प्रकार के मानमानी कार्य करते थे, जैसे—उपज्झाय की अनुमति के बिना श्रामणेर पर प्रतिबन्ध लगाना, वरिष्ठ भिक्षुओ के शिष्यो को अपनी ओर मिलाना, निर्लज्ज भिक्षु को निस्सय की दीक्षा देना इत्यादि ।[२०] इस प्रकार के अनुशासन-भंग को प्रश्रय देना भगवान् द्वारा स्थापित भिक्षु-सघ के लिए सर्वथा अहितकर होता, अतः पालि-सूत्रो मे षड्वर्गियो की निंदा मिलती है । भगवान् बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुसघ को स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से सदा अनुशासन को प्रमुखता दी ।

देवदत्त भगवान् के प्रबल विरोधी थे । उनका सदा यही लक्ष्य रहता था कि बौद्ध-सघ मे वे बुद्ध को अपदस्थ कर स्वय बौद्ध-धर्म तथा संघ के प्रधान बन जायँ । इस उद्देश्य की सफलता मे अपने को असमर्थ पाकर उन्होने एक स्वतंत्र भिक्षु-सघ की स्थापना का विचार किया और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पाँच सौ भिक्षुओ को साथ लेकर वे गयासीस चले गये, परन्तु सारिपुत्त और मोग्गल्लान ने वहाँ जाकर उन विपथगामी भिक्षुओ को समझा-बुझा कर वापस लाया ।[२१] इस पर देवदत्त चुप नही बैठे । वे बुद्ध के विरुद्ध आचरण करते रहे । कहा जाता है कि जिस दिन उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु-संघ मे प्रवेश किया, उसी दिन से उनके मन मे इस विचार ने घर बना लिया कि उनको संघ के सर्वोच्च-पद को सुशोभित करना है । अपनी इसी दुराकाक्षा के कारण वे बुद्ध के प्रति सदा ईर्ष्यालु बने रहे । जब बुद्ध वृद्ध हो चले तो उन्होंने उनसे संघ के नेतृत्व का त्याग करने को कहा ।[२२] अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने राजगृह मे बुद्ध की हत्या का भी तीन बार प्रयास किया । इस कार्य

के लिए राजकीय धनुर्धरो को नियुक्त किया गया, पर बुद्ध के निकट जाकर उनका हृदय-परिवर्तन हो गया।[८३] तदनन्तर जब बुद्ध एक दिन चारिका के लिए नगर की ओर जा रहे थे, तो गृध्रकूट पर्वत के ऊपर से एक शिलाखंड गिराया गया, पर उससे केवल भगवान् के पैर का अँगूठा आहत हुआ, जिसकी चिकित्सा जीवक ने की। पुन देवदत्त ने राजकीय फीलवानो को फुसलाकर नालागिरी नामक हाथी को सुरामदमत्त कर उमी मार्ग पर छोड देने का कुचक्र रचा जहाँ से बुद्ध को चारिका के लिए जाना था। परन्तु, सुरामदोन्मत्त नालागिरि भी जब बुद्ध के सन्मुख आया, तो वह नतमस्तक हो गया। चुल्लवग्ग मे इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"भगवान् पूर्वाह्न समय बहुत से भिक्षुओ के साथ राजगृह मे पिडचार के लिए प्रविष्ट हुए। तब भगवान् उसी सडक पर आये। फीलवानो ने भगवान् को उस सडक पर आते देखा। देखकर नालागिरि हाथी को छोडकर, सडक पर कर दिया। नालागिरि हाथी ने दूर से भगवान् को आते देखा। देखकर सूँड को खडाकर, प्रहृष्ट हो, कान चलाते जहाँ भगवान् थे, उधर दौडा · तब भगवान् ने नालागिरि हाथी को मैत्री-(भावना)-युक्त चित्त से आप्लावित किया। नालागिरि हाथी भगवान् के मैत्री-(पूर्ण)-चित्त से स्पृष्ट हो, सूँड को नीचे करके, जहाँ भगवान् थे, वहाँ जाकर खडा हो गया। भगवान् ने दाहिने हाथ से नालागिरि के कुम्भ को स्पर्श किया··। तब नालागिरी हाथी ने सूँड से भगवान् के चरण-रज को ले, सिर पर डाला।"[८४]

भगवान् बुद्ध को मगध, अग, कोशल आदि राज्यो मे ब्राह्मणो के प्रतिरोध का भी सामना करना पडा था। जब सोणदण्ड[८५] कूटदण्त,[८६] तथा अन्य ब्राह्मण महासाल बुद्ध के दर्शनार्थ गये, तो ब्राह्मणो ने उनसे अपना विरोध प्रकट किया। राजगृह के सञ्जय परिव्राजक ने अपने प्रमुख शिष्यो—सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान के समझाने पर भी बुद्ध के निकट जाना स्वीकार नही किया। कसिभारद्वाज ने प्रथम तो बुद्ध से तर्क किया, तदनन्तर वे उनके बडे प्रशसक बन गये।[८७] महावीर और गोसाल स्वभावत· बुद्ध-विरोधी थे। बुद्ध के समकालीन अन्य नास्तिकवादी भी उनके विरोधी थे। जातको मे नास्तिको के बुद्ध-विरोध का वर्णन मिलता है। महाद्रुम-जातक के अनुसार बुद्ध के उपदेशो की लोकप्रियता के कारण पाखडियो को गृहस्थो से जो सत्कार और दान अबतक मिलते रहे थे, वे बन्द हो गये। अतः उन्होने भगवान् को बदनाम करने के प्रयत्न किये। मणिसूकर-जातक (२८५) मे वर्णन मिलता है कि नास्तिको ने बुद्ध को कलकित

करने के लिए सुन्दरी नाम की एक स्त्री को नियुक्त किया। वह स्त्री नित्य भगवान् के दर्शनार्थ पुष्प, गंध, विलेपन आदि लेकर जाती और लोगो से कहा करती कि उसने रात भगवान् के पास बितायी। एक दिन पाखडियो ने गुण्डों द्वारा सुन्दरी की हत्या करा कर उसके शव को बुद्ध के आवास के सामने फेंक दिया।[४८] इस कुचक्र से भी वे बुद्ध को कलकित न कर सके, क्योंकि राजपुरुषो ने गुण्डों को पकड लिया और भयभीत हो गुण्डो ने सारी बात उगल दी। इससे बुद्ध की ख्याति और तेजी से बढने लगी और नास्तिकों की बडी बदनामी हुई। इसी प्रकार की एक अन्य कहानी महापदुम-जातक (४७२) मे है जिसके अनुसार पाखडी गलियो के नुक्कडो पर खड़े होकर चिल्लाया करते थे—"उस तपस्वी गौतम बुद्ध मे क्या रखा है ? हम भी बुद्ध हैं, क्या वही दान फलदायक होता है जो गौतम को दिया जाता है ? जो दान हमे दिया जायगा, उससे भी वही फल मिलेगा, अतः आपलोग हमें भी दान दें।" इसपर भी गृहस्थो से उन्हे सत्कार अथवा दान नही मिले, अतः क्रुद्ध होकर उन्होने भगवान् को कलकित करने के लिए कुचक्र रचा। इस प्रकार की कहानियो की पूर्ण सत्यता अविश्वसनीय है, इनमे सत्याश इतना ही है कि नास्तिक पाखडी बुद्ध-विरोधी थे, परन्तु उनके विरोध का बौद्ध-धर्म के प्रसार एव बुद्ध की जन-प्रियता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडा।

मगधराज बिम्बिसार और कोशल-नरेश प्रसेनजित् भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धालु थे और उन्होने उनको अपना सहयोग प्रदान किया। प्रसेनजित् की पत्नी रानी मल्लिका भी बुद्ध की उपासिका थी। बिम्बिसार तो भगवान् बुद्ध के मित्र ही थे, पर उनके पुत्र अजातशत्रु देवदत्त से प्रभावित होने के कारण बुद्ध के समर्थक नही थे। जब उन्हे कारागार मे अपने पिता की मृत्यु हो जाने के कारण मानसिक अशाति रहने लगी, तो वे बुद्ध की शरण मे गये।[४९] दीर्घ-निकाय के अनुसार अजातशत्रु को अन्ततोगत्वा भगवान् बुद्ध के उपदेशों से मानसिक शाति की उपलब्धि हुई। तब से वे बुद्ध के भक्त हो गये। बौद्ध साहित्य और कला ने उनको बुद्ध के उपासक के रूप में चित्रित किया है। अजातशत्रु को भगवान् बुद्ध के परिनिर्वृत्त होने पर उनके शरीरावशेष का अष्टम-भाग अपने हिस्से मे प्राप्त हुआ, जिसकी पूजा के लिए उन्होने राज-गृह मे एक अस्थि-स्तूप का निर्माण करवाया। भगवान् के अस्थियो को मगध-राज अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अलकप्पा के बुलियो, वेट्ठदीप के ब्राह्मणो, पावा के मल्लों, कुसिनारा के मल्लो तथा रामग्राम

के कोलियो के बीच समान विभाजित किया गया। इन सभी ने भगवान् बुद्ध के अस्थि-स्तूप बनवाये और इस प्रकार आठ अस्थि-स्तूपो का निर्माण हुआ।[५०] इन आठ अस्थि-स्तूपो के अतिरिक्त दो और स्तूप बने—द्रोण ब्राह्मण ने कुम्भ का (कुम्भ-स्तूप) और पिप्पलिवन के मौर्यों ने अगारो का स्तूप बनाया। इस प्रकार कुल दस स्तूप बने।[५१] महावश के अनुसार अजातशत्रु ने एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया और रामग्राम के स्तूप को छोडकर अन्य सात स्तूपो से सात द्रोण अस्थियो का सग्रह कर उसमे स्थापित किया। पश्चात् इसी स्तूप के अस्थियो का वितरण अशोक ने अपने द्वारा निर्मित स्तूपो मे किया।

बौद्ध सगीतियाँ—बौद्ध-ग्रथो मे बुद्ध-परिनिर्वाण के ढाई शताब्दियो के अन्दर ही तीन बौद्ध सगीतियो के वर्णन मिलते हैं। प्रथम सगीति बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात् अजातशत्रु के राज्यकाल मे राजगृह मे हुई, और दूसरी का आयोजन उसके एक शताब्दी बाद कालाशोक के राज्यकाल मे वैशाली मे हुआ। पालि-सूत्रो के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के शीघ्र पश्चात राजगृह मे प्रमुख बौद्ध-भिक्षुओ की एक सभा महाकस्सप के सभापतित्व मे आयोजित की गयी जिसमे धर्म और विनय के नियमो का संग्रह किया गया।[५२] इस सग्रह को थेरवाद, अर्थात् थेरो का मत अथवा बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तो की सज्ञा दी गयी। इस सगीति मे भाग लेने वाले प्रमुख भिक्षु थे—आनन्द, उपालि, अनुरुद्ध आदि, जो बौद्ध-मत के विभिन्न विषयो के प्रामाणिक ज्ञाता माने जाते थे।[५३]

बुद्ध-परिनिर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् कालाशोक शैशुनाग के शासन-काल मे बौद्ध-भिक्षुओ की द्वितीय सगीति वैशाली मे हुई।[५४] बौद्ध-परम्परानुसार भगवान् के परिनिर्वाण के अनन्तर सौ वर्षों तक तो बौद्ध-धर्म का मूलरूप अपरिवर्तित रहा, परन्तु वैशाली के भिक्षुओ के कारण एक बडा सघ-भेद हुआ। चुल्लवग्ग तथा दीपवश के अनुसार वैशाली में बारह हजार भिक्षुओ ने एकमत होकर घोषित किया कि थेरवाद के दस निषेधो का उल्लघन धर्म-सगत है। इस प्रकार के नियम-विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति के निवारण हेतु वैशाली के कूटागारशाला मे बडी सख्या मे एकत्र होकर भिक्षुओ ने नियम-भग करने वाले वज्जिपुत्र भिक्षुओ को सघ से वहिष्कृत कर दिया। इस पर वहिष्कृत भिक्षुओ ने एक सगीति का आयोजन कर अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। इस सगीति के पश्चात् बौद्ध-संघ मे भेद बढ़ता गया और भविष्य मे नये मतों का प्रादुर्भाव हुआ। भेद की इस प्रवृत्ति का अन्त करने के लिए अशोक ने कई कदम उठाये। उन्होंने अपने राज्यकाल में पाटलिपुत्र में बौद्धो की तृतीय सगीति

का आयोजन किया। संघ-भेद को समाप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने अपने धर्मलेख के माध्यम से यह राजाज्ञा प्रसारित की कि भिक्षु अथवा भिक्षुणी जिसे सघ-भेद का दोषी पाया जायगा उसे संघ से निष्कासित कर दिया जायगा।

बुद्ध का कार्यक्षेत्र—बौद्ध-धर्म का प्रमुख गढ़ बना—बिहार, जहाँ से इस धर्म का प्रसार देश के विभिन्न भागो मे हुआ। बिहार के अतरिक्त उत्तर प्रदेश के पूर्वी भूभाग मे इसका विशेष प्रचार हुआ। पालि-पिटक के अनुसार भगवान् बुद्ध का कार्यक्षेत्र मज्झिम देश मे सीमित रहा। अतः मज्झिम देश के सीमा निर्धारण से तथा भगवान् बुद्ध की पदयात्रा के विवरण के आधार पर बौद्ध-धर्म के प्रचार-क्षेत्र का सही अनुमान लगाना संभव है।[५५] पूर्व दिशा मे कजंगल (वर्तमान ककजोल, जिला सथाल परगना) तक बुद्ध के जाने का उल्लेख मिलता है, अतः यही मज्झिम देश की पूर्वी सीमा होगी। भगवान् बुद्ध दक्षिण मे हजारीबाग जिले की सललवती नदी के पार नही गये। दक्षिण-पूर्व मे वे सुसुमारगिरि, कौशाम्बी तथा अवन्ती गये। महावग्ग के अनुसार अवन्ती मे बौद्धमतावलबियो की संख्या न्यून थी। पश्चिम दिशा मे बुद्ध मज्झिम-निकाय के अनुसार थुल्लकोट्ठित (कुरु राज्य मे) तक गये थे, पर अगुत्तर-निकाय मे मथुरा तक ही उनके जाने का उल्लेख मिलता है। महावग्ग के अनुसार ब्राह्मणग्राम थूण (थानेश्वर) मज्झिम देश की पश्चिमी सीमा था। मज्झिम देश के उत्तरी सीमान्त मे उसीरध्वज नामक पर्वत था जो हरिद्वार के निकट है। अतः पश्चिम तथा उत्तर दिशाओ में बौद्ध धर्म का प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमा के पार नही हुआ। भगवान् बुद्ध के जीवन के पचीस वर्ष श्रावस्ती मे व्यतीत हुए। पालि-निकाय मे उनके धर्मोपदेशो तथा पदयात्राओ से सम्बद्ध जिन स्थानो के उल्लेख मिलते है, उनमे अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे पडते है, अत यही भूभाग बौद्ध-धर्म का गढ़ था जहाँ से उसका प्रसार मध्य प्रदेश मे उज्जैनी तक हुआ।

बौद्ध-मत के प्रमुख सिद्धान्त— भगवान बुद्ध का लक्ष्य था मोक्ष का मार्ग बतलाना, अध्यात्मशास्त्र की जटिलताओं का तर्क की सहायता से समाधान ढूँढना नही। वे तो संसार को ऐसा सरल धर्म-मार्ग बतलाना चाहते थे जिस-पर चलकर सभी मनुष्य सासारिक कष्टों से मुक्ति पा सकें। लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत, लोक अन्तवान है या अनन्त, जीव और शरीर एक हैं या भिन्न, तथागत मरणोपरात होता है या नहीं— इत्यादि दार्शनिक समस्याओं की व्याख्या बुद्ध ने नही की, क्योंकि उनके विचार मे ये अर्थसंहित नही हैं

और न ब्रह्मचर्य प्रवण ही।[५६] श्रावकों से पूछे जाने पर उन्होने इन प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया। आचार-मार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान) सबोधि (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दु:ख-निरोध) उत्पन्न करने मे साधक न होने के कारण इन प्रश्नो को बुद्ध ने अव्याकृत (कथन के अयोग्य) बतलाया।[५७] इस विषय मे उन्होने एक अति सुन्दर यह दृष्टान्त दिया —'यदि कोई व्यक्ति विष-दिग्ध बाण से बिद्ध होकर पीडा से कराह रहा हो और उसके बन्धु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी वैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हो, तो क्या उस समय उस रोगी का वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि जानने का आग्रह करना बहुत बडी मूर्खता नही होगी ?' इसी प्रकार की दशा भवरोग से पीडित रोगियो की है। मनुष्य तो नाना प्रकार के दु:खो से पीडित है जिनसे मुक्ति पाने के लिए उसे एक आचारमार्ग की आवश्यकता है, न कि अध्यात्म की। अतः भगवान् बुद्ध ने उन प्रश्नो का जो दर्शन-शास्त्र के विषय है, उत्तर न देकर मोक्ष का उपाय बतलाया। पश्चात् जब बौद्ध दर्शन-शास्त्र सगठित हुआ तो दार्शनिक प्रश्नो के उत्तर दिये गये।

भगवान् बुद्ध ने ससार जैसा है उसी रूप मे उसके अस्तित्व को स्वीकार किया। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का निचोड चतुष्टय-आर्यसत्य है। भगवान् ने इन चार आर्य-सत्यो (चत्वारि आर्य-सत्यानि) का रहस्योद्घाटन किया[५८] —(१) दु खम् (ससार मे जीवन दु खमय है), (२) दु:ख-समुदाय (इन दु खो के कारण विद्यमान हैं), (३) दु ख-निरोध (दु खो से मुक्ति सम्भव है) तथा (४) दु ख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा (दु खो से निरोध के लिए उचित उपाय अथवा मार्ग हैं)। सत्यो की सख्या अनन्त है, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण ये ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ है। इन सत्यो की तह तक आर्य अर्थात् विद्वज्जन ही पहुंच सकते हैं, अत इनको आर्य कहा गया।

प्रथम आर्य-सत्य है दु:खम्। इस ससार मे दु:ख की सत्ता इतनी ठोस और स्थूल है कि उसका अपलाप नही किया जा सकता। प्राणिमात्र किसी-न-किसी कष्ट से पीडित है। द्वितीय आर्य सत्य है दु ख-समुदाय, अर्थात् दु खो के कारण विद्यमान है। दु ख की उत्पत्ति के यथाभूत ज्ञान के बिना दु ख-निरोध सम्भव नही। दुःख की उत्पत्ति का एक ही कारण नही है, परन्तु कारणो की एक लम्बी शृखला है। इस कारण परम्परा की सज्ञा है, द्वादश-निदान। द्वादश-निदान का दूसरा नाम प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-परम्परा) है। यह बौद्ध-धर्म का मूल-सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है— किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति, अर्थात् सापेक्ष कारणवाद। ये द्वादश

निदान हैं[९]—(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। इनमे प्रत्येक पूर्व-निदान का कारण पर-निदान है। जरामरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव, अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म। भव की उत्पत्ति होती है उपादान, अर्थात् आसक्ति से। उपादान भी अनेक हैं, जैसे—कामोपादान (स्त्री मे आसक्ति), शीलोपादान (व्रतो में आसक्ति), आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)। कामोपादान से बढ़कर है शीलोपादान और उससे बढ़कर है आत्मोपादान। आसक्ति का कारण है तृष्णा (इच्छा)। तृष्णा उत्पन्न होती है इन्द्रियो द्वारा बाह्यार्थानुभव से, अतः वेदना (इन्द्रिय-जन्य अनुभूति) ही तृष्णा की जननी है। वेदना का स्रोत है स्पर्श, अर्थात् विषयेन्द्रिय सम्पर्क और स्पर्श की उत्पत्ति होती है षडायतन (मन सहित ज्ञानेन्द्रिय पचक) से। षडायतन नामरूप— दृश्यमान शरीर तथा मन से सवलित स्थान-विशेष का कार्य है। नामरूप की सत्ता विज्ञान (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ से भ्रूण के नाम-रूप का साधक है। विज्ञान उत्पन्न होता है सस्कार (पूर्वजन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न सस्कार) से जो स्वय अविद्या (अज्ञान) का कार्य है। इस प्रकार समस्त दु.खो का मूल कारण है, अविद्या। द्वादश निदानो के इस चक्र की सज्ञा भवचक्र है।[१०]

तृतीय आर्य-सत्य है दु.ख-निरोध, अर्थात् निर्वाण। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। अत. यदि कारण-परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। दुःखो का आद्य कारण अविद्या है, जिसका विद्या द्वारा निरोध कर देने पर दु.ख-निरोध हो जाता है।

चतुर्थ आर्य-सत्य है दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, अर्थात् निर्वाण-मार्ग। भगवान् बुद्ध ने न तो सासारिक सुखोपयोग मे जीवन व्यतीत करने वाले सुख-मार्गियो के मार्ग को, और न कठोर व्रताचरण से शरीर को सुखाने वाले तापसो के मार्ग को, निवार्ण के लिए सहायक माना। उन्होने सुख-दुःख के उभय छोरो का त्यागकर 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन किया। इस प्रतिपद् को 'आर्य-अष्टागिक मार्ग' भी कहते हैं।[११] ये अष्टाग हैं—(१) सम्यक्-दृष्टि (आर्य सत्यो का तत्त्वज्ञान), (२) सम्यक्-सकल्प (दृढ निश्चय), (३) सम्यक्-वचन (सत्य-वचन), (४) सम्यक्-कर्मान्त (हिंसा-द्रोह-दुराचरण-रहित कर्म), (५) सम्यक्-आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), (६) सम्यक्-व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने

देना तथा उपकार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना), (७) सम्यक्-स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि, अनित्य-रूप की उपलब्धि तथा लोभादि चित्त-सताप से दूर होना), (८) सम्यक्-समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व-विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टागिक मार्ग के सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् बुद्ध ने जो मोक्ष-मार्ग बतलाया वह उपनिषद्-प्रतिपादित मार्ग से सर्वथा भिन्न नही है। उन्होने ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया और सर्व दुःखों का मूल अज्ञान को माना। ज्ञान के बिना मुक्ति की कल्पना बुद्ध ने नहीं की, परन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर को उसके धारण के योग्य बनाना आवश्यक होता है। ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है, अत बुद्ध ने शील के आचरण द्वारा शरीर-शुद्धि पर बल दिया। शील का तात्पर्य समग्र सात्विक कर्मों से है और बौद्ध-धर्म मे गृहस्थ तथा भिक्षु दोनो के लिए कतिपय शीलो का पालन करना कर्त्तव्य माना गया है।[६२] गृहस्थ के लिए पचशील का विधान मिलता है, पर भिक्षु के लिए दसशील का। गृहस्थ के पंच-शील हैं— प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान-विरति, काम-मिथ्याचार-विरति, मृषावाद-विरति तथा सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति।[६३] शीलो के साथ समाधि और प्रज्ञा के सेवन पर भी बुद्ध ने बल दिया। सामञ्ञफलसुत्त मे चार प्रकार की समाधि का दृष्टात-सहित वर्णन उपलब्ध होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की बतलायी गयी है— श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी। भगवान् बुद्ध ने कहा कि प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान-दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म-स्मरण और दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। जब चित्त कामाश्रव (भोगने की इच्छा), भवाश्रव (जन्म लेने की इच्छा) तथा अविद्याश्रव (अज्ञान-मल) से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, तब साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। शील, समाधि और प्रज्ञा[६४] को बौद्ध-दर्शन मे त्रिरत्न की संज्ञा दी गयी है और इन तीन शब्दो मे ही बुद्ध के उपदेशों का साराश अभिव्यक्त होता है।

११

जैन-मत, आजीविक-मत तथा पूरण-कस्सप, पकुध-कच्चायन, संजय-वेलट्ठिपुत्त और अजित-केसकम्बली के मत

जैनमत का विकास एवं प्रसार—जैन-मत बौद्ध-मत से अधिक प्राचीन है। भगवान् बुद्ध बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक थे, पर उनके समकालीन वर्द्धमान् महावीर जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। जैन-परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर थे ऋषभदेव, और तेईसवें थे पार्श्वनाथ।[1] शेष तीर्थंकरो के क्रमशः ये नाम मिलते हैं— अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयाशनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ धर्मनाथ, शातिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनि-सुव्रत, नमिनाथ तथा नेमिनाथ (अरिष्ट नेमिनाथ)।[2] इन तीर्थंकरो के जीवन-चरित जैन-सूत्रो तथा जैन गुरुओ द्वारा रचित चरित्रो मे उपलब्ध हैं।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका आदिनाथ नाम भी मिलता है। कहा जाता है कि उन्ही के पुत्र प्रसिद्ध दार्शनिक राजा भरत अथवा जड़भरत थे।[3]

प्रोफेसर जकोबी तथा कतिपय अन्य विद्वानो के मतानुसार पार्श्वनाथ ही जैन-मत के वास्तविक प्रवर्तक थे। वे महावीर के परिनिर्वाण से २५० वर्ष पूर्व परिनिवृ॑त्त हुए थे।[4] वे काशिराज अश्वसेन तथा रानी वामा के पुत्र थे। जब वे गर्भ मे थे उस समय एक दिन जब उनकी माता अधेरे मे लेटी हुई थी, तो उन्होने एक कृष्ण-नाग को अपने पार्श्व मे रेंगते हुए देखा, अत· उनके पुत्र का नाम पार्श्वनाथ रखा गया। बड़े होने पर पार्श्वनाथ एक कुशल योद्धा हुए। उन्होने कलिंगराज को पराजित कर अपने रणकौशल का परिचय दिया। उनका विवाह अयोध्या की राजकुमारी प्रभावती से सपन्न हुआ। तीस वर्ष की उम्र तक सुख-वैभव का गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करने के अनन्तर पार्श्वनाथ प्रव्रजित हो गये। ८३ दिनो की कठोर तपस्या के पश्चात् ८४वें दिन उन्हे कैवल्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई। तदनन्तर वे ७० वर्षों तक अपने मत का उपदेश देते रहे और सौ वर्ष की परिपक्व उम्र में उन्होने पार्श्वनाथ की पहाडी मे निर्वाण प्राप्त किया।[5]

महावीर का जन्म वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम के एक ज्ञातृकुल मे हुआ था।[६] पालि-निकाय मे इनका उल्लेख निगण्ठ नातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के नाम से मिलता है।[७] महावीर ने भी बुद्ध के समान सासारिक सुख वैभव का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लिया। ससार का त्याग कर वे कठोर तपश्चर्या करने लगे जिसका विस्तृत वर्णन आचारग-सूत्र मे मिलता है।[८] वे वन-प्रदेशों मे भ्रमण करते रहे जहाँ जगली जातियाँ निवास करती थी। उन जगली जातियों ने उन्हे अनेक प्रकार की यातनाएँ दी। सभवत. वे छोटानागपुर के उत्तरी भाग के जगली क्षेत्रो मे पद-यात्रा करते रहे। बीच-बीच मे राजगृह मे उनका आगमन हो जाता था और वहाँ उनका समुचित सत्कार किया जाता था। इसी क्रम मे वे नालन्दा भी गये। वहाँ उनकी भेट आजीविक-मत के प्रवर्तक मक्खलि गोसाल से हुई और दोनो कतिपय वर्षों तक साथ रहे भी। महावीर को बारह वर्षो के कठिन तपोमय जीवन के अनन्तर तेरहवे वर्ष मे कैवल्य की उपलब्धि हुई।[९] उस समय उनकी वय बयालीस वर्ष थी। यहाँ से उनके जीवन के प्रमुख अध्याय का आरम्भ हुआ। जिनत्व प्राप्त कर महावीर निगण्ठ सम्प्रदाय के प्रमुख हो गये। उन्होने जैन-सघ को सुसगठित किया। कहा जाता है कि उनके अनुयायियो मे प्रमुख थे १४ हजार जैन मुनि। इनमे भी प्रमुख थे, उनके ग्यारह शिष्य, जो गणधर कहे जाते थे। इन गणधरो मे दो—गौतम तथा सुधर्म महावीर के निर्वाण के अनन्तर भी जीवित रहे।[१०] भगवान् महावीर ने तीस वर्षों तक घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार किया था, पर इस विषय मे विशेष जानकारी उपलब्ध नही है। कल्पसूत्र के अनुसार उन्होने राजगृह, नालन्दा, चम्पा, वैशाली, मिथिला तथा श्रावस्ती मे वास किया था।[११] पालि-सूत्रो के अनुसार महावीर तथा उनके अनुयायियो के प्रमुख कार्यक्षेत्र थे—राजगृह, नालन्दा वैशाली, पावा और श्रावस्ती।[१२] उनका निर्वाण भी पावा नामक स्थान मे हुआ[१३] जो राजगृह के निकट जैनियो का प्रमुख तीर्थ है। इस प्रकार जैन-धर्म का प्रसार बौद्ध-धर्म की तुलना मे अधिक सीमित क्षेत्र मे हो पाया।

भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग को श्रेयस्कर माना, परन्तु महावीर ने कठोर तप का मार्ग अपनाया। अतएव बौद्ध एवं जैन मतो मे नैसर्गिक विरोध है। बुद्ध ने शरीर को कष्ट पहुँचाने के कारण निगण्ठों की निन्दा की; उनको मिथ्याजीवी कहा।[१४] बुद्ध के विरोध के फलस्वरूप महावीर के धर्म-प्रचार मे विघ्न हुआ। बुद्ध ने महावीर के उपासक लिच्छवि-सेनापति को बौद्ध बनाया।[१५] अजातशत्रु सशयोच्छेदन के लिए महावीर के निकट गये, किन्तु उन्हे उनसे कोई सतोषप्रद

उत्तर नहीं मिल सका, जिससे वे बुद्ध की शरण मे चले गये।[१६] राजगृह में उपालि नाम का एक निगण्ठ था। वह बुद्ध से शास्त्रार्थ करने लगा पर शीघ्र ही उसका मुँह बन्द हो गया। इस पर उसने महावीर से अशिष्ट व्यवहार किया जिससे मर्माहत हो उन्होने रक्त वमन किया।[१७] इस तरह पालि-सूत्रो मे निगण्ठो को बौद्धो से नीचा दिखलाया गया है, पर बुद्ध और महावीर के प्रत्यक्ष विरोध का उल्लेख नही मिलता। दोनो की प्रतिस्पर्धा के विषय मे पर्याप्त सूचना का अभाव है जिससे प्रतीत होता है कि उनमे अधिक वैर नही था। दोनों ही आजीविको को सबसे बुरा मानते थे। महावीर के सबसे प्रबल शत्रु थे—मक्खलि गोसाल। जैनियो तथा आजीविकों के रहन-सहन मे बडा साम्य था। दोनो नग्नता तथा सासारिक सुख-सुविधा के त्याग का समर्थन करते थे। कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व महावीर कई वर्षो तक गोसाल के साथ रहे भी। पश्चात् दोनो के सम्बन्ध के विषय मे अधिक बातें ज्ञात नही हैं। सभवतः इनके अनुयायी आपस मे लडते-झगड़ते रहे। भगवती-सूत्र मे महावीर और गोसाल के अतिम मिलन का विस्तृत विवरण मिलता है। जब तीर्थंकर महावीर श्रावस्ती गये तो उनके एक शिष्य से गोसाल ने कहा—'यदि महावीर मेरी निंदा करना बन्द नही करेंगे तो उन्हे खाक में मिला दिया जायगा।'[१८] इसे सुनकर महावीर ने अपने अनुयायियो को आदेश दिया कि वे आजीविको से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखे। जब गोसाल ने यह सुना तो वे क्रोधावेश में आकर महावीर के निकट गये और अपने नियतिवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करने लगे। महावीर ने उनसे कहा कि उनकी दशा ठीक उस मछली के समान है जो ग्रामीणो द्वारा पीछा किये जाने पर व्यर्थ छिपने का प्रयत्न करती है। इस आक्षेप को सुनकर उनका क्रोध और भी भडक उठा; उन्होने महावीर को शाप दिया और उनपर मत्र-प्रयोग भी किया, पर सब व्यर्थ। फल यह हुआ कि महावीर की मत्र-शक्ति के कारण सातवें दिन ही गोसाल की मृत्यु हो गयी।[१९]

गोसाल के देहावसान के पश्चात् सोलह वर्षों तक महावीर जीवित रहे।[२०] संभवतः अपने प्रबलतम विरोधी के समाप्त हो जाने के कारण महावीर को धर्म-प्रचार मे सुविधा हो गयी। जैन-सूत्रो के अनुसार बिम्बिसार और अजातशत्रु महावीर के उपासक थे। इन शासको ने जैनमत का आदर किया। इनमे धार्मिक सहिष्णुता थी और इन्होंने बौद्धो तथा जैनियो का समान आदर किया। वस्तुतः उन दिनो बौद्ध और जैन हिन्दू धर्म और समाज के अभिन्न अंग माने जाते थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु ने बुद्ध के उपासक होने पर

भी महावीर का कभी अनादर नही किया। जैनियो के प्रति अजातशत्रु ने अपने पिता की अपेक्षा अधिक उदारता दिखलायी। जैन-सूत्रो के अनुसार वे वैशाली और चम्पा मे महावीर का प्रायः दर्शन करते थे।[२१] जब महावीर ने त्याग और अहिंसा पर आधारित अपने सत्य-धर्म की व्याख्या की, तो उन्होंने उनपर अपनी अपार निष्ठा व्यक्त की। जैन-ग्रंथो मे अजातशत्रु को पितृघातक नही कहा गया है। अजातशत्रु के पुत्र उदायि जैनमत के प्रमुख आश्रय-दाता हुए। परिशिष्टपर्वन् के अनुसार उन्होने पाटलिपुत्र नगर के मध्य में एक जैन-मन्दिर का निर्माण करवाया।[२२] इस प्रकार उनके राज्यकाल मे जैन-मत के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। उनके प्रासाद मे भी जैन-भिक्षु निर्बाध प्रवेश करते थे और इसीका लाभ उठाकर किसी व्यक्ति ने जैन-श्रमण के छद्मवेश मे राजा की हत्या कर दी।[२३] तदनन्तर नन्दवशी राजाओ ने भी जैन-मत का अनादर नही किया। सभवत. वे जैन-मतावलम्बी थे, अत एक नन्द राजा ने कलिंग पर आक्रमण करके वहाँ से भगवान् जिन की प्रतिमा को पाटलिपुत्र स्थानान्तरित कर दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी जैन-धर्म का समादर किया। जैन-परम्परानुसार वे जैन-धर्मावलबी थे। इस प्रकार पूर्व भारत मे जैन-धर्म को पनपने का उपयुक्त वातावरण मिला और सदियो तक इसकी प्रतिष्ठा बनी रही। पश्चात् जैन धर्म का मुख्य क्षेत्र पश्चिम भारत हो गया।

जैन-मत के प्रमुख सिद्धान्त—जैन-दर्शन के दार्शनिक ग्रथो की बहुलता है, पर भगवान् महावीर के उपदेश अपने मूल-रूप मे हमे उपलब्ध नही हैं, क्योकि जैन-धर्म के आगम-ग्रंथो की रचना महावीर के निर्वाण के कई सौ वर्ष पश्चात् हुई : श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के परम्परानुसार इनका अतिम संशोधन इसवी सन की ६ठी शताब्दी मे वलभी मे हुआ। जैन-दर्शन की सुव्यवस्था का प्रारभ ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी मे किया गया। इस काल मे तीन विद्वानो— उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य तथा सामन्तभद्र ने जैन-धर्म की दार्शनिक नीव को दृढ किया। उमास्वाति[२४] मगधवासी थे। इन्होने अपना प्रख्यात ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थाधिगम की रचना की। कुन्दकुन्दाचार्य दक्षिण के प्रसिद्ध जैन-आचार्य थे।[२५] इन्होने अनेक ग्रथो की रचना की जिनमे तीन ग्रंथ— पचास्तिकायसार, समयसार तथा प्रवचनसार को जैन तत्त्व-ज्ञान मे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के समकक्ष माना जाता है।

पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतो— अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह के सेवन का उपदेश दिया।[२६] इन्होने अपने अनुयायियो को एक अधोवस्त्र और

एक उत्तरीय धारण करने की अनुमति भी दी थी, परन्तु महावीर कठोर तपश्चर्या के हिमायती थे, अतः उन्होंने वस्त्र-धारण तक का निषेध किया। उन्होंने पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों में ब्रह्मचर्य भी जोड दिया और पाँच महाव्रतों का प्रतिपादन किया। जैन-परम्परानुसार पार्श्वनाथ के केशिन् नामक अनुयायी और महावीर मे इस विषय पर विचार-विमर्श भी हुआ कि पार्श्वनाथ तथा महावीर की शिक्षा की असमानता को दूर किया जाय, परन्तु भिक्षुओं को वस्त्र-धारण की अनुमति दी जाय अथवा नही, इस पर वे एकमत न हो सके।[२७] इसी प्रश्न पर अवान्तर-काल मे जैनियो के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर, दो सम्प्रदाय हो गये।

भगवान् महावीर के उपदेशों का सग्रह है—कल्प-सूत्र तथा आचारंग-सूत्र मे। पालि-निकाय मे भी प्रसगवश उनके उपदेशों का उल्लेख हुआ है। दीघ-निकाय मे महावीर द्वारा प्रतिपादित निगण्ठ-मत के चातुर्याम-संवर सिद्धान्त का उल्लेख है।[२८] इस सिद्धान्त के अनुसार निगण्ठ चार प्रकार के संवरो से सवृत (आच्छादित, संयत) रहता है—१. वह जल के व्यवहार का वारण करता है (जिसमे जल के जीव न मारे जायँ), २. सभी पापो का वारण करता है, ३. सभी पापो के वारण करने से धुतपाप (पाप रहित) होता है, ४. सभी पापों के वारण करने मे लगा रहता है। महावीर ने बतलाया कि निगण्ठ इन चार प्रकार के सवरो से संवृत होने के कारण निर्ग्रन्थ, गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (सयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।

मोक्ष-मार्ग—जैन-धर्म मे मोक्ष के तीन साधन बतलाये गये हैं[२९]—(१) सम्यक्-दर्शन, (२) सम्यक्-ज्ञान तथा (३) सम्यक्-चारित्र्य। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, अतः मुमुक्षु का प्रधान साधन है—सम्यक्-श्रद्धा। दूसरा साधन है—सम्यक्-ज्ञान। श्रद्धा के समान ही समस्त सिद्धान्तो तथा तत्त्वो का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। पुनः सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान की चरितार्थता सम्यक्-चारित्र्य मे ही सम्पन्न होती है। इन मोक्षोपयोगी तीनो साधनो को जैन-दर्शन मे रत्न-त्रय की सज्ञा दी गयी है।[३०]

जैन-दर्शन मे मनुष्य के व्यक्तित्व को द्वैत माना गया है— द्रव्यमय और जीवमय। जीव निसर्गतः मुक्त है, परन्तु वासनाजन्य-कर्म उसके शुद्ध-स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। ये कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं। कुछ कर्म ज्ञान को आवृत्त किये हुए हैं, कुछ दर्शन को और कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने हुए । इस प्रकार ये कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं— ज्ञानावरणीय,

दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय।[31] जब जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध-विच्छेद होगा, तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी, तब जीव जिन (विजयी) हो जायगा, वह पूर्णमुक्त एव आनन्दमय हो जायगा। जैन-धर्म आजीविको मे समान मनुष्य को अनुत्तरदायी नही मानता है। वह तो इसमे विश्वास करता है कि मनुष्य स्वयमेव अपने सुख-दुःख के लिए उत्तरदायी है।[32] पालि-निकाय मे महावीर को क्रियावाद सिद्धान्त का प्रतिपादक बतलाया गया है।[33]

उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को ही मोक्ष कहा है।[34] जब जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को पा लेता है तो उसमे अनन्त-चतुष्टय— अनन्त-ज्ञान, अनन्त-वीर्य अनन्त-श्रद्धा और अनन्त-शान्ति की उत्पत्ति होती है। यही कैवल्य की अवस्था है। कैवल्य-प्राप्त व्यक्ति इस पृथ्वी पर निवास करता हुआ समाज के परम कल्याण के कार्यों मे सलग्न रहता है, परन्तु सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु को आध्यात्मिक विकास के मार्ग मे अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमश· आगे बढना पडता है। उसका आध्यात्मिक विकास सद्य नही हो जाता है। उसको मोक्ष-मार्ग के विभिन्न गुणस्थानो (सोपानो)[35] को पार करते हुए लक्ष्य तक पहुँचना पडता है। जैन-दर्शन मे इन गुणस्थानो की संख्या चौदह है। जब साधक अनन्त-ज्ञान तथा अनन्त-सुख से देदीप्यमान हो उठता है, तो वह तीर्थंकर कहलाता है और उसमे उपदेश देने तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित करने की योग्यता आ जाती है। उससे ऊपर आयोग-केवल है जो अतिम अवस्था है। इस अवस्था मे पहुँच कर साधक ऊपर उठने लगता है और वह लोकाकाश-आलोकाकाश के मध्य सिद्धशिला नामक सिद्धो की नितान्त पवित्र निवास-भूमि मे पहुँच जाता है। वह अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त कर चरमशान्ति का अनुभव करता है। यही साधको की चरम मुक्तावस्था मानी गयी है।

स्याद्वाद—जैन-दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वाद अथवा सप्तभगी नय है।[36] जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मिक होती है। समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ-ज्ञान तो उसी व्यक्ति को हो सकता है जिसने कैवल्यपद को प्राप्त कर लिया है। साधारण मानव तो वस्तु के एक धर्म मात्र को ही जानने का सामर्थ्य रखता है। अत. उसका ज्ञान आशिक रहता है। वस्तु के अनन्त धर्मों मे से एक के ज्ञान की सज्ञा 'नय' है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है— दुर्णय, नय तथा प्रमाण।[37] यदि विद्यमान वस्तु को हम विद्यमान ही बतलावें तो इसके अन्य प्रकारो का निषेध होने के कारण यह

ज्ञान दुर्णय होगा। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये यदि वस्तु को सद् बतलाया जायगा तो यह आंशिक ज्ञान संवलित होने के कारण नय कहलायगा। किन्तु, प्रमाण इन सबसे भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में संभवतः यह सद् है, अर्थात् स्यात् सत् कहने से ही वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात धर्मों का संकलन होता है, अतः यह प्रमाण की कोटि मे आता है। अतएव प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के लिए स्यात् विशेषण जोड़ना आवश्यक है। जैन-न्याय मे सत्ता के सापेक्ष-रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना गया जिसे सप्तभंगी नय कहते हैं। इसका रूप इस प्रकार है—

१. स्यादस्ति (सभवतः अ ब है)

२ स्यान्नास्ति (संभवत. अ ब नही है)

३ स्यादस्ति च नास्ति च (सभवत: अ ब है और सभवत नही है)

४. स्याद् अवक्तव्यम् (सभवत: अ वर्णनातीत है)

५ स्यादस्ति च अवक्तव्य च (संभवतः अ ब है और वर्णनातीत भी है)

६. स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (सभवत. अ ब नही है और वर्णनातीत भी है)

७ स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (संभवत अ ब है, ब नही भी है और वर्णनातीत भी है)

सप्तभगी नय का यह स्वरूप महावीर के निर्वाणोपरान्त विकसित हुआ, पर भगवतीसूत्र मे उनके मुख से स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्याद् अवक्तव्यः की व्याख्या करायी गयी है। महावीर को इसकी प्रेरणा उपनिषदो से मिली, क्योकि उपनिषदों मे ब्रह्म कही सत्, कही असत्, कही उभयात्मक बतलाया गया है। इन मतों के आधार पर ही अवान्तर-काल मे सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना की गयी होगी। बुद्ध-काल में भी अनेकान्तवाद पर विश्वास करनेवाले दार्शनिक विद्यमान थे। सञ्जय वेलट्ठिपुत्त का मत भी स्याद्‌वाद के अनुरूप ही था। उन्होने परलोक के अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनो की सत्ता के विधान तथा प्रतिषेध में अपने को असमर्थ बतलाया। दीघ-निकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त मे अमराविक्खेपिक (अमराविक्षेपवाद) नामक दार्शनिकों के मत की चर्चा की गयी है जो वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व की स्थिति तथा अभाव के विषय में एक मत को स्वीकार न करके अनेक मतवाद की पुष्टि किया करते थे।

जैन-दर्शन में सत् के स्वरूप का विवेचन अन्य दर्शनो से भिन्न प्रकार से किया गया है। जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ के दो अंशो को मानता है—शाश्वत तथा अशाश्वत। शाश्वत अश के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य है और अशाश्वत के कारण वह अनित्य है अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील है। उभयाशों के निरीक्षण पर ही सर्वांगीण सत्यता अवलबित है, अत· प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने वाला तथा नष्टवान् होने के साथ-साथ स्थिर होने वाला भी है (उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्—त० सू० ५।२९)। जैन-दर्शन जगत् के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को स्वीकार करता है और वह मानता है कि जितना जगत् का नानात्व वास्तविक है, उतना ही उसका एकत्व भी।

जैन-दर्शन नौ पदार्थों की सत्ता को मानता है। ये हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष।[३८] दर्शन का विषय होने के कारण इन पर विशेष विचार करना यहाँ आवश्यक नही समझा गया।

आजीविक-मत—जैन-धर्म के समान ही आजीविक-मत बौद्ध-धर्म से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है, परन्तु इसका बुद्धकाल-पूर्व का इतिहास अज्ञात है।[३९] बुद्धकाल मे बौद्ध तथा जैन धर्मों के समान आजीविक-मत के बिहार तथा उत्तर प्रदेश मे प्रचार के प्रमाण उपलब्ध होते है। इस मत के प्रमुख प्रचारक मक्खलि गोसाल, बुद्ध तथा महावीर के समकालीन थे और उन दिनो उनको भी समाज मे आदर प्राप्त था। वे प्राय· श्रावस्ती मे वास करते थे, पर अपने मत के प्रचार के लिए मगध तक भ्रमण करते थे। इसी क्रम मे उनकी भेट महावीर से हुई और दोनो कई वर्षों तक नालन्दा मे साथ रहे।[४०] कुछ विद्वानो के मत मे आजीविक-मत का ही उपदेश सर्वप्रथम मागधी प्राकृत भाषा मे हुआ।[४१] मगध के कई आजीविको का उल्लेख पालि-पिटक मे मिलता है। नालन्दा के निकटवर्ती नाल ग्राम मे जन्म पाये उपक नामक आजीविक से बुद्ध की भेंट गया जाने के मार्ग मे हुई थी।[४२] राजगृह के एक रथकार के पुत्र पाण्डुपुत्र भी आजीविक थे।[४३] बिम्बिसार के एक सकुल्य ने भी आजीविक-मत की दीक्षा ली थी।[४४] इस बात के भी उल्लेख मिलते है कि आजीविक-सम्प्रदाय के तापस मगध, विदेह, चम्पा आदि नगरो मे घूमा करते थे।[४५] भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की सूचना कहाकस्सप को एक आजीविक द्वारा मिली थी।[४६] एक जातक कथा मे गुणकस्सप नामक आजीविक का उल्लेख मिलता है जिसने मिथिला मे एक आश्रम स्थापित किया था।[४७] अशोक के धर्म-लेखो मे ब्राह्मणों तथा श्रमणो के साथ आजीविको का भी सादर उल्लेख किया गया है। अशोक

तथा उनके पौत्र दशरथ ने उनके निवास के लिए बराबर की पहाडी मे गुहाओं का निर्माण भी करवाया। इन सबसे प्रमाणित होता है कि मौर्य-काल तक मध्यदेश मे आजीविक-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बनी रही।

बौद्धों एवं जैनियो के समान आजीविक-सम्प्रदाय में भी दो वर्ग थे—उपासक तथा तापस। उदाहरणार्थ, पाण्डुपुत्र जो राजगृह के एक रथकार के पुत्र थे, एक आजीविक उपासक थे। मज्झिम-निकाय मे वर्णन मिलता है कि वे अपने पिता की कर्मशाला मे रथ-निर्माण-कार्य को ध्यानपूर्वक देख रहे थे।[४८] बिंदुसार की राजसभा मे एक आजीविक ज्योतिषी नियुक्त किया गया था।[४९]

जैनियो तथा आजीविको के वैरभाव का ऊपर उल्लेख किया गया है। बौद्ध भी आजीविको के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे। पालि-निकाय में बौद्धो ने उनके लिए श्रद्धा के शब्दो का प्रयोग नही किया है। वे उनको मिच्छाजीवो, आजीविकान मिच्छातपं, आजीकनञ्ञ-एव अनुच्छैरिक आदि कहा करते थे जो उनके आजीविक द्वेष के द्योतक हैं।[५०]

मक्खलि गोसाल नियतिवादी थे।[५१] वे मानते थे कि सभी सत्त्व (जीव) अवश हैं, अवीर्य हैं। उनमे न बल है, न वीर्य है, न पुरुष-पराक्रम है, न हेतु है, न सत्त्वो के संक्लेश का प्रत्यय (हेतु)। सत्त्व अहेतुक क्लेश भोगते है और बिना हेतु-प्रत्यय के विशुद्ध होते है। वे कहते थे कि बाल और पण्डित, सब सत्त्वससरण कर दु:ख का अन्त करते है। इसे संसार-शुद्धि कहते हैं। उनका कहना था कि सृष्टि मे चौरासी लाख कल्प (योनियां) हैं, जिनमे मूर्ख और विद्वान् समान रूप से ससरण कर अन्त मे दु ख की इति करते है। विद्वान् और मूर्ख कोई भी कर्म से छुटकारा नही पा सकता—इसमे न वृद्धि की जा सकती है और न कमी। सभी पूर्वनियत है। जिस प्रकार रज्जु से बँधे किसी गेंद को फेका जायगा, तो वह उतनी ही दूरी तक जायगा जितनी लम्बी रस्सी होगी, इसी प्रकार मूर्ख और पडित दोनो नियत-काल तक सत्त्व-ससरण करते हुए दुःख का अन्त करते है।

महानारदकस्सप-जातक मे भी नियतिवाद के मत का उल्लेख है। मिथिला से अविदूर मृगवन मे गुणकस्सप नामक एक आजीविक-तापस अपनी शिष्यमडली के साथ वास करते थे। वहाँ की जनता उनका बडा सम्मान करती थी। एक दिन उन्होंने विदेहराज अंगीति को अपने सिद्धान्तो का उपदेश देते हुए कहा—'हे राजन्, धर्म के आचरण से भला अथवा बुरा कोई फल नही मिलता है, परलोक नाम की कोई वस्तु नही है—कौन व्यक्ति वहाँ से लौटकर

यहाँ आया है ? सभी जीव समान है, न किसी से सत्कार लेना चाहिये न किसी को देना। शक्ति या साहस नाम की कोई चीज नही है—शौर्य अथवा वीर्य हो ही कैसे सकता है जब कि सभी नियति के वश मे हैं, जैसे कि नाव मे बँधी रस्सी ? सभी प्राणियो को जो मिलना चाहिए वह मिल जाता है, फिर दान से क्या लाभ ? दान से कुछ लाभ नही होता है—दाता असहाय तथा दुर्बल होता है, जो दाता है वह मूर्ख है, दान लेने वाला ही चतुर है।'[५२] गुणकस्सप भी मक्खलि गोसाल के समान संसार-शुद्धि के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनके मत मे न तो कोई नष्ट करने वाला है और न कोई नष्ट होने वाला, चौरासी महाकल्प है जिनमे सभी को भ्रमण करना ही पडता है जिसके अत मे जीव शुद्ध हो जाता है। सभी नियति द्वारा सचालित है—जिस प्रकार समुद्र का जल अपने तट तक जाकर लौट आता है उसी प्रकार हम सभी नियति के वश मे हैं। इसी जातक में गुणकस्सप के मत का खडन विदेह राजकुमारी रुजा द्वारा कराया गया है। राजकन्या ने उस तापस को कहा— 'यदि जीव सत्त्व-ससरण द्वारा ही शुद्ध होता है तो फिर तप का क्या अर्थ है ? नियति-वाद पर विश्वास करने वाला यदि तपस्या करता है तो उसकी दशा तो उस शलभ जैसी हो जाती है जो जलते दीपक का आलिंगन करता है। नियतिवाद पर विश्वास कर अपनी महान् मूर्खता के कारण ही कई लोग अपने कर्मों का विनाश कर बैठते हैं और वे अपने पूर्व पापो के प्रभाव से बशी मे फँसे मछली से समान अपनी रक्षा करने मे असमर्थ हो जाते हैं।'[५३]

पूरण कस्सप—पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) और पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन) के द्वारा प्रतिपादित वाद भी मक्खलि गोसाल के नियति-वाद के समान था।[५४] तमिल साहित्य मे इनका सम्बन्ध आजीविक-मत से बतलाया गया है।[५५] सम्भवत विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण आजीविक-मत मे कई सम्प्रदाय हो गये थे। सामञ्ञफल-सुत्त में पूरण कस्सप का उल्लेख एक ख्यातिप्राप्त धर्माचार्य के रूप मे मिलता है। वे अक्रियावाद के प्रवर्तक थे। इस मत के अनुसार मनुष्य का कोई उत्तरदायित्व नही है। न तो छेदन करना या कराना, प्राणिहिंसा, बिना दिये लेना, सेंध मारना, गाँव लूटना, चोरी, बटमारी, परस्त्रीगमन, मिथ्या-भाषण आदि कर्म करने से मनुष्य कोई पाप करता है और न यज्ञ, दान, सयम तथा सत्य-भाषण से ही कोई पुण्य मिलता है।

पकुध कच्चायन—पकुध कच्चायन मे अकृततावाद के मत का प्रतिपादन

किया[५६] जिसके अनुसार न तो कोई स्रष्टा है, न कोई सृष्टि ही। इनके मत में सात काय (समूह) अकृत (अनियमित), अवश (कूटस्थ) तथा स्तम्भवत् (अचल) हैं। ये सात काय हैं— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन। यहाँ न हन्ता है, न घातयिता (हनन कराने वाला), न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का शीष काट दिया जाय तो भी कोई किसी को प्राण से नही मारता, क्योंकि शस्त्र तो केवल सातों कायो से अलग, विवर (रिक्त स्थान) मे गिरता है।

सञ्जय बेलट्ठिपुत्त—सञ्जय बेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी थे।[५७] इन्होने न तो परलोक के अस्तित्व को अस्वीकार किया और न स्वीकार ही। सञ्जय बेलट्ठिपुत्त ने कहा—'मैं यह नही कहता कि परलोक है, यह भी नही कहता कि यह नही है। यह परलोक है भी और नही भी। परलोक न है न नही है।' सभी प्राणी अयोनिज (औपपातिक) हैं अथवा अयोनिज नही हैं, अच्छे बुरे कर्मों के फल हैं अथवा नही हैं—इन सभी प्रश्नों का उन्होने एक ही उत्तर दिया—न स्वीकृति न अस्वीकृति।

अजित केसकम्बली—अजित केसकम्बली जडवादी अथवा उच्छेदवादी थे।[५८] अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फलाफल नही होता, इस विचार के ये समर्थक थे। इनके मत मे न दान है, न यज्ञ, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत-कर्म का फल-विपाक। न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्त्व हैं, न इहलोक है, न परलोक, न ऐसे श्रमण-ब्राह्मण हैं जिन्होने अभिज्ञाबल से इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। इनका विचार चार्वाको के मत से मिलता-जुलता था। वे मानते थे कि मनुष्य चातुर्महाभूतिक है। जब वह काल (मृत्यु) को प्राप्त करता है तब पृथ्वी पृथ्वीकल मे, जल जल मे, तेज तेज मे, वायु वायु मे और इन्द्रियाँ आकाश मे लीन हो जाती है। मूर्ख जो दान देते हैं उसका कोई फल नही मिलता। आस्तिकवाद मिथ्या है। मूर्ख और पडित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं—मरने के बाद कोई नही रहता।

१२

वैदिक धर्म, ब्राह्मण-धर्म तथा लोकधर्म

लोकधर्म का स्वरूप—भगवान् बुद्ध, वर्द्धमान महावीर तथा मक्खलि-गोसाल के धर्मोपदेशो के फलस्वरूप बौद्ध, जैन तथा आजीविक मतो का समाज मे समुचित प्रचार हुआ। सुव्यवस्थित प्रचार के कारण बौद्ध धर्म दूर-दूर तक फैला, परन्तु इस परिवर्तन के कारण समाज मे जो धार्मिक रीति-रिवाज पहले से चले आ रहे थे, वे विलुप्त नही हुए और न वैदिक एव ब्राह्मण-धर्मों की लोकप्रियता मे कोई कमी आयी। जनता को विभिन्न धर्मसम्प्रदायो के सैद्धान्तिक विवादो से कोई मतलब नही था। युगो से प्रचलित धार्मिक परम्पराओ पर जनसाधारण की जो अटल आस्था थी उसे तोडना सम्भव नही था। इस तथ्य को भगवान् बुद्ध ने स्वीकार किया, अतएव उन्होने समाज मे मान्य रीति-रिवाजो का कतई विरोध नही किया। उनका विरोध मात्र हिंसात्मक-कर्मों तक ही सीमित रहा। समाज मे बौद्ध एव जैन धर्मो का प्रचार हुआ, पर सामाजिक व्यवस्था पूर्ववत् बनी रही। कई धार्मिक आचार-विचार भी यथावत् रहे। वस्तुत: बौद्ध-धर्म आरम्भ मे अधिकाशत ब्राह्मण-धर्म का ही ऐसा रूपान्तर था, जिसमे हिंसक-कर्मो को दूर करने की चेष्टा की गयी थी। दु.ख, निर्वाण, इच्छा, कर्म तथा पुनर्जन्म आदि की धारणाएँ दोनो धर्मो मे समान है। जो प्रमुख भेद दोनो धर्मो के बीच दृष्टिगोचर होते है वे वेदो को प्रमाण मानने, पशु-यज्ञ, ब्राह्मणो के अधिकार आदि के सम्बन्ध मे है।

धर्म के सिद्धान्त तथा व्यवहार-पक्ष, दोनो के विषय मे भगवान् बुद्ध के विचार क्रातिकारी थे अवश्य, पर वे परम्परागत वेदविहित ब्राह्मण-धर्म-विरोधी न होकर सुधारवादी थे। उनका लक्ष्य धर्म के नाम पर व्याप्त कुरीतियो तथा अधविश्वासो को दूर करके मानवमात्र के लिए कल्याणकारी सरल आचारमार्ग की प्रतिष्ठा करना था। बुद्ध तथा महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्माचरण मे परम्परागत धर्म का प्रभाव सुस्पष्ट है। बौद्ध-भिक्षु तथा जैन-श्रमण अधिकतर उन्ही नियमो का पालन करते थे जिनका विधान उनके विरोधी ब्राह्मण-तापसो ने बहुत पहले किया था। जैन-श्रमणो तथा ब्राह्मण तापसो के आचार-सम्बन्धी नियमो

में अधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः जैनियों एवं बौद्धों के अनेक धार्मिक विधान मौलिक न होकर पूर्वकाल से प्रचलित नियमों के रूपान्तर-मात्र थे। जिस वेदविहित ब्राह्मण-धर्म का आचरण जनता करती आ रही थी, उसीको बौद्धों एवं जैनियों ने नवीन रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। बुद्ध तथा महावीर ने वेदो की प्रामाणिकता, ब्राह्मणों के आधिपत्य, वैदिक कर्मकाड एवं पशुयज्ञों की सार्थकता आदि का तो विरोध किया, परन्तु उन धार्मिक रीति-रिवाजों का नही, जो समाज मे पूर्व-प्रचलित तथा मान्य थे। जो रीति-रिवाज उनके विचारो के प्रतिकूल पड़ते थे, उनका भी उन्मूलन न करके, उनके बदले मे उन्होने अन्य ऐसे अनुष्ठानो का विधान किया जो जनभावना के प्रतिकूल न होने से जनता के लिए सहज ग्राह्य हुए। इन धर्मोपदेशको का लक्ष्य जनता को आकृष्ट करना भी था, अत· वे ऐसे कर्म करना नहीं चाहते थे जिनसे जनमत उनके विरुद्ध हो जाता। बुद्ध ने ब्राह्मण-धर्म के हिंसक आचरणो के विरोधी होने के कारण पशुयज्ञ की निंदा की, पर उस यज्ञ का जिसमें प्राणि-हिंसा नही होती थी, उन्होने समर्थन किया।[१] पाकयज्ञो तथा पञ्चमहायज्ञ के विषय मे वे मौन रहे। स्वप्नो के फलाफल पर जनता का बड़ा विश्वास था। जनता ब्राह्मणो द्वारा स्वप्न-विचार करवाती थी। जनता की इस आस्था की उपेक्षा बुद्ध न कर सके। इस विषय मे उनके अनुयायी कहने लगे कि ब्राह्मणो की तुलना मे भगवान् बुद्ध अधिक प्रामाणिक स्वप्न-विचार करने मे सक्षम हैं।[२] जनता पुरोहितो से मगल-पाठ करवाती थी, अत. बौद्ध-धर्म मे मगल-सुत्त के पाठ का विधान किया गया।[३] जैन-धर्म मे अष्ट-मगल की व्यवस्था की गयी।[४] बुद्ध ब्राह्मण-विरोधी होने पर भी नि:स्वार्थी तथा ज्ञानी ब्राह्मणो की प्रशंसा करते थे। वर्ण-व्यवस्था मे ब्राह्मणो के सर्वोपरि स्थान का तो बुद्ध ने बड़ा विरोध किया, पर चतुर्वर्ण-व्यवस्था का नही। उन्होने ब्राह्मणों के बदले क्षत्रिय को शीर्षस्थान प्रदान किया। इस प्रकार यह सुस्पष्ट होता है कि नवीव धार्मिक चेतना के उदय के फलस्वरूप प्राचीन रीति-रिवाज विनष्ट नही हुए। वेद-विहित ब्राह्मण-धर्म, जिसका आचरण जनता दीर्घकाल से करती आ रही थी और जिस धर्म ने अवैदिक धर्मों के अनेकानेक व्यवहारो को आत्मसात् कर लिया था, उसे बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रादुर्भाव के कारण किसी प्रकार की क्षति नही पहुँची। वस्तुतः लोकप्रिय ब्राह्मण-धर्म ही उस युग का लोकधर्म था। अथर्ववेद मे मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, भूतापसरण, अभिचार, गुप्त क्रियाएँ, स्वप्न-विचार, लक्षण-विचार, पशु-पक्षी-क्रन्दन-विचार इत्यादि विश्वासों को मान्यता दी गयी है। अति प्राचीन

युग मे इस प्रकार के आचरणो मे जनता की आस्था बनी और इस कारण ब्राह्मण धर्म ने इन्हे मान्यता देकर अपने को उदार एवं व्यापक बनाया। अथर्ववेद में वस्तुत: उन धार्मिक आस्थाओ तथा आचरणो को मान्यता प्रदान की गयी है जो अवैदिक थे। अत. हम हॉपकिन्स[1] महोदय के इस विचार से सहमत नही हो सकते कि वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म का आचरण भारतीय समाज के उस अल्पवर्ग ने किया जिसका स्थान भारतीय जन-महासागर के मध्य एक द्वीप के सदृश रहा है, अधिकतर जनता ने तो अपनी-अपनी जाति के धर्म का सेवन किया जिसमे स्थानीय परम्पराएँ, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, प्रेत-पूजा आदि की प्रमुखता रही है। हॉपकिन्स के इस विचार को उसी अवस्था मे सार्थक माना जा सकता है यदि ब्राह्मण धर्म का अर्थ वह आचार माना जाय जिसका विधान धर्म-शास्त्र मे द्विजातिमात्र के लिए किया गया है। हिंदू-समाज मे आरम्भ से ही धर्म के दो रूप मान्य रहे है—एक तो उसका आदर्श स्वरूप जिसका आचरण समाज के उच्चवर्ग मे हुआ और दूसरा वह जिसका आचरण किया, जनता ने। अत इस धर्म के दो रूप हुए—विशिष्ट तथा सामान्य और सामान्य ब्राह्मण-धर्म ही व्यापक होने से लोकधर्म बन गया।

ब्राह्मण-धर्म—आरण्यक, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि धर्मग्रथो मे विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म का पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। द्विजातियो ने इस धर्म का आचरण किया, परन्तु इसका पूर्ण रूप मे पालन किया केवल ब्राह्मणो ने। पालि-निकायो तथा जैन-सूत्रो मे भी ब्राह्मण-धर्म का वर्णन उपलब्ध होता है, पर आशिक रूप मे, क्योकि बौद्ध तथा जैन लेखको ने ब्राह्मणो के केवल उन्ही रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है जिनकी वे आलोचना करना चाहते थे। अत उनका विवरण पूर्ण न होकर धर्मशास्त्र मे उपलब्ध विवरण का पूरक है।

ब्राह्मण-ग्रथो तथा आरण्यको मे वर्णित धर्माचरण मे कई असमानताएँ दीखती है, जैसे—'ब्राह्मणो मे मुख्यत धर्म के बाह्याचरण की प्रधानता है, परन्तु आरण्यक कर्म से ध्यान को अधिक महत्त्व प्रदान करते । ब्राह्मण जटिल धार्मिक क्रियाओ का विधान करते हैं, लेकिन आरण्यको मे अपेक्षाकृत सरल आचरण का विधान है और वे आन्तरिक अनुशासन अथवा मानसयज्ञ पर बल देते हैं। ब्राह्मणो मे स्वर्ग ही सर्वोपरि है, पर आरण्यको मे तत्त्वज्ञान की प्रधानता है और उसकी प्राप्ति हेतु उपासना तथा तपश्चर्या का विधान मिलता है।' उपनिषदो में आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान सर्वोपरि है, उपनिषद्-दर्शन का सार है— 'समस्त सृष्टि ब्रह्ममय है और ब्रह्म ही आत्मा है' । आत्मा के इस स्वरूप का विकास

वस्तुतः ऋग्वेद के पुरुष की कल्पना पर आधारित है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता की अनुभूति (तत् त्व असि) ही जीवन का परम लक्ष्य है। बृहदारण्यक-उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सवाद में आत्मा का अति सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद्-दर्शन के आत्मतत्त्व की कल्पना ठोस नैतिक मूल्यों पर आधारित है, क्योकि प्राणिमात्र के प्रति दया एव प्रेम की भावनाओं का आचरण ही वस्तुतः ब्रह्म के प्रति श्रद्धा मानी गयी। आत्म-साक्षात्कार की परिणति प्राणिमात्र के प्रति प्रेम मे होती है। जहाँ तक नैतिक आचार का प्रश्न है, कर्म-सिद्धान्त का विशेष महत्त्व हो गया। कर्मानुसार फल की प्राप्ति के सिद्धान्त से सदाचार की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित करने मे योग मिला। उपनिषद्-दर्शन वस्तुतः अज्ञान के त्याग और तत्त्वज्ञान की खोज पर केन्द्रित है। तत्कालीन समाज मे व्याप्त तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा का काठक-उपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान मे काव्यात्मक उल्लेख किया गया है।

पालि-निकाय के अनुसार वैदिक धर्म अथवा विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म यज्ञ-प्रधान था और इसका आचरण इस युग के वे ब्राह्मण करते थे जो श्रोत्रिय तथा महासाल कहलाते थे। बौद्ध लेखको ने अपने प्रबल पशुबलि-विरोधी दृष्टिकोण के कारण पशुयज्ञों का प्रमुख रूप से उल्लेख किया है, परन्तु ब्राह्मण-धर्म मे पशुयज्ञ के अतिरिक्त कई प्रकार के दूसरे यज्ञो का भी विधान है जिनका वर्णन पालि-ग्रथो मे नही मिलता। इसका यह अर्थ कदापि नही कि इस युग मे इनका अस्तित्व नही था। बुद्ध अप्राणिहिंसक यज्ञो के विरुद्ध नही थे, अतः इस श्रेणी के यज्ञो के उल्लेख का प्रसंग निकायो मे नही आया।

श्रौत-सूत्रो तथा गृह्य-सूत्रो मे अनेक यज्ञों तथा १६-१७ प्रमुख पुरोहितों का उल्लेख मिलता है। यज्ञ का उद्देश्य यज्ञकर्त्ता द्वारा वाछित फल की प्राप्ति था। यज्ञ की शक्ति पर लोगो का इतना अधिक विश्वास जम गया था कि उसके समक्ष यज्ञ मे पूजित देव की इच्छा भी गौण हो गयी थी। बलि प्राप्त कर देवता जितना सतुष्ट एव शक्तिसम्पन्न होते हैं, उसी अनुपात मे यज्ञकर्त्ता को अनुगृहीत करते हैं, यह धारणा यज्ञ के मूल में काम करती थी। यह एक प्रकार की पारस्परिक लेन-देन की ऐसी प्रक्रिया मानी गयी थी जिसका उपक्रम उपासक की ओर से होता। आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र (४।१।१) में विधान है कि यदि वह व्यक्ति जिसने त्रि-अग्नि को स्थापित किया, रुग्णतावश गृहत्याग कर गाँव से चला जाय, तो उसे त्रि-अग्नि को प्रभावित करने के लिए सोमयज्ञ अथवा पशुयज्ञ

करना चाहिए, इससे वह त्रि-अग्नि जिसे वह अपने साथ लेता जाता है, उसे रोग-मुक्त करेंगे। पाप को रोगतुल्य मानकर पापफल से मुक्ति के लिए भी यज्ञ का आश्रय लिया जाता था। श्रौतसूत्रो तथा गृह्यसूत्रो मे प्रायश्चित-यज्ञ का, जिसमें पुरोहितो को प्रभूत दान मिलता, बडा महत्त्व है।

मोटा-मोटी श्रौत-यज्ञ के दो भेद हैं— सोमयज्ञ जिसमे सामवेद का ज्ञान होता और हविर्यज्ञ जिसमे सामगान नही होता। इन दोनो के मध्य मे पशुयज्ञ का स्थान है। इसमे सामगान नही होता, अतः इसे भी हविर्यज्ञ माना जा सकता है, परन्तु वस्तुतः यह सोमयज्ञ का ही महत्त्वपूर्ण अग है।

व्यक्ति के दैनिक जीवन मे गृहयज्ञ को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। इसका केन्द्र गृहाग्नि होती है। प्रत्येक गृहस्थ तथा उसके परिवार के सदस्य—पत्नी, पुत्र, पुत्री तथा शिष्य का कर्त्तव्य है कि वे गृहाग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखें। यदि गृहाग्नि बुझ जाय तो पुन. धार्मिक रीति से उसे घर्षण द्वारा उत्पन्न अग्नि या किसी समृद्ध गृहस्थ अथवा अनेक यज्ञो के कर्त्ता के गृह से लायी गयी अग्नि से प्रज्वलित करने का विधान है। गृहाग्नि प्रज्वलित करने के ये उपयुक्त अवसर माने गये हैं—विवाह, पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा, समावर्तन, परिवार के प्रधान की मृत्यु तथा बारह दिनो तक अग्नि का प्रज्वलित नही हो पाना। नियमानुसार गृही को स्वयमेव गृह-यज्ञो का आचरण करना चाहिए, परन्तु उसकी अनुपस्थिति मे यह अधिकार पत्नी को प्राप्त है। प्रात और सध्या हवन तथा सध्याकाल मे बलि का विधान है। इसमे सामान्यतया ब्राह्मण पुरोहित का उपयोग ऐच्छिक है, परन्तु शूलागव तथा धन्वन्तरी यज्ञो मे ब्राह्मण पुरोहित की उपस्थिति अनिवार्य मानी गयी है।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल मे भी वैदिक धर्मानुयायी पशुयज्ञ को वैसा ही महत्त्वपूर्ण मानते थे जसा वैदिक युग के आर्य। वे अनेक प्रकार के यज्ञो का अनुष्ठान करते थे, जैसे—अश्वमेध यज्ञ, सम्मापास यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, वाज-पेय यज्ञ आदि।[६] पुरुषमेध यज्ञ का अस्तित्व सदेहास्पद प्रतीत होता है। सम्भ-वत यह नरबलि न होकर कुछ और रहा होगा। इसका अर्थ अन्न-यज्ञ भी किया गया है और हो सकता है कि परम्परानुसार सभी प्रकार के यज्ञो का एक साथ उल्लेख होने से पुरुषमेध यज्ञ का भी नाम आ गया। यज्ञो के प्रमुख अनुष्ठान-कर्त्ता थे—ब्राह्मण महासाल। ये स्वय बडे-बड यज्ञ करते थे और राजा द्वारा आयोजित यज्ञ मे होता का कार्य सम्पन्न करते थे। पालि-निकाय में बुद्ध के

समकालीन अनेक ब्राह्मण महासालों के यज्ञों का वर्णन किया गया है। मगध-वासी ब्राह्मण कूटदन्त,[७] श्रावस्ती के ब्राह्मण उग्गत शरीर[८] और कोशल-नरेश[९] प्रसेनजित् के महायज्ञो के वर्णन उन दिनो सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञो की विधि के विषय मे अनेक रोचक नियमो का रहस्योद्घाटन करते हैं। महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बाछियाँ, बकरे, भेड, सूअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की तथा अनेक पक्षियो की बलि दी जाती थी।[१०] इससे विदित होता है कि जिन पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक युग में नही थी उनकी बलि भी दी जाने लगी थी, जैसे—हाथी। पालि-सूत्रों के अनुसार पाँच-पाँच सौ अथवा सात-सात सौ की संख्या में पशु-पक्षियों की बलि दी जाती थी। कहीं-कहीं तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ मे सभी तरह के प्राणियो की आहुति दे दी जाती, कोई भी बच नही पाता,[११] परन्तु ऐसा कहना निःसन्देह अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस प्रकार के अतिरजित वर्णन का लक्ष्य पशुयज्ञ की विभीषिका बतलाकर उनसे जनता को विरत करना था, अतः बौद्धों के यज्ञ-सम्बन्धी विवरण पूर्ण विश्वसनीय नही माने जा सकते।

पालि-निकाय से इस बात का पता चलता है कि उन दिनों बड़े धूमधाम के साथ यज्ञो का अनुष्ठान किया जाता था। कई दिनो तक जोरदार तैयारी होती थी— यूप-निर्माण के लिए वृक्ष काट गिराये जाते,[१२] पशुओ को बाँधकर यज्ञ-स्थल की ओर ले जाया जाता। यज्ञ-स्थल पर कभी-कभी एक गड्ढा खोदा जाता, जिसके अन्दर पशुओ को खूँटों से बाँध दिया जाता। वेदों में इस प्रथा का उल्लेख नही मिलता है; सम्भवतः यह उत्तरकाल मे प्रचलित हुई। यज्ञ देखने के लिए लोगो की बडी भीड़ एकत्र हो जाया करती थी। समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व होने के कारण उनके यज्ञ मे जनता का पूर्ण सहयोग मिलना स्वाभाविक था। जो ब्राह्मण महासाल प्रभावशाली थे उनके यज्ञ मे मेला लग जाता। उस मेला मे जब काश्यप-बन्धुओ के वार्षिक यज्ञ-समारोह मनाये जाते, तो अग-मगध-वासी बडी संख्या मे एकत्र हुआ करते थे।[१३] यज्ञ की पूर्णाहुति के उपलक्ष्य मे बडे-बडे भोज होते थे और यज्ञकर्त्ता मुक्तहस्त हो ब्राह्मणों को स्वर्ण, रजत, अन्न, दास-दासी, गो, अश्व, हस्ति, वस्त्र, बिछावन, कालीन, कन्या, रथ और धान्यपूर्ण प्रासाद आदि दान में देते थे।[१४] ब्राह्मणों को प्रभूत दान देने के जो वर्णन पालि-निकाय मे मिलते हैं वे यथार्थ प्रतीत होते हैं, क्योंकि अन्य सूत्रो से इसकी विद्यमानता के निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। क्षत्रिय-नरेशों तथा सातवाहन-शासकों के अभिलेखों से विभिन्न यज्ञ-समारोहो मे ब्राह्मणो

को प्रभूत दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध लेखक अतीत के ऋषियो मे अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि तथा भृगु का उल्लेख करते है।[15] वे यह भी कहते हैं कि ये ऋषि मन्त्रकर्त्ता थे और तत्कालीन ब्राह्मण उनके द्वारा रचित मन्त्रो का पाठ किया करते थे। बौद्धो ने ब्राह्मणो के शुकवत् मन्त्रपाठ का परिहास किया है। बुद्धकाल मे देवताओ से बढकर महत्त्व हो गया था— वेदमन्त्रो का। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि आचार्य परम्परानुसार ब्राह्मणो के कई वर्ग बन गये थे, जैसे—ऐतरेय, तैत्तिरिय, छादोग्य, छदाव आदि।[16] इन विवरणो से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-वर्ण का एक समुदाय निष्ठापूर्वक वैदिक धार्मिक परम्परा का आचरण कर रहा था। वैदिक धर्मानुयायी पूजा-अर्चना करते थे—इन्द्र, सोम, वरुण, इशान, प्रजापति, ब्रह्मा, महिद्धि, यम इत्यादि देवताओ की।[17] इनमे इशान को छोडकर शेष सभी देवताओ का उल्लेख वेदो मे है। इशान का उल्लेख गृह्यसूत्रो मे मिलता है जो पालि-निकाय के समकालीन है।

पालि-पिटक तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी मे उपलब्ध प्रमाणो से तत्काकीन समाज मे भक्ति-सम्प्रदाय की विद्यमानता का पता चलता है। पालि-पिटक मे देवधम्मिक तथा देववतिक शब्दो का प्रयोग उन लोगों के लिए किया गया है जो तापस न होकर भक्ति-पूर्वक देव-पूजन करते थे।[18] पाणिनि के अष्टाध्यायी मे वासुदेव कृष्ण के भक्तो को वसुदेवक कहा गया है।[19]

प्रमुख देवता—*वैदिक युग के आराध्य देवों मे ब्रह्मा का भी* उल्लेख मिलता है। बुद्ध-काल मे इनकी पूजा बन्द नही हुई। बौद्ध लेखक ब्रह्मा-पूजा का विरोध नही करते है, वरन् वे तो ब्रह्मा को देवताओ मे सर्वोपरि मानते है। जब भगवान् बुद्ध को सबोधि की प्राप्ति हो गयी तो स्वय ब्रह्मा सहपति ने धर्मोपदेश के लिए उनसे निवेदन किया जिससे धर्मोपदेश मे उनकी रुचि हुई।[20] बुद्ध-काल मे एकाधिक ब्रह्मा के स्वरूपो की कल्पना की गयी, जैसे—सनत् कुमार, प्रजापति तथा सहपति।[21]

पालि-निकाय से ज्ञात होता है कि देवराज इन्द्र सर्वाधिक लोकप्रिय देवता थे। इनकी पूजा करने वालो की सख्या समाज मे सबसे अधिक थी और ब्राह्मणधर्मावलंबियो के समान बौद्ध भी इनको देवराज ही मानते थे। वे इनका उल्लेख विभिन्न नामो से करते है, जैसे—शक्र,[22] वासव,[23] मघवा[24] आदि। बौद्ध-जातको मे इन्द्र के कार्य और निवास-स्थान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इन्द्र के प्रमुख कार्य है— दुष्टो को दण्ड देना और दुःखियो की सहायता करना। अब

जब कोई व्यक्ति कष्ट मे पड़ जाता है तो उनका सिंहासन ऊष्ण होने लगता है।[२५] पुण्यात्माओं के कष्ट-निवारणार्थ तथा कुकर्मियो को दण्डित करने के लिए वे स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर आ जाते हैं।[२६] इन्द्र सर्वदर्शी (समन्तचक्खु) हैं, उनके सहस्र नेत्र हैं।[२७] परन्तु इतने प्रमुख देवता होने पर भी उनका पद निरापद नही है। मनुष्य अपने अनन्तपुण्य के प्रभाव से शक्र को अपदस्थ कर स्वयं उस पद का अधिकारी बन सकता है, अतः देवराज भयभीत रहते हैं कि कोई व्यक्ति इतना पुण्य अर्जित न कर ले कि उनका शक्रत्व छिन जाय।[२८] अतएव जब कोई मनुष्य अतिशय पुण्य-कर्म का आचरण करने लगता है तो उनका सिंहासन ऊष्ण होने लगता है।[२९] तब वे ऐसा प्रयास करते हैं जिससे उस व्यक्ति का पुण्य क्षीण हो जाय और उनका शक्रपद सुरक्षित रहे।

देवराज इन्द्र त्रयोत्रिंस देवलोक में निर्मित एक अति सुन्दर प्रासाद में निवास करते है। उस प्रासाद के नाम हैं—सुधर्मा, वैजयन्त तथा मस्सकसार।[३०] सुधर्मा प्रासाद ही देवो का सभाभवन है।[३१] देवराज के विहार के लिए देवलोक में चित्रलता, नन्दन, फारूमक तथा मिस्सक नाम के अति सुन्दर पुष्पोद्यान बने हैं।[३२] उनके दो स्थायी सहयोगी है, मातलि तथा पचशिख।[३३] मातलि उनके सारथि हैं और पचशिख गधर्व। देवराज के रथ का नाम वैजयन्त है।[३४] इस प्रकार हम देखते हैं कि पालि-निकाय मे देवराज इन्द्र का विस्तृत विवरण दिया गया है। इससे यह सुस्पष्ट होता है कि देवराज जनता के देवता थे, अत: बौद्ध-धर्म मे उनका वही स्थान बना रहा जो ब्राह्मण-धर्म मे था।

यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म मे अग्निदेव का बडा महत्त्व है। वे इस भूतल पर देवताओ के प्रतिनिधि हैं, जिनके माध्यम से देवगण मनुष्यो द्वारा प्रदत्त बलि ग्रहण करते है। द्विजातियो के दैनिक धार्मिक अनुष्ठानो मे अग्निहोत्र की प्रधानता है। गृह्यसूत्रो तथा धर्मसूत्रो मे गृहस्थो के लिए अनेक गृहयज्ञो का विधान है जिनमे अग्नि-पूजन अनिवार्य होता है। ब्राह्मण गृहस्थ के घर में निरन्तर गृहाग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी। गोभिल-गृह्यसूत्र (१।४।५) मे अग्न्यगार का उल्लेख है, जिसके बाहर या अन्दर बलि दी जाती थी। बौद्ध लेखक भी यह स्वीकार करते है कि ब्राह्मण अग्निपूजक थे—तपोवन-वासी ब्राह्मण पवित्र अग्नि की परिचर्या मे लीन रहा करते थे।[३५] सुन्दरिक भारद्वाज तथा जटिल-बधुओ के आश्रमो मे अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित रहती थी।[३६] यद्यपि बौद्धो ने अग्नि-परिचर्या का उपहास किया है, पर उन्ही के विवरण के ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे द्विजातियों के धार्मिक जीवन मे अग्निदेव की पूजा का बडा महत्त्व था। बौद्ध पशुयज्ञ-विरोधी थे और यज्ञ मे अग्नि की प्रधानता रहती है,

अतएव उन्होने अग्निपूजा का विरोध किया।

सूर्य का स्थान वैदिक देवताओं मे महत्त्वपूर्ण है। वेदों मे उनके पाँच रूप माने गये हैं, परन्तु चन्द्रमा को महत्त्व नहीं दिया गया है। बौद्ध-साहित्य में चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों की पूजा के उल्लेख मिलते हैं।[३७] लोग अन्य इष्टदेवो के साथ चन्द्रमा की उपासना भी अपनी ईप्सित वस्तुओ की प्राप्ति के लिए करते थे। सूर्य के समान पर्जन्य भी प्रसिद्ध देवता बने रहे। वे वृष्टि के देवता माने जाते थे, अतः उनका आह्वान वर्षा के लिए किया जाता था।[३८]

श्री (सिरि, सिरिमा) अर्थात् लक्ष्मी की पूजा भी सभी वर्ग के लोग करते थे। पालि-जातको मे इन्हे धृतराष्ट्र की पुत्री तथा ऐश्वर्य एव भाग्य की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है।[३९] जातको की कल्पना के अनुसार इनके वस्त्र, अनुलेपन तथा अलकार स्वर्णवर्ण के रहते थे।[४०] भारहुत तोरण मे श्री को कमलासना उत्कीर्ण किया गया है। मणिमेखला को समुद्राधिदेवी मान कर पूजा की जाती थी।[४१] लोगों का विश्वास था कि वे नौकाभग हो जाने पर नाविको तथा यात्रियों का उद्धार करती थी।[४२] अत. इस देवी के प्रमुख उपासक थे—समुद्र-यात्री तथा सामुद्रिक नाविक।

श्रद्धा, आशा और हिरि सदृश अमूर्त देवी-देवताओ की भी पूजा की जाती थी।[४३] श्रद्धा का उल्लेख तो वेदो मे भी है, पर आशा और हिरि का केवल पालि-वाङ्मय मे प्रथम उल्लेख मिलता है।

चार लोकपालो का भी उल्लेख मिलता है और इन्हे चातुमहाराजिकदेव की सज्ञा दी गयी है।[४४] भारहुत-वेदिका के जातक-चित्रण मे भी इनको उत्कीर्ण किया गया है। चारो दिशाओ की रक्षा का भार चार देवताओ पर है— धृत-राष्ट्र महाराज, विरूल्हक महाराज, विरुपाक्ष महाराज और वैश्रवण महाराज। ये क्रमश पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर के लोकपाल है।

उपर्युक्त प्रमुख देवो के अतिरिक्त अनेक सामान्य देवो की भी पूजा की जाती थी जिनके विषय मे पर्याप्त जानकारी का अभाव है। यक्ष, नाग तथा वृक्ष की पूजा के सम्बन्ध मे पालि-निकाय मे सविस्तार विवरण उपलब्ध है। कही-कही वृषभ-पूजा का भी उल्लेख मिलता है। जातको मे स्वर्ग और नरक के भी रोचक वर्णन किये गये हैं। तत्कालीन जन-साधारण की आस्था के अनुसार पुण्यकर्मा स्वर्ग के अधिकारी थे और जो पापकर्मों मे लिप्त रहते थे वे नरक के।

यक्ष-पूजा—यद्यपि इस बात का निश्चित पता नही है कि भारत मे यक्ष-पूजा का प्रारंभ कब हुआ, किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणो तथा उपनिषदों मे यक्षों के उल्लेख मिलते हैं।[४५] वैदिक संस्कृत मे यक्ष का अर्थ होता है कोई

अलौकिक अथवा प्रेतसम प्राणी।[४६] कहीं-कहीं इसका प्रयोग मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए किया गया है।[४७] कुबेर के अनुचरों को भी यक्ष की संज्ञा दी गयी है।[४८] पालि-पिटक मे मानवेतर प्राणी, प्रेतात्मा, राक्षस, पिशाच आदि के लिए यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है।[४९] कही-कही यह कहा गया है कि जिनकी पूजा की जाय, जिनके लिए बलि दी जाय, वे ही यक्ष हैं।[५०] कभी यक्ष को देवता कहा गया तो कभी देवपुत्र।[५१] उनके कार्य-कलाप भी विविध प्रकार के बतलाये गये हैं। यक्ष स्वभावतः दयालु होते हैं और उनसे प्राणियों का कल्याण होता है। वे पापियो को कुकर्म से विरत करते हैं।[५२] वे यमपुरी में मार्ग-प्रदर्शक का कार्य करते हैं।[५३] कतिपय यक्षो का भयानक वर्णन भी उपलब्ध होता है। एक यक्ष ने अम्बष्ठ को कहा—'मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा'।[५४] एक अन्य यक्ष ने सारिपुत्त की हत्या करने का विचार किया था।[५५] यक्षों की तुलना मे यक्षिणियो के अधिक भयावह वर्णन मिलते हैं। वे प्रायः यात्रियों को अपने माया-जाल मे फँसा कर मार डालती थीं।[५६]

जातक कथाओ मे यक्ष-नगरों के उल्लेख मिलते हैं जो प्रायः द्वीप, घनघोर वन तथा मरुस्थल में बसे होते थे। सिरिसवत्थु नामक यक्षनगर ताम्रपर्णी द्वीप मे था,[५७] एक यक्षनगर जगल में था।[५८] कई यक्ष इन नगरो में न रह कर अपने एकात भवनो में वास करना पसंद करते थे।[५९]

बौद्ध एवं जैन ग्रंथो तथा धर्मशास्त्र से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन समाज मे लोग यक्षो की श्रद्धापूर्वक पूजा-अर्चना किया करते थे। स्थान-स्थान पर पूजास्थान बने हुए थे जिनको यक्ष-भवन अथवा यक्ष-चैत्य कहा जाता था।[६०] यक्ष-भवन अथवा यक्ष-चैत्य मे यक्ष की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती थी, या किसी अन्य विधि से उनकी पूजा की जाती थी, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। इन पूजा-स्थानो में लोग अनेक प्रकार के खाद्य एव पेय लेकर जाते और मृग, शूकर, मछली, सुरा आदि की भेंट यक्षों को चढ़ाते थे।[६१] यक्ष-पूजन के लिए समय-समय पर पर्व भी मनाये जाते थे।[६२]

बौद्ध-पिटक मे सूचिलोम, खर, इन्द्रकूट, मणिमाल, अजकलापक प्रभृति[६३] तीस से भी अधिक यक्षों का नामोल्लेख किया गया है। सूचिलोम यक्ष का स्थान गया के निकट था। भारहुत-वेदिका के एक वृहत् शिलाफलक मे इस यक्ष की मानवाकृति मूर्ति बनायी गयी है जिसमें इसने उष्णीष धारण कर रखा है। संयुत्त-निकाय तथा सुत्त-निपात में इसे भगवान् बुद्ध के साथ संभाषणरत दिखलाया गया है।[६४] पुनः खर तथा सूचिलोम यक्ष के वार्तालाप का भी विवरण मिलता है।[६५]

संभवतः गयावासी सूचिलोम के साथ खर की भी पूजा करते थे। इन्द्रकूट नामक यक्ष का स्थान राजगृह के इन्द्रकूट पर्वत पर था।[६६] मणिमाल चैत्य मणिमाल यक्ष का आवास माना जाता था।[६७] पाटलिपुत्र के अजकलापक चैत्य मे आजकलपक यक्ष की पूजा होती थी।[६८] उदान-अट्ठकथा मे उस यक्ष का बड़ा ही भयानक विवरण दिया गया है।

नाग-पूजा— वैदिक समाज मे नाग-पूजा का प्रचलन नही था। नाग देवता आर्येतर जातियो मे पूजित थे। अवान्तर काल मे जब आर्येतर जातियाँ आर्य-समाज मे विलीन हो गयी और उनके उपास्य देव भी आर्य-देवो की श्रेणी में आ गये, तो नाग-पूजा को भी आर्य-समाज ने अपना लिया। नाग आर्यों के आद्य देवो में नही थे इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में भी आर्य देवताओ तथा नागो की शत्रुता का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने वृत्र तथा अहि नाग का दर्प-मर्दन किया।[६९] महाभारत-युग में अर्जुन ने नागों की आवासभूमि खाडववन को भस्मीभूत कर दिया। जनमेजय ने नागयज्ञ का अनुष्ठान करके सर्पों का विनाश किया। पुन॰ महाभारत से विदित होता है कि राजगृह में नाग-मदिर थे।[७०] जब कृष्ण और अर्जुन राजगृह पधारे तो उन्होने मणि-नाग की पूजा की। इस प्रकार के विवरण हमें बतलाते हैं कि नाग मूलत. आर्य देवता नही थे। अनार्य जरासन्ध द्वारा शासित मगध के नाग-पूजा का प्रमुख केन्द्र होने से भी इस बात की पुष्टि होती है। मगध में आर्य संस्कृति का प्रभुत्व सभवतः पूर्वी भारत के अन्य स्थानो की अपेक्षा विलम्ब से होने के कारण यह महाभारत-युग में नाग-पूजा का गढ बन गया और पाँचवी शताब्दी ई० सन् तक बना रहा।

आर्येतर जातियो मे नाग-पूजा का प्रचलन क्यो हुआ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न का समीचीन उत्तर होगा—सर्पदश का भय। इस भय के निवारणार्थ ही नागपूजा का श्रीगणेश हुआ होगा। इस सम्भावना का उल्लेख विनय-पिटक मे भी मिलता है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ से कहा—'हे भिक्षुओं आपलोग नागों के राजकुलो की पूजा करे; इससे आप उनके दश से मुक्त रह सकेगे'।[७१] भिक्षुओ को खुले पैर जगली रास्तो मे चलना पडता था जिससे वे प्राय. सर्पदश के शिकार हो जाते होंगे, अतः बुद्ध ने नाग-पूजा का आदेश दिया। भारतीय ग्रामीण जनता मे अभी तक यह विश्वास दृढ है कि सर्पदश से मुक्ति के लिए नाग-पूजा करनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को साँप डँस देता है, तो उसके परिवार के सदस्य मनौती मनाते हैं कि यदि वह व्यक्ति बच

जायगा, तो भविष्य में विधिवत् नाग-पूजा की जायगी। यदि सर्पदंश के कारण किसी की मृत्यु हो जाती है, तो इस भय से भी कि भविष्य में पुनः किसी सदस्य को साँप न डँस दे, लोग नाग-पूजा करने लगते हैं। अतः सर्पदंश के भय से नाग-पूजा के उदय की सम्भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है। यह भय जितना आर्येतर जातियों में व्याप्त था, उतना ही आर्यों में, यद्यपि नाग-पूजा की प्रथा का जन्म आर्येतर समाज मे हुआ और अवान्तर काल मे आर्यों ने इसे अपनाया। इस बात की भी सम्भावना प्रतीत होती है कि आर्येतर जातियो मे नाग-जाति के इष्ट देवता नागदेव थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, महाभारत-काल में मगध नाग-पूजा का प्रमुख केन्द्र था। महाभारत के समान जैन-ग्रंथ भी राजगृह को नाग-पूजा का केन्द्र बतलाते हैं। राजगृह मे आज भी मणिनाग के मन्दिर का अवशेष खड़ा है। बौद्ध जातको में नाग-पूजा के अनेक वर्णन मिलते हैं[७२] जिनसे बुद्धकालीन समाज मे नाग-पूजा की व्यापकता मे सन्देह नही रह जाता है। हिन्दू-समाज मे नाग-पूजा आज भी उतना ही व्यापक है जितना प्राचीन काल में और श्रावण शुक्ला पचमी को सर्वत्र नागपंचमी का पर्व श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। उस दिन लोग नाग देवता को दुग्ध के साथ धान का लावा खिलाते हैं। गृह्यसूत्रो के अनुसार नाग देवता को लावा, भूँजे यव का आटा तथा दुग्ध-मिश्रित आटे की बलि देनी चाहिए। तदनन्तर जल का अर्घ्य देना चाहिए और पुष्प एवं सूत्र भी चढ़ाये जाने चाहिए।[७३] बौद्ध जातको मे दुग्ध, खीर, मत्स्य, मास, सुरा आदि द्वारा नाग-बलि सम्पन्न किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[७४]

महाभारत मे नाग-मन्दिर तथा नाग-चैत्य के उल्लेख मिलते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे फनयुक्त नाग-मूर्तियों का उल्लेख किया गया है। सभवतः मृण्मयी नाग-मूर्तियो की उपासना की जाती होगी। बौद्ध-काल मे नागो को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है कि पूजार्थ नाग-मूर्तियो के निर्माण की सम्भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है।

वृक्ष-पूजा—वृक्ष-पूजा की प्रथा भी अति प्राचीन है, परन्तु नाग-पूजा के समान इसका भी उद्भव आर्येतर समाज मे हुआ जान पड़ता है। ऋग्वेद में अरण्यानी की पूजा का उल्लेख मिलता है।[७५] अरण्यानी का अर्थ होता है वन की आत्मा और इससे किसी वृक्ष-विशेष की पूजा का सकेत नहीं मिलता। ऋग्वेद मे अश्वत्थ[७६] अथवा पिप्पल[७७] वृक्ष के उल्लेख तो किये गये हैं, पर उनकी पूजा का नही। यदि वैदिक साहित्य में वृक्ष-पूजा का कही उल्लेख उप-

लब्ध होता भी है तो वह अथर्ववेद,[७८] ब्राह्मण[७९] तथा उपनिषद[८०] में। अथर्ववेद मे अनेक आर्येतर रीति-रिवाजो को मान्यता मिली, क्योकि यह उस युग की रचना है जब वैदिक धर्म मे कई आर्येतर आराध्य देवो को स्थान दिया गया। इसी क्रम मे वृक्ष-पूजा को भी मान्यता मिली। अतः अथर्ववेद मे अनेक वृक्षो के प्रति पवित्रता के भाव व्यक्त किये गये हैं।

वृक्ष-पूजा आर्येतर जातियो की देन है, इसका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है हड़प्पा-युगीन सभ्यता मे पिप्पल-वृक्ष की पूजा का प्रचलन। सिन्धु-घाटी के निवासी दो प्रकार से वृक्ष की पूजा करते थे—एक तो स्वाभाविक रूप मे और दूसरा, वृक्ष से आविर्भूयमान देवता के रूप मे।[८१] आज भी संसार की कतिपय आर्येतर-वंशियो मे वृक्ष-पूजा विद्यमान है। हट्टन महोदय के मत में भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को सर्वप्रथम आबाद करने वाली नेग्रितो आदिम-जाति वृक्ष को पूजनीय मानती थी और उन्हीसे यह प्रथा आर्य-समाज मे आयी।[८२] अंडमान द्वीप-समूह के आदिम-जातियो मे वृक्ष-पूजा प्रचलित है और उनमे तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को आदिम-जातियो के बीच रक्त-सम्बन्ध प्रमाणित है।

बौद्ध पालि-ग्रथो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे वृक्ष-पूजा बडी व्यापक थी। वृक्षो को देवता, अप्सरा, नाग, प्रेतात्मा आदि का निवास स्थान मानकर लोग सतान, यश, धन इत्यादि की अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति के लिए वृक्षोपासना करते थे।[८३] कतिपय लोग वृक्ष-वासी प्रेतात्माओ तथा नागो के भय-निवारणार्थ वृक्ष-पूजा करते। वस्तुत: वृक्ष-पूजन नही होता था, पूजा तो की जाती थी पूजित वृक्ष मे निवास करने वाले देवता अथवा प्रेतात्मा की। भारतीय ग्रामीण जनता मे आज भी यह विश्वास प्रबल है और वह कई वृक्षो को भूत-प्रेतादि का स्थान मानती है। इसी आधार पर कई वृक्षो को देव-स्वरूप माना जाता है, जैसे पिप्पल। जब इसको दार्शनिक आधार प्रदान किया गया तो समस्त प्रकृति परमेश्वर की अभिव्यक्ति मानी गयी, पर जनता के विश्वास का आधार तो अपने मूल-रूप मे ही बना रहा।

वृषभ-पूजा—कृषि-प्रधान देश मे वृषभ की पूजा का प्रचलन सर्वथा स्वाभाविक है। यो तो वृषभ की महत्ता को हडप्पायुगीन समाज मे ही अगीकार किया गया, पर उस समय उसकी पूजा होती थी यह प्रामाणिक रूप मे नही कहा जा सकता। भगवान् शकर का वाहन होने के कारण हिन्दू-धर्म मे वृषभ को पूज्य माना जाता है। बौद्ध-ग्रंथो मे भी वृषभ को श्रद्धास्पद बतलाया गया है। कही-कही अवसर-विशेष पर वृषभ के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के वर्णन भी

मिलते हैं। पंचुपोसथ-जातक (४९०) मे इस सम्बन्ध की एक कहानी में यह उल्लेख मिलता है—"मगध राज्य के प्रत्यन्त ग्राम के मुखिया के एक वृषभ की सर्पदंश के कारण मृत्यु हो गयी। इसकी सूचना मिलते ही सभी ग्रामवासी जहाँ वृषभ मरा पड़ा था, वहाँ रोते हुए दौड़े और उन्होंने उसे पुष्पमालाओ से सजाकर दफनाया।" इस प्रसंग मे शिव तथा वृषभ के सम्बन्ध का कोई उल्लेख नही किया गया है। शिव के वाहन के रूप मे वृषभ का सर्वप्रथम सचित्र वर्णन कुषाण-शासकों की मुद्राओ मे मिलता है; अतः बुद्ध के समय मे शिव के वाहन के रूप मे वृषभ-पूजा की प्रथा की विद्यमानता सदिग्ध प्रतीत होती है। कृषिकर्म के लिए वृषभ पर निर्भरता के कारण कृषक-वर्ग मे उसके प्रति अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति की आकांक्षा के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। कृषक हिन्दू-समाज गो तथा वृषभ के प्रति सदा ही अत्यन्त श्रद्धालु रहा है। आज भी पूर्वी भारत मे दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी-पूजा के साथ गो-वृषभ की भी पूजा की जाती है। महाराष्ट्र मे आषाढ़ पूर्णिमा के दिन वृषभ-पूजा करने की प्रथा व्याप्त है। वस्तुत गो-वृषभ-पूजा के मूल मे भावना निहित है कि कृषि-कर्म मे उनके सहयोग से ही पारिवारिक सम्पत्ति की वृद्धि सम्भव है। अतः यह निर्णय सही होगा कि वृषभ-पूजा की मान्यता के दो प्रमुख कारण हुए—पहला, कृषि मे उसका सहयोग तथा दूसरा, उसे भगवान् शकर का वाहन मानना।

लोक-धर्म के प्रमुख अंग—जातक कथाओ से बुद्ध-युगीन समाज के जन-समुदाय द्वारा प्रतिपादित धर्म के मूल-तत्त्वो का ज्ञान भी उपलब्ध होता है। जातको मे इनके उल्लेख कुरु-धर्म तथा दश-राजधर्म के नाम से मिलते हैं। इनके अंतर्गत अविहिंसा, अक्रोध, सत्य, दान, पर-वस्तु को बिना दिये ग्रहण नही करना, मार्दव, आर्जव, मातृ-पितृ-सुश्रूषा, शील, मिथ्याचार-विरति, आत्म-दमन, धृति, तप, परित्याग, मद्यपान-विरति तथा शौच के आचरण को धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है।[८४] धर्म के इन अगों पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि इनमे अधिकाश का ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मतों मे समान-रूपेण प्रतिपालन होता है। मनु ने दश-धर्म (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी., विद्या, सत्य तथा अक्रोध) के आचारण का विधान किया है! जैन-मत के पञ्च-महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सुनृत तथा अपरिग्रह और बौद्ध-मत के दशशील वस्तुतः ब्राह्मण सन्यासियो द्वारा मान्य आचार-संहिता से ग्रहण किये गये, अतः तीनों में इतना साम्य दृष्टिगोचर होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्राट् अशोक ने सभी धर्मा-नुयायियों के लिए जिस समान धर्म की नियमावली को अपने धर्म-लेखों में उत्कीर्ण

करवाया, वह जातकों मे उपलब्ध धर्म के नियमों से मिलता-जुलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि पहले बौद्ध लेखकों ने जिस लोक-धर्म का अपनी लोक-कथाओं मे सयोजन किया, उसे पुनः अशोक ने अपने अभिलेखों मे धम्म नाम से प्रतिष्ठित किया। अशोक की अभिरुचि सभी धर्मावलम्बियो में बौद्ध-मत के उस सर्वग्राह्य आचार का प्रचार करने में थी जिसकी जन-समुदाय मे युगों से प्रतिष्ठा थी। अशोक के धर्म मे अल्पासिनव, बहुकल्याण, दया, दान, सत्य, शौच, मार्द्दव, साधुता, अविहिंसा, मातृ-पितृ-सुश्रूषा, गुरुजन-सेवा और ज्ञातृयो, ब्राह्मणो, श्रमणो आदि के प्रति सद्व्यवहार प्रमुख है।[८५] अविहिंसा, दया, सत्य, दानशीलता, शौच, मार्द्दव तथा मातृ-पितृ-सुश्रूषा को जातको मे तथा अशोक के धर्म मे समान महत्त्व मिला है। धर्म के शेष अगो मे भी न्यूनाधिक समानता विद्यमान है। अशोक ने धार्मिक सहनशीलता को महत्त्वपूर्ण माना, तो जातको मे अविरोध की महत्ता बतलायी गयी। मिथ्याचार का विरोध दोनो ने किया। अशोक ने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के मूल मे मानवमात्र के लिए इहलौकिक एव पारलौकिक सुख-शाति की उपलब्धि को प्रमुख माना था।[८६] उनका परम लक्ष्य तो पारलौकिक ही था जो जीवन के प्रति सनातन-धर्म के दृष्टिकोण से अभिन्न नही माना जा सकता। मनुष्य के सभी धर्माचरण वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पन्न किये जाते है। अशोक ने कहा—'य चु किंचि परिकामते देवानप्रियो प्रियदसि राजा त सव पारत्रिकाय · '।[८७] धम्म-जातक (४९७) के अनुसार धर्मानुष्ठान का लक्ष्य स्वर्ग-लोक की उपलब्धि है और इस लक्ष्य की पूर्ति के साधन हैं—अ-प्राणिहिंसा, मिथ्याचार-विरति, मातृ-पितृ-सुश्रूषा तथा सदाचार-पालन। स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग मे बाधक होने के कारण क्रोध, ईर्ष्या, तृष्णा तथा विषयासक्ति का त्याग वाछित माना गया।[८८] अशोक ने भी चाड्य, नैष्ठुर्य, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या के त्याग का उपदेश दिया।[८९] अत. इन समानताओ से प्रकट होता है कि अशोक के अभिलेखो मे धर्म के जिस स्वरूप का हमे ज्ञान होता है वह पालि त्रिपिटक मे वर्णित लोक-धर्म पर आधारित है। अत. बुद्ध-कालीन लोक-धर्म के सागोपाग ज्ञान के लिए अशोक के धर्म-लेखो की उपेक्षा नही की जा सकती।

जातको मे परवस्तु के उपभोग तथा पर-स्त्री की ओर सकाम दृष्टिपात करने की निषेधाज्ञा मिलती है।[९०] सदाचारी उस व्यक्ति को कहा गया है जो चोर-वृत्ति से सर्वथा विरत रहता है, जो सदा सत्य-वचन बोलता है, जो धन-अर्जन करने के लिए केवल सत्यमार्ग का अवलम्बन करता है—कपटपूर्वक

अर्जित धन के उपभोग से विरत रहा है, जो अमर्यादित आनन्दोपभोग से विरत रहता है, जो सदुद्देश्य से कदापि विचलित नही होता और जो पूर्ण निष्ठावान् है तथा जैसा बोलता है उसके अनुसार आचरण भी करता है।[११] अन्यत्र इस विचार की भी अभिव्यक्ति मिलती है कि घृणा से घृणा का अत करना संभव नहीं, एकमात्र प्रेम द्वारा घृणा को जीता जा सकता है, तथा जो प्रभुता प्रचड साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है वह चिरस्थायी नही हो सकती।[१२]

यद्यपि बौद्ध-पिटक मे अनेक सदाचार के उल्लेख हैं परन्तु मातृ-पितृ-सुश्रूषा, गुरुजन सत्कार तथा दानशीलता के विशेष विस्तार के साथ विवरण उपलब्ध होते हैं। ये सदाचार अति प्राचीन हैं और सभी भारतीय धर्म-सम्प्रदायो ने इनके महत्त्व को अगीकार किया है। भगवान् बुद्ध ने बौद्ध उपासको तथा भिक्षुओ को माता, पिता तथा गुरुजनो की सेवा का महत्त्व बतलाया। उन्होने कहा—'भिक्षुओ, माता-पिता अपनी सन्तान का बडा उपकार करते हैं—वे उनका पालन-पोषण करते हैं तथा उन्हे इस संसार से परिचित कराते हैं।'[१३] उन्होने यहाँ तक कहा कि जिन कुलो मे माता-पिता की पूजा होती है वे ब्रह्मलोक-तुल्य हैं, क्योकि *माता-पिता साक्षात् प्रजापति हैं।*[१४] वेदो मे *माता-पिता की तुलना द्यावापृथ्वी* से की गयी है। प्राचीन भारतीय समाज मे माता-पिता अर्थात् अपने जन्मदाता की पूजा स्रष्टा की भाँति की जाती थी, अत उनके महत्त्व का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। बौद्धों ने तो मातृ-पितृ-पूजा को स्वर्ग प्रदान करने मे भी समर्थ कहा।[१५] उन्होने यह माना कि माता-पिता अपनी सन्तान के लिए मानवरूप मे देवता हैं। अत. अगुत्तर-निकाय तथा इतिवुत्तक मे कहा गया है कि सन्तान अपने माता-पिता की पूजा उन्हे मधु, भोजन, पेय, वस्त्र एवं शय्या प्रदान करके, उनको स्नान कराकर तथा उनका शरीरावलेपन करके और उनके चरण धोकर सम्पन्न करे।[१६] एक जातक मे तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने माता-पिता की समुचित सेवा करेगा और गुरुजनों के प्रति सदा श्रद्धालु रहेगा, तो उसे अवश्यमेव त्रयोत्रिंस देवलोक मे स्थान मिलेगा।[१७] गुरुजन-सेवा के महत्त्व को भिक्षु-संघ में भी स्वीकार किया गया था और इस कारण वरिष्ठ भिक्षुओ को अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हुई थी।

गुरुजन-सेवा के समान दानशीलता को भी बुद्धकालीन समाज मे धर्म का प्रमुख अग माना गया था। अनेक जातको मे दानशीलता की महत्ता के गान मिलते है। वस्तुत अति प्राचीन काल से दान को धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है और जातकों मे वर्णन मिलते है कि ऐसा सुनने को कभी नही मिला कि किसी सद्गृहस्थ के द्वार से कोई भिक्षु या श्रमण या ब्राह्मण-तापस खाली हाथ लौट

गया हो।[९८] दानशीलता की महत्ता के पुनः पुनः उल्लेख मिलते हैं और लोक-कथाओं मे दान के साथ महादान के भी वर्णन किये गये हैं। अगुत्तर-निकाय तथा सुत्त-निपात मे गृहस्थों द्वारा सम्पन्न किये गये महादानो में प्रभूत दान दिये जाने के उल्लेख आते हैं।[९९] ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि दाता ने अपना सर्वस्व दान मे दे दिया।[१००] इस प्रकार का दान महादान की श्रेणी मे आयगा। समाज मे ऐसे धनाढ्य श्रेष्ठि भी विद्यमान थे जो प्रतिदिन सैकड़ो भिखारियों को भोजन कराते थे। बुद्ध के समकालीन श्रावस्ती के प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक अपनी दानशीलता के लिए विख्यात थे—वे नित्य सैकड़ों बौद्ध-भिक्षुओ को भोजन कराते थे।[१०१] कई दानी दानशालाएँ चलाते थे, जहाँ निर्धनो को दान दिया जाता था। श्रमणो, ब्राह्मणो, तापसो, भिखारियो तथा निर्धनों को दान मे भोजन-वस्त्र दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[१०२]

पालि-पिटक मे यह कहा गया है कि दानशीलता सर्वोत्तम धर्माचरण है, क्योकि इसके पुण्य-प्रताप से दानी मरणोपरात स्वर्ग मे स्थान पाता है।[१०३] दानी पुरुष ब्रह्मलोक, शक्रलोक तथा नागलोग मे जन्म पाता है, ऐसा लोगों का दृढ विश्वास हो गया था। अरक-जातक (१६९) मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि यदि कोई व्यक्ति सात वर्षों तक निरन्तर दान देता रहेगा, तो वह ब्रह्म-लोक मे जन्म पाकर वहाँ सात युगो तक वास करेगा। उरग-जातक (३५४) के अनुसार देवराज शक्र इस कारण भयभीत रहा करते हैं कि कही कोई महान् दानी अपने पुण्य-प्रताप से देवलोक मे जन्म लेकर उन्हे पदच्युत कर स्वय देव-राजपद पर आसीन न हो जाय। दानशीलता के प्रताप से शक्रपद-प्राप्ति की कई कथाएँ जातको मे मिलती हैं।[१०४] सखपाल-जातक (५२४) के अनुसार एक राजा ने अपनी दानशीलता के प्रताप से नागलोक मे नागराजा के रूप मे शरीर पाया। इस तरह की कथाओ का उद्देश्य जनता को दानशीलता मे प्रेरित करना था। इन कथाओ के मूल मे यह उद्देश्य भी निहित प्रतीत होता है कि पशुयज्ञ से जिस पुण्य को प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है उसकी उपलब्धि दान द्वारा भी संभव है। उपनिषदो मे पशुयज्ञ की नि.सारता के सकेत मिलते हैं और बुद्ध-युग मे यह भावना अत्यन्त मुखर हो गयी।

जातको में दान-विधि के सम्बन्ध मे कई रोचक बातो का पता चलता है। कई दानी तो अपनी दानशीलता प्रदर्शित करने के लिए दानशालाओ का निर्माण करते थे। दानपतियो द्वारा अपने-अपने नगरों मे प्राय. ६-६ दानशालाओ के निर्माण की प्रथा प्रचलित थी—चार तो चारो नगरद्वारो मे, एक नगरमध्य मे और एक दानी के आवास के निकट बनाया जाता था।[१०५] श्रमण तथा ब्राह्मण

प्रायः भोजन, वस्त्र, यान, उद्यान, गंध, विलेपन इत्यादि अनेक वस्तुओं को दान में प्राप्त करते थे।[१०६] यज्ञादि अवसर-विशेष पर तो ब्राह्मणों को प्रभूत दान मिलते थे। उन्हें स्वर्ण, रजत, अन्न, स्त्री, दास-दासी, गो-वृषभ, अश्व, हस्ति इत्यादि अनेकानेक सामग्री दान मे दी जाती थी।[१०७] इस प्रकार के दान महादान की श्रेणी मे आते हैं जिसका सामर्थ्य जनसाधारण मे नही था। बड़े-बड़े श्रेष्ठि तथा राजे-महाराजे ही महादान करने मे सक्षम थे।

यह तो असंदिग्ध है कि बुद्धकाल मे दान की बड़ी प्रतिष्ठा रही, परन्तु समाज मे कंजूसों का कभी अभाव नही रहा है। जातकों मे भी कई ऐसे धन-कुबेरों के उल्लेख मिलते हैं जो दान के नाम से भड़कते थे। कुछ श्रेष्ठि दान तो करते थे, पर सडे खाद्यान्न का ही। बिलारिकोसिय-जातक (४५०) मे एक ऐसे कंजूस श्रेष्ठि की कथा मिलती है जो ब्राह्मणों को निम्नकोटि के चावल दान किया करता था। एक दिन जनता में इसको लेकर बडा क्षोभ हो गया और जन-समुदाय के समक्ष उस श्रेष्ठि को अपमानित होना पडा। कभी-कभी ऐसे कजूसों का भी जन्म हो जाता था जो अपनी पैत्रिक दानशालाओ को बन्द कर देते अथवा उन्हे ध्वस्त कर जला डालते।[१०८] यद्यपि समाज में कतिपय कंजूस थे, परन्तु सद्गृहस्थ श्रमणो, ब्राह्मणों, तापसों, निर्धनों तथा अभावग्रस्तो को मुक्तहस्त से दान दिया करते थे।

१३

तापस सम्प्रदाय

सन्यास-जीवन का विकास—संन्यास-जीवन के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद काल से ही मिलने लगते हैं। ऋग्वेद मे मुनियो[1] और यतियों[2] के उल्लेख हैं, जो उस युग के तापस थे। वे केश बढाये रहते और शारीरिक स्वच्छता के प्रति उदासीन रहते थे। ऐतरेय-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ये तपस्वी मृगचर्म धारण करते, श्मश्रु बढाते, तप करते तथा सासारिक सुखोपभोगो से विरत रहा करते थे।[3] ऐतरेय-ब्राह्मण से इस बात के भी सकेत मिलते हैं कि उस समय तक तापस-सम्प्रदाय समाज मे लोकप्रिय न हो पाया था। इससे तापस-जीवन के सम्बन्ध मे यह शका उत्पन्न है कि क्या यह अवैदिक साधना थी ? हडप्पायुगीन मुहरो मे आदि-पशुपतिनाथ तथा श्मश्रु-युक्त पुरोहितो के चित्रण इस विचार को प्रश्रय देते हैं कि सभवत हडप्पा सस्कृति मे तप की प्रतिष्ठा थी। वैदिक आर्य इन तपस्वियो के गदे रहन-सहन को पसद नही करते थे। धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि उपलब्धियो को विशेष महत्त्व देने के कारण वैदिक आर्य आरभ मे तापस-जीवन के प्रति विशेष अनुरक्त नही थे, परन्तु कालान्तर मे जब आर्य-आर्येतर-भेद का अन्त हो गया, तो आर्यों ने तप को नया रूप देकर अपना लिया। अब आध्यात्मिक उपलब्धियो के लिए तप एव गृहत्याग की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा। आश्रम-सिद्धान्त के आधार पर जीवन का वर्गीकरण कर व्यक्ति के लिए गृहत्याग को अनिवार्य बना दिया गया, परन्तु छादोग्य-उपनिषद के समय तक वानप्रस्थ और सन्यास के भेद का कोई स्पष्ट सकेत नही दीखता है। उपनिषदो से प्रतीत होता है कि साधारणतया लोग पर्याप्त समय तक गृहस्थ-जीवन बिता कर वन की ओर प्रस्थान करते थे जहाँ वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधना-रत हो जाते थे। याज्ञवल्क्य मुनि ने गृहस्थ-आश्रम के अवसान होने पर सन्यास ग्रहण किया था।[4] मुण्डकोपनिषद् ने तप को ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का साधन बतलाया है और कहा है कि ब्रह्मज्ञानी को भिक्षान्न पर निर्भर रहना चाहिए।[5]

इस प्रसंग में आश्रमो पर विचार नही किया गया है, परन्तु जाबालोपनिषद् में चतुराश्रमो के उल्लेख के साथ ये विचार भी व्यक्त किये गये हैं कि व्यक्ति को क्रमश: पूर्ववर्ती तीनों आश्रमों का सेवन करके सन्यास में प्रवेश करना चाहिए, अथवा जिस क्षण हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए।[१] इससे प्रतीत होता है कि उन दिनो दोनो प्रकार की प्रथाएँ मान्य थी।

आध्यात्मिक चिंतन के क्रम मे जब यह अनुभव किया गया कि सभी इन्द्रिय-जन्य सुख-भोग क्षणिक हैं; स्थायी सुख का उद्गम तो सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त ब्रह्म की अनुभूति है, तो समाज मे सन्यासी-वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। उपनिषद्काल मे विशेष आध्यात्मिक चिंतन होने के कारण अनेक दार्शनिक विचारधाराओ का उदय हुआ और इसी क्रम मे बुद्ध-काल मे भी ऐसे मतो का प्रादुर्भाव हुआ जिनमे गृहत्याग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। प्रव्रज्या को महत्त्व प्रदान करने वाले नवीन दार्शनिक विचारों को मानने वालो के जीवन का लक्ष्य ही बदल गया। जन-साधारण की स्वाभाविक चेतना को महत्त्वपूर्ण दीखने वाली वस्तुओ का उन लोगों के जीवन मे कोई महत्त्व नही रहा जो शाश्वत सत्य की खोज मे तल्लीन हो गये। उन्होने वैदिक यज्ञो तथा अन्य धार्मिक बाह्याडबरो को जीवात्मा के उत्कर्ष के लिए, आत्मा तथा परमात्मा के एकत्व की अनुभूति की अवस्था मे पहुँचने के लिए, असमर्थ पाया। अत: ब्रह्म-जिज्ञासु अरण्यवासी बनने लगे। संभवत: सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने सासारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुओ तथा वानप्रस्थियो के रूप मे मोक्ष का मार्ग ढूँढ़ना आरम्भ किया, परन्तु अन्य वर्णों के लिए इस मार्ग का द्वार बद था, इसका भी कोई प्रमाण नही मिलता। अतएव यह अनुमान लगाना अनुपयुक्त नही होगा कि सभी वर्णों के आत्म-जिज्ञासुओ तथा मोक्षाकाक्षियो के लिए प्रव्रज्या का द्वार उन्मुक्त था, यद्यपि गृहत्यागियो मे ब्राह्मणो की संख्या अधिक रही होगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया, सन्यासियो अथवा परिव्राजको के सम्प्रदाय का अभ्युदय बुद्ध के आविर्भाव के समय से पर्याप्त पूर्व हो चुका था, यद्यपि बुद्ध-पूर्व काल मे सन्यासियों के कितने वादों का अस्तित्व था यह कहना कठिन है, परन्तु बुद्ध-जन्म के समय सन्यासियो के अनेक सम्प्रदायो के अस्तित्व के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वकाल मे भी उनके एकाधिक सम्प्रदाय रहे होंगे, जिनके विषय मे हम अनभिज्ञ हैं। प्राचीन संस्कृत-ग्रंथो मे आश्रमवासी संन्यासियो के पर्याप्त वर्णन उपलब्ध हैं। रामायण मे विश्वामित्र, वशिष्ठ, गौतम

आदि मुनियों के आश्रमो के सुन्दर वर्णन किये गये हैं। जब भगवान् राम तथा लक्ष्मण अयोध्या से मिथिला जा रहे थे तो उन्होंने मार्ग मे तत्कालीन ऋषियो के अनेक आश्रमो का दर्शन किया। पश्चात् जब राम, सीता तथा लक्ष्मण वनवास-काल मे दक्षिण भारत गये तो वहाँ भी उन्होने ऋषियों के अनेक आश्रमपदो को देखा। चित्रकूट के आश्रमपदों का भगवान् राम ने पुनर्गठन भी किया। इसि-गिलिसुत्त, खग्गविषाणसुत्त तथा कई अन्य पालि-सूत्रों मे अतीत के तापसों के वर्णन किये गये है, जो इस बात के प्रमाण हैं कि बुद्ध के आविर्भाव-काल के पूर्व समाज मे सन्यास-जीवन आध्यात्मिक साधना के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका था।

बुद्ध-काल में तापस-जीवन की व्यापकता— बुद्ध एवं जैन सूत्रों के अनुसार बुद्ध-काल मे अनेक नये तापस सम्प्रदायो का अभ्युदय हुआ। धार्मिक तथा दार्शनिक उथल-पुथल के इस युग में परिव्राजक-जीवन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस युग मे जो नये धर्म-सम्प्रदाय अस्तित्व मे आये उनमे इस विषय मे मतैक्य था। बौद्ध, जैन, आजीविक आदि मतो मे समान-रूप से सासारिक जीवन से वैराग्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इन धर्म-सम्प्रदायों के पनपने के लिए जो उर्वर क्षेत्र प्राप्त हुआ, उसका निर्माण उपनिषदों की उस दार्शनिक विचारधारा ने किया, जिसके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। उपनिषद् दर्शन तथा बौद्ध, जैन, आजीविक आदि नये दार्शनिक मतो के प्रसार के फलस्वरूप वृद्ध-युवा, स्त्री-पुरुष, सभी बडी सख्या मे प्रव्रजित होने लगे और अरण्यो मे तापस बडे-बडे समूहो मे अपने आचार्यों के साथ निवास करने लगे।

पालि-पिटक से प्रतीत होता है कि ६ठी शताब्दी ई० पू० के भारत मे सासारिक जीवन से वैराग्य की एक प्रबल वेगमयी आँधी-सी प्रवाहित हो रही थी। दीघ-निकाय,[७] मज्झिम-निकाय,[८] सयुत्त-निकाय,[९] थेरीगाथा[१०] तथा सुत्त-निपात[११] में सासारिक जीवन की नि:सारता बतलाते हुए वैराग्य-जीवन की महत्ता के गीत गाये गये है। इन गीतो मे बतलाया गया है कि सासारिक सुखोपभोगो मे लीन व्यक्तियो के लिए आध्यात्मिक अतर्दृष्टि प्राप्त करना संभव नही होता, क्योकि विषय-वासनाएँ विभिन्न रूपो मे मनुष्य के मन को चलायमान करती रहती है। पालि-सूत्रो से ज्ञात होता है कि लोग धन, वैभव तथा परिवार के मोह की उपेक्षा कर, निर्मोही बन अरण्यवासी बनने लगे। ब्राह्मण महासाल समस्त ससारिक सुखो का सहर्ष परित्याग कर प्रव्रजित हो वनवासी बन कर

कन्द-मूल-फल खाकर जीवन यापन करने में अथवा परिव्राजक-रूप में भ्रमणरत हो भिक्षान्न-मात्र पर निर्भर रहने मे ही परम तुष्टि का अनुभव करने लगे।

बौद्ध पालि-पिटक से प्रतीत होता है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में प्रव्रज्या को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया कि माता-पिता भी अपनी संतान को अध्यात्म-लाभ हेतु प्रव्रजित होने के निमित्त प्रोत्साहित करने लगे। असातमन्त जातक (६१) के अनुसार माताएँ भी अपने पुत्र को स्त्रीजाति के दुर्गुणो का वर्णन कर उन्हें अरण्यवासी बनने की प्रेरणा देने लगी। ऐसा जान पड़ता है कि इस युग के धर्मोपदेशको ने बडी सख्या में लोगों को पारिवारिक जीवन से विरक्त कर दिया और लोग वैराग्य के जोश में नारी-जाति के प्रति उदासीन होने लगे। जो व्यक्ति परिवार के सम्पूर्ण बंधनों को तोड़ लेने का मन में संकल्प कर लेता, वह अपनी पत्नी को ही इस कार्य में सबसे बडी बाधा पाता। जब युवा गृहस्थ पत्नी के प्रति अपनी प्रबल प्रेमासक्ति एवं आकर्षण के उन्मूलन में अपने को असमर्थ पाता, तो वह उसे ही विषयासक्ति का आधार मानकर समस्त दुर्गुणो का आगार समझने लगता।

तापस-जीवन की व्यापकता के कारण— आखिर इस युग मे तापस-जीवन के इतने लोकप्रिय हो जाने के क्या कारण थे? तप का अर्थ होता है तपना अथवा प्रदीप्त होना, अर्थात् शरीर को तपा कर तेजस्वी बन जाना। आरम्भ मे तप का रूप था आत्मसंयम, परन्तु कालान्तर मे इसने आत्म-पीड़न का रूप ग्रहण कर लिया। तापस जन शरीर को नाना प्रकार से पीडित करने लगे। आत्मोत्कर्ष के लिए शरीर तथा मन को क्लेश पहुँचाने की अनिवार्यता पर लोगो की आस्था दृढ हो गयी। लोग अरण्यवासी बनने लगे, अरण्यभूमि तपोभूमि बन गयी। अब यह विश्वास अटूट हो गया कि तप ही वह साधन है जिससे मनुष्य दैवी-शक्तिसम्पन्न बन सकता है। तप द्वारा अपने इष्टदेव को प्रसन्न कर उनसे मनोवाञ्छित वरदान प्राप्त कर शक्तिशाली बन जाने के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। तपस्वियों को अलौकिक शक्तिसपन्न मानने के कारण जनता के हृदय में उनके प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा की भावना को प्रश्रय मिला। तपश्चर्या मे योगाभ्यास का प्रमुख स्थान रहा है और योग की अनन्त शक्ति पर लोगों का दृढ़ विश्वास था। लोग मानते थे कि योगी जन अदृश्य होने, आकाश मे संचरण करने, जल मे चलने, पर्वत के एक पार्श्व से दूसरे में प्रविष्ट हो जाने अथवा दीवार को बीच से निर्बाध पार कर जाने के सदृश असाधारण कार्य सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं। स्वेच्छया विभिन्न रूप धारण करने में

अथवा कार्य-सम्पादन मे योगी को वैसा ही समर्थ माना जाने लगा जैसा कि कुम्भकार विभिन्न आकार के मृण्मय पात्रो के निर्माण मे निपुण रहता है।[१२] योगशक्ति के सफल प्रदर्शन द्वारा योगी जनता मे अपनी धाक जमा लेता था। जो योगी जनसमूह के समक्ष अपनी दिव्य शक्तियो का प्रदर्शन अन्य योगियो की तुलना मे अधिक प्रभावोत्पादक ढग से करता, उसे ही सबसे बडा योगी मान लिया जाता था और तदनुकूल उसे समाज मे सम्मान प्राप्त होता। बुद्ध और महावीर के लिए भी यह अनिवार्य हो गया था कि वे अपनी अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन कर जनता मे अपने प्रति आस्था उत्पन्न करें। पालि-सूत्रो मे भगवान् बुद्ध द्वारा अलौकिक शक्ति-प्रदर्शन के अनेक प्रसगों के उल्लेख मिलते हैं। महावग्ग मे बुद्ध द्वारा दिव्य-शक्ति-प्रदर्शन के एक प्रमुख प्रसग का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है—'उन दिनो उरूवेला के काश्यप-बंधुओ का समाज मे बडा प्रभाव था और उनके वार्षिक यज्ञ मे स्थानीय जनता सोत्साह भाग लेती थी। बुद्ध ने विचार किया कि यज्ञ के अवसर पर यदि अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया जाय तो उसका जनता मे बडा अनुकूल प्रभाव पडेगा। काश्यप-बंधु नागपूजक थे, अतः उनके उपास्य नागदेव की अग्नि को भगवान् बुद्ध ने अपनी अग्नि से पराभूत कर दिया। उन्होने नागदेव को अपने भिक्षापात्र मे डाल दिया और उरूवेल जटिल से कहा— देखा, मैने तुम्हारे नागदेव की शक्ति को किस प्रकार समाप्त कर दिया है? इस पर उरूवेल काश्यप ने सोचा — वास्तव मे श्रमण अद्भुत दिव्य-शक्ति-सम्पन्न हैं, तभी तो चारो दिक्पाल महाराजे भी उनके उपदेशो के श्रवणार्थ आ जाते हैं।'[१३] अगुत्तर-निकाय मे बुद्ध द्वारा आकाश-सचरण का वर्णन मिलता है। जातको मे भी ऐसे अनेक प्रसगो का उल्लेख हुआ है जब भगवान् बुद्ध को दिव्य-शक्ति का प्रदर्शन करना अनिवार्य हो गया। पालि सूत्रो के अनुसार वे अद्भुत योगबल सम्पन्न व्यक्ति थे जिससे उनकी समता सुब्रह्मा और सुद्धवास भी नही कर सकते थे।[१४] इस युग के अन्य धर्मोपदेशको को भी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न कहा गया है। महामोग्गालान इद्धिमन्नञो मे अग्रणी माने जाते थे।[१५] उनका योगबल भी असीमित था। महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अपरिमित ज्ञानी कहे गये हैं।[१६] उन्होने अपनी श्रेष्ठ मत्रशक्ति के द्वारा ही अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी मक्खलि-गोसाल को पराभूत किया। तीर्थंकर गोसाल की गणना भी भारतीय इतिहास के तीन महान् अवधूतो मे की जाती है।[१७] भोजपुत्र रोहिताश्व भी जब तपस्वी का जीवन व्यतीत कर रहे थे तो वे असीम योगबल-सम्पन्न थे। उनको

आकाश-सचरण में समर्थ कहा गया है।[१८]

वस्तुत' साधारण मनुष्य की दृष्टि में तप दैवी शक्ति प्राप्त करने का साधन था, परन्तु सभी व्यक्ति अद्भुत अलौकिक शक्ति-मात्र उपलब्ध करने के उद्देश्य से प्रव्रजित नही हो जाते थे। विवेकशील व्यक्ति तो आध्यात्मिक ज्ञान की जिज्ञासा से प्रेरित होकर ही संन्यासमार्ग के पथिक बनते थे। वैराग्य के अधिकाश प्रसगो से यही प्रतिभासित होता है कि सांसारिक सुख-भोगों की क्षणभगुरता के कारण ही मनुष्य के हृदय में अरण्यवास की भावना का उद्रेक होता था। गौतम बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर ने सत्य-ज्ञान की खोज मे संसार का परित्याग किया। जातक कथाओ मे भी इस बात पर बल दिया गया है कि सासारिक विषय-वासनाएँ मनुष्य को अधोगति के मार्ग मे ले चलती हैं, अत' वैराग्य ही आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम मार्ग है। वैराग्य के मूल मे प्रेरक शक्ति आत्म-जिज्ञासा ही थी, यह बात अलग है कि साधारणतया लोग योगियों की दिव्य-शक्ति से प्रभावित होकर उनके प्रति भक्ति-भाव रखने लगे।

जनता सभी धर्म-सम्प्रदायों के तापसो का समान आदर करती थी, क्योंकि उसको सैद्धान्तिक मतभेदो से कोई मतलब नही था। उसकी दृष्टि मे सभी संसारत्यागी एव आध्यात्मिक चिंतक श्रद्धा के पात्र थे। पालि-सूत्रों से विदित होता है कि समाज मे श्रमण तथा ब्राह्मण, दोनो का समान रूप मे आदर-सत्कार किया जाता था।[१९] लोग विपत्तियो के निवारणार्थ विभिन्न देवताओ के साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी आह्वान करते थे।[२०] जैन-सूत्रो के अनुसार तापसो का भोजन-सत्कार पुण्य-कर्म माना जाता था। सच्चे क्षत्रिय के कर्त्तव्यों मे बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठानो एव श्रमण-ब्राह्मणो को भोजन कराने तथा दान देने के उल्लेख मिलते हैं।[२१] उत्सव के दिन गृहस्थ श्रमण-ब्राह्मण को भोजन के लिए आमन्त्रित करते थे।[२२] राजसभा मे भी उन्हे समुचित सम्मान मिलता था। वे वहाँ धर्मोपदेश के लिए जाते और उसके बदले मे उन्हे सम्मान प्राप्त होता था। ऐतिहासिक अभिलेखो से भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समाज मे श्रमणो तथा ब्राह्मणो को बड़ा आदर मिला। अशोक के धर्मलेखो मे इनका एक साथ उल्लेख मिलता है। अशोक ने अपनी प्रजा को श्रमण-ब्राह्मण का समादर करने तथा उनको उदारतापूर्वक दान देने का उपदेश दिया। अशोक तथा उनके पौत्र दशरथ ने उन आजीविको का भी ध्यान रखा जिन्हे बौद्ध घृणा की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने आजीविक तापसो के लिए बराबर एवं नागार्जुनी की पहाडियों को काट कर गुफाओं का निर्माण कराया।

बौद्ध-ग्रथो से इस बात का भी कोई सकेत नही मिलता कि किसी वर्ण-विशेष अथवा जाति के आधार पर किसी व्यक्ति को तापस-जीवन से वचित होना पडता था। आरभिक युग मे जब ब्राह्मणो ने वैराग्य का मार्ग अपनाना शुरू किया तो क्षत्रियो ने भी उनका साथ दिया। क्षत्रिय नरेशो ने राजवैभव का परित्याग कर वैखानस स्वीकार किया। धर्मशास्त्र मे शूद्र को सन्यास-आश्रम का अधिकारी नही माना गया है। इसका अधिकार द्विजातिमात्र को दिया गया है। वस्तुत· शूद्र के लिए वेदाध्ययन तथा वेदमत्रो द्वारा धार्मिक कर्मों का निषेध हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ब्राह्मणो ने वैखानस-जीवन को नियमबद्ध किया, तो उन्होने शूद्र को इस जीवन से वचित रखा। सन्यासी की अपनी कोई जाति नही रह जाती' है। जिस क्षण व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है, वह केवल सन्यासी रह जाता है। अत. जिन शूद्रो को ब्राह्मणो ने सदा अपने से हीन समझा, उन्हे सन्यासी के रूप मे समान पद देना उन्हे स्वीकार नही हुआ। प्रतिकूल सामाजिक वातावरण के कारण शूद्र यदा-कदा ही सन्यासी हुआ करते थे, अत उनका उल्लेख नही मिलता। कट्टरपथियो के विचार मे यद्यपि शूद्र सन्याम-जीवन का अधिकारी नही माना गया, परन्तु ज्ञान को कभी बाँध कर नही रखा गया। सच्चा ज्ञान तो अन्तर की चीज है जो स्वतः फूट पडता है, अत इसमे किसी वर्ण का एकाधिकार नही हो सका। कतिपय विचारको ने यह अनुभव किया कि शूद्र-वर्ण मे जन्म पाने से ही व्यक्ति-विशेष को आध्यात्मिक ज्ञान-जगत् मे प्रवेश पाने के अधिकार से वचित रखना अनुचित होगा। बुद्ध-काल मे अनेक वाद प्रचलित हुए जिनमे सभी जातियों के लिए आध्यात्मिक जगत् का द्वार उन्मुक्त रखा गया। इन वादो का प्रादुर्भाव पूर्वयुग के दार्शनिक चिंतन के फलस्वरूप ही हुआ और यह कथन सर्वथा उपयुक्त नही है कि बौद्ध-धर्म के उदय के कारण ही सभी जाति के लोगो को तापस-जीवन मे प्रवेश का अधिकार मिल पाया। बुद्ध-पूर्व समाज मे भी मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने वाले उदारचेता विचारको का अभाव नही था। मातग-जातक मे मातग नामक चाडाल की कथा है, जिसे ज्ञानसम्पन्न तपस्वी होने के कारण समाज के सभी वर्गों से आदर प्राप्त हुआ था। शूद्र, दास तथा चाडाल जब तापस बन जाते थे, तो उनका उचित सम्मान किया जाता था। अतएव यह निर्णय करना सही होगा कि समाज का उदारवादी वर्ग सभी जातियो के लिए सन्यास का द्वार उन्मुक्त रखने के पक्ष में था।

प्रमुख तापस सम्प्रदाय— पालि-पिटक मे तापस सम्प्रदायो की कई सूचियाँ

मिलती हैं। सामञ्ञफल-सुत्त तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त के अनुसार बुद्धकालीन समाज मे ६ प्रमुख तापस सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा थी। इन श्रमण सम्प्रदायो के प्रमुखो की गणना उस समय के मुख्य विचारको मे की जाती थी और जनता उनका बडा आदर करती थी। उनके नाम हैं— पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन) अजित केसकम्बल, सञ्जय वेलटिठपुत्त एवं निगण्ठ नात (थ)-पुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र)। इन आचार्यों के सम्प्रदायो के अतिरिक्त अन्यत्र उल्लेख मिलते हैं—मुण्डसावक, परिव्राजक, मागन्दिक, तेदण्डिक, अविरुद्धक, देवधम्मिक, पिसाचिल्लिक, अचेलक तथा एकसाटिक नामक सम्प्रदायों के ,जिनके विषय मे पर्याप्त बातें ज्ञात नही हो पाती हैं।[२३] नवी शताब्दी ई० सन् के एक जैन टीकाकार ने एक अति प्राचीन अर्द्ध श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे केवल इन पाँच सम्प्रदायो का उल्लेख किया गया है— निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक तथा आजीविक।[२४] अशोक के धर्मलेखों मे केवल ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा आजीविक तापसो के उल्लेख है। ब्राह्मण तथा श्रमण शब्दो से ब्राह्मण-अब्राह्मण वर्ग के कई नगण्य सम्प्रदायो को समाहित माना जा सकता है। न तो सम्पूर्ण पालि-धर्मग्रथ एक काल की रचना है और न जैन-सूत्र ही, अत उनमे तापस सम्प्रदायो की जो सूचियाँ दी गयी हैं वे एक-सी नहीं हैं। डॉ० सुकुमार दत्त महोदय के विचार मे इस क्रमहीनता के ये कारण प्रतीत होते हैं—आशिक एव सदोष ज्ञान, जाति एव वर्ग के अतर का अपर्याप्त विश्लेषण तथा परम्परा एव व्यक्तिगत ज्ञान के बीच की अस्पष्टता।[२५]

विभिन्न तापस सम्प्रदायो मे सैद्धान्तिक विरोध के बावजूद उनके बाह्याचरण मे कई प्रकार की समानताएँ थी। इस कारण विभिन्न प्रकार के तापसो का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना दुष्कर कार्य है। पालि-पिटक मे तापसो के लिए परिव्राजक, भिक्षु, श्रमण, यति, संन्यासी आदि शब्द मिलते हैं। निकायो मे प्राय: परिव्राजक शब्द प्रयुक्त हुआ है, पर जातकों मे तापस। जैन औपपातिक-सूत्र (७४) मे तापसो का जो विवरण मिलता है उससे वे वानप्रस्थी प्रतीत होते हैं। उनके प्रसंग मे सपरिवार अरण्यवास, अग्नि-परिचर्या, भूमिशयन सदृश तप तथा अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने और सम्पत्ति के स्वामित्व आदि के उल्लेख किये गये है। सम्भवत: ब्राह्मण-धर्मावलम्बी तापसों के दो वर्ग थे— प्रथम वर्ग था वानप्रस्थियो तथा सन्यासियो का और दूसरा. परिव्राजकों का। रीस डेविड्स महोदय के मत मे परिव्राजक वस्तुतः तापस नही थे। इनके विचार में परिव्राजक संज्ञा से उन धर्मोपदेशकों तथा दार्शनिको का बोध होता है जो वर्ष के

आठ अथवा नौ मास भ्रमणशील रहा करते और प्राय: उन लोकमडपो मे वास करते जहाँ दार्शनिक एवं धार्मिक विषयो पर विचार-विमर्श हुआ करते थे ।[२६] परन्तु रीस डेविड्स महोदय की धारणा इस विषय मे भ्रात प्रतीत होती है । परिव्राजको का जीवन तापसो के ही समान था— उनका भोजन भिक्षान्न होता था और उनके अन्य आचरण भी तापसो के आचरण से अभिन्न थे । अत: उनको तापस-समुदाय से भिन्न मानना हमारी भ्राति होगी ।

परिव्राजक—परिव्राजको के सभवत: दो वर्ग थे—ब्राह्मण परिव्राजक और अन्य-तैर्थिक परिव्राजक । ब्राह्मण परिव्राजक प्राय: सन्यासियो को कहा जाता था । जातक कथाओ मे तापसो तथा परिव्राजको के जो विवरण उपलब्ध है उनके आधार पर उन्हें वानप्रस्थी एव सन्यासी माना जायगा । जातको से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तापस आचार्यों के आश्रमो मे शिष्यो का जमघट रहता था । तापस आचार्यों के सन्निकट पाँच-पाँच सौ शिष्यो की मडली जमा होने के उल्लेख मिलते हैं । उरूवेल काश्यप के शिष्यो की सख्या पाँच सौ थी । उनके दो भ्राताओ के भी क्रमश: ३०० और २०० शिष्य थे । तीनो भाइयो ने अपने-अपने शिष्य-समूहो के साथ उरूवेला मे आश्रम स्थापित किये थे ।[२७] सञ्जय परिव्राजक राजगृह के निकट अपने २५० शिष्यो के साथ वास करते थे ।[२८] तापसो के प्रधान आचार्य को गणसत्था कहा जाता था ।[२९] सत्था सज्ञा से ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण सभी प्रकार के तापस-समुदाय के प्रधान का बोध होता है । भगवान् बुद्ध भी सत्था कहलाते थे । निकायो मे ४५ प्रमुख तापसो के नामोल्लेख मिलते हैं जिनमे अधिकाश ब्राह्मण परिव्राजक प्रतीत होते है । इनके नाम हैं— अगिवच्छगोत्त,[३०] अजित,[३१] अन्न-भार,[३२] अनुगार,[३३] उग्गहमाण,[३४] उत्तिय,[३५] उपतिस्स,[३६] कतृयन,[३७] कन्दरक,[३८] कुण्डलिय,[३९] कोकनुद,[४०] जम्बुखादक,[४१] तिम्बरुक,[४२] दीघनख,[४३] नन्दिय,[४४] निग्रोध,[४५] पटिकपुत्त,[४६] पलायि,[४७] पविट्ठकोलित,[४८] पसूर,[४९] पिलोतक,[५०] पेस्स,[५१] पोट्ठपाद,[५२] पोतलिपुत्त,[५३] पोतलिय,[५४] भगवगोत्त,[५५] मिगसिर,[५६] मागन्दिय,[५७] मोलियसीवक,[५८] वच्छगोत्त,[५९] वरधर,[६०] वेखनस,[६१] सकुल-उदायि,[६२] सञ्जय,[६३] सज्झ,[६४] सदक,[६५] सभिय,[६६] समन्दकानि,[६७] समञ्ञाकानि,[६८] सरभ,[६९] सामडक,[७०] सुचिमुखी,[७१] सुतवा,[७२] सुभद्द[७३] तथा सुसीम ।[७४] इनमे अनेक अपने समय के प्रमुख धार्मिक नेता माने जाते थे और जनता पर उनका बडा प्रभाव था । यह सर्वथा असदिग्ध है कि इन परिव्राजको द्वारा बुद्ध का प्रभुत्व स्वीकार करना बौद्धमत के प्रसार का प्रमुख कारण हुआ ।

संन्यास-जीवन का अनुशासन— जातकों मे वानप्रस्थियो तथा सन्यासियो

का अन्तर अस्पष्ट है। इन दोनों आश्रमियों के अन्तर को धर्मशास्त्र मे ही स्पष्ट किया गया है। जातकों मे इनका मिश्रित विवरण मिलता है। वानप्रस्थी के रूप मे अरण्यवास करने और सन्यास-पद को प्राप्त कर मोक्ष की तैयारी की अवस्था के अलग वर्णन जातको मे नही किये गये हैं। कुछ लोग ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करने के पूर्व ही सासारिक जीवन से विरक्त हो अरण्यवासी बन जाते थे,[७५] तो कुछ लोग ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति पर,[७६] और कुछ लोग गृहस्थ-आश्रम के अपने दायित्वो को पूर्ण कर गृहत्यागी बनते थे।[७७] यद्यपि गृहस्थ प्राय: सन्तानलाभ के पश्चात् वन का मार्ग अपनाते थे, पर यदि इसके पूर्व ही उन्हें सासारिक जीवन से वैराग्य हो जाता, तो उनके गृहत्याग करने मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही था। कभी-कभी गृहस्थ अपनी पत्नी तथा सतान के साथ अरण्यवासी बन जाते थे।[७८] जातकों के इस विवरण मे और धर्मशास्त्र की व्यवस्था मे बड़ा साम्य दीखता है। बौधायन-धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करके अथवा गृहस्थ-आश्रम की समाप्ति पर या वानप्रस्थ-आश्रम से सन्यास मे प्रवेश किया जा सकता है।[७९] आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्त करके अथवा गृहस्थ जीवन से प्रव्रजित होने की छूट प्रदान करते हैं।[८०] परवर्ती धर्मशास्त्रकारो ने गृहस्थ-आश्रम की परिसमाप्ति के पूर्व प्रव्रज्या ग्रहण करने का निषेध किया है। मनु के मत मे जबतक व्यक्ति गृहस्थ-जीवन के दायित्वों से मुक्त नही हो जाता, उसे सन्यास का अधिकार नही है।[८१] इस निषेध का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि बुद्ध-युग मे गृहत्यागियो की अतिशय सख्या-वृद्धि के फलस्वरूप पारिवारिक जीवन मे अशाति एव अव्यवस्था फैलने लगी थी।

पालि-पिटक, जैन-सूत्र तथा धर्मशास्त्र मे परिव्राजक-जीवन के सविस्तार विवरण उपलब्ध होते है। इन धर्म-सम्प्रदायो में पर्याप्त दार्शनिक मतभेद था, परन्तु जहाँतक भिक्षु-जीवन के अनुशासन का सम्बन्ध है, इनमे पर्याप्त समानता दीखती है। दूसरी शताब्दी ई० पू० के पश्चात् देश मे सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित बौद्ध विहारो का निर्माण हुआ। इसके पूर्व तापस अथवा भिक्षु प्राय: राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, वाराणसी, कौशाम्बी, कपिलवस्तु आदि नगरो के निकट वृक्ष के नीचे, या गुहाओं अथवा उद्यानो मे वास करते थे। राजगृह मे तापसो के निवास योग्य कई सुन्दर एव उपयुक्त स्थल थे, जैसे— वेणुवन,[८२] गृद्ध्रकूट पर्वत,[८३] मोरनिवाप,[८४] सर्पिणिया नदीतटवर्ती परिव्राजकाराम,[८५] जीवकाम्रवन[८६] सीतवन,[८७] मद्दकुच्छि,[८८] तपोदाराम[८९] आदि। महापरिनिब्बाण-सुत्त मे गौतम न्यग्रोध, चोर-प्रपात, सप्तपर्णीगुहा तथा ऋषिगिरि के कालशिला को भी तापसों

के निवासयोग्य रमणीय स्थल कहा गया है। इन स्थलों के कारण राजगृह परिव्राजको के ठहरने का एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता था और वहाँ सदा परिव्राजकों का जमघट रहता था। कई परिव्राजक राजगृह के स्थायी निवासी बन गये थे। उरुवेला (बोधगया) मे निरजना (नीलाजन=फलगू) नदी के तटपर एक अति मनोहर, आश्रम था जहाँ स्नान-हेतु सुन्दर सोपानो का निर्माण किया गया था जो नदी के निर्मल जल मे झलकते रहते थे।[१०] वैशाली मे महावन, गोतमक-चैत्य, उदेन-चैत्य, चापाल-चैत्य, सीतम्बवन, सरन्दद-चैत्य तथा बहुपुत्त-चैत्य अति रमणीय स्थल थे।[११] महावन भगवान बुद्ध का प्रिय निवास-स्थान था और वे वहाँ कूटागारशाला मे वास करते थे।[१२] नालन्दा तथा चम्पा मे क्रमशः पवारिकाम्रवन[१३] तथा गर्गरा पुष्करणी (गग्गरा-पोक्खरणी)[१४] परिव्राजको के प्रिय निवास-स्थल माने जाते थे। श्रावस्ती मे प्रसिद्ध जेतवन था।[१५] इस प्रकार उन दिनो के नगरो के निकट अनेक मनोमुग्धकारी स्थल थे जो तापसो के निवास के सर्वथा उपयुक्त थे। इन स्थानो मे वास करने वाले तापस मध्याह्न-वेला मे नगर तथा ग्राम मे भिक्षान्न के लिए जाते थे।[१६] मध्याह्न-भिक्षा का विधान जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण, तीनो सम्प्रदायो के भिक्षुओ के लिए समान रूप से किया गया है। बुद्ध ने भिक्षुओ को मध्याह्न-भोजन के लिए उपासको के आमत्रण यदा-कदा स्वीकार करने की अनुमति दी और आज भी हिन्दू सन्यासियो मे यह प्रथा प्रचलित है। सम्भवत. यह अवस्था बुद्ध-काल मे भी रही होगी। बौद्धो ने बुद्ध के जीवन-काल मे ही कही-कही स्थायी विहार बनाना प्रारम्भ कर दिया था। इस क्रमी मे जेतवन में विहार-निर्माण कराया गया, परन्तु कुछ समय तक विहारो की संख्या अपर्याप्त बनी रही। बौद्ध-भिक्षु वर्षाकाल मे भी प्राय पर्णशालाओ मे ही वास करते थे।[१७] इन पर्णशालाओ के आकार-प्रकार का ज्ञान बराबर की गुफाओ और साँची तथा भारहुत के तोरणो मे उत्कीर्ण चित्रो से प्राप्त किया जा सकता है।

ऐसे परिव्राजको की सख्या भी नगण्य नही थी जो ग्रामो एव नगरो के निकट के आवासो को तपश्चर्या के लिए बाधक मानते थे। अतः वे सघन वन-प्रदेशो मे कुटिया बनाकर तापस-जीवन व्यतीत करते—वे अरण्य के शात वातावरण को ही अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए सर्वोत्तम मानते थे। दीघ-निकाय के कस्सप-सीहनाद-सुत्त तथा उदुम्बरीक सीहनाद-सुत्त, कतिपय जातको[१८] तथा सुत्त-निपात[१९] मे इन तापसो के जीवन का विवरण उपलब्ध होता है। वनो में उपलब्ध शाक, नीवार, मूल, फलादि आहार पर वे जीवन-निर्वाह करते थे। धर्मशास्त्र के अनुसार वानप्रस्थियो तथा सन्यासियो को वन मे प्राप्त होने वाले कन्द-मूल, फल

तथा अन्न पर जीवन-निर्वाह करना चाहिए।[100] ग्रामों तथा नगरों से सुदूर वनों के निवासी तापसो के लिए नियमित भिक्षाटन संभव न होने के कारण वे समय-समय पर ग्राम-नगरो मे मुख्यतया नमक और सिरका संग्रह करने आ जाते थे ।[101] वे प्राय: ग्राम-नगरों के निकट ही वर्षावास करते और पावस-ऋतु के अंत मे पुन: अरण्यों मे आवश्यक सामग्री के साथ चले जाते थे ।

विभिन्न मत के तापसो के वस्त्र तथा बाह्याकृति मे उनकी तपश्चर्या के अनुरूप न्यूनाधिक अन्तर स्पष्ट हो जाता था। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो के बीच तप के स्वरूप एवं उसकी उग्रता के सम्बन्ध में मतभेद था । कुछ कठोरतम तप के पक्षपाती थे, तो कुछ इसके विरोधी । जैन, आजीविक तथा अचेलक (अचेल = नग्न) कठोरतम तप का समर्थन करतेथे । निर्ग्रन्थो ने नग्नता-निवारण के लिए वस्त्र-धारण तक का विरोध किया । कई तापस चर्म, वल्कल, केशकम्बल, अश्वपुच्छ के कम्बल, उलूकपंख, घास इत्यादि के वस्त्र पहना करते थे ।[102] श्मशान-भूमि और कूडे के ढेर से प्राप्त चीथडो को जोडकर बनाया गया वस्त्र भी पहना जाता था ।[103] बौद्ध-भिक्षु भी पासुकूल वस्त्र धारण करते थे, परन्तु ग्राम-नगरो मे प्राय: जाते रहने के कारण उन्होने पासुकूल वस्त्र के स्थान पर मोटे कपडे का काषाय वस्त्र पहनना उपयुक्त समझा । बौद्ध मध्यममार्गी थे, इस कारण भी उन्होने वस्त्र के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की हो । धर्मशास्त्र के समान पालि-पिटक मे भी ब्राह्मण तापसो को वल्कलधारी तथा मृगचर्मधारी चित्रित किया गया है ।[104] वे काषाय वर्ण के पुराने और मोटे वस्त्र भी पहना करते थे ।[105] कोई तापस कैसा वस्त्र पहने यह इस बात पर निर्भर करता था कि वह किस प्रकार का तप पसद करता था। तापस-जीवन वस्तुत. सासारिक भोग-विलास का त्याग था, अत: संन्यासी के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह ऐसा वस्त्र धारण करे जिससे वह न तो आकर्षक ही दीखे और न उससे उसमे ससार के प्रति किसी प्रकार के मोह का आभास मिले । तापस को दूर से ही देखकर समझ लिया जाता था कि कोई गृहत्यागी आ रहा है । जातक कथाओ मे यह भी कहा गया है कि वह वल्कल तथा मृगचर्म पहनता, कभी-कभी अपनी जटाओ को सिर के ऊपर ग्रथी बनाकर बांधता और पीठ पर दो टोकरियो को डंडे मे बाँध कर लटकाये रहता ।[106] जैसा कि ऊपर कहा गया है, वानप्रस्थी और सन्यासी के अन्तर को केवल धर्मशास्त्र मे स्पष्ट किया गया है । तदनुसार वानप्रस्थी के लिए केश, श्मश्रु, मूँछ और नाखून बढ़ाने का विधान है,[107] पर संन्यासी अथवा भिक्षु के लिए केश, श्मश्रु, मूँछ और नाखून नही रखने का ।[108] हिन्दू-संन्यासी और बौद्ध-भिक्षु समान रूप से

सिर मुड़ाते रहे हैं। आजीविक तापस तो बालो को उस्तरे से साफ करने की अपेक्षा उखाड़ना पसद करते थे।

अलग-अलग सम्प्रदाय के तापस भिन्न-भिन्न प्रकार के तप करते थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, जीवन के प्रति अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुरूप तापसो द्वारा तप अपनाये जाते थे। जैन, आजीविक, तथा कतिपय ब्राह्मण-सन्यासी कठोर तप के पक्षपाती थे, पर बौद्ध मध्यममार्गी होने के कारण शरीर को कठोर क्लेश पहुँचाने के विरुद्ध थे। दीघ-निकाय,[१०९] मज्झिम-निकाय,[११०] तथा अगुत्तर-निकाय[१११] मे अचेल (नग्न) तापसो के तप के सविस्तार वर्णन किये गये हैं, जिनके अनुसार वे पैंतीस प्रकार के तप का आश्रय लेते थे। इनमे कई प्रकार के तप अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं, अत. इन सूत्रो के विवरण को इस विषय मे अतिरंजित माना जायगा। जातको मे आजीविको के घोर तप के विवरण मिलते है, जैसे— शीतकाल की भीषण शीतरात्रि मे खुले स्थान मे रहना और ग्रीष्मकाल मे दिनभर सूर्य की प्रखर किरणो से शरीर को तप्त करना।[११२] वानप्रस्थी भी इस प्रकार के तप करते थे,[११३] परन्तु आजीविक तापस उनसे कठोरतर तप मे विश्वास करते थे। उनके विषय मे उल्लेख मिलते है कि वे पैर के पजो पर आसन लगाना, चमगादड के समान हवा मे लटके रहना, काँटों पर बैठना, कण्टकशय्या पर शयन करना, पचाग्नि से शरीर को तपाना, जल-प्रवेश करना इत्यादि अनेक प्रकार के तपाचरण करते थे।[११४]

जटिल तापस—विनय-पिटक मे जटिल तापसों के तीन आश्रमो का उल्लेख मिलता है जो गयाक्षेत्र के उरुवेला (बोधगया) नामक स्थान पर नि जना नदी के तट पर स्थित थे। वहाँ पर तीन काश्यप-बधु अपने एक सहस्र अनुयायियो के साथ वास करते थे जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। ये काश्यप-बधु थे—उरुवेल काश्यप, नादि काश्यप और गया काश्यप जिनके क्रमशः पाँच सौ, तीन सौ और दो सौ शिष्य थे। इन मगधवासी ब्राह्मण तापसो के लिए अग एव मगध की जनता की बडी श्रद्धा थी।

जटिल शब्द का अर्थ है जटाधारी, अतः जटामय सिर के कारण इन तापसो को जटिल कहा गया है। ये वैदिक धार्मिक परम्परा के अनुसार यज्ञ तथा अग्नि-होत्र करते थे। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी जान पडते हैं। उरुवेल काश्यप प्रतिवर्ष एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान करते थे, जिसमे भाग लेने के लिए अंग तथा मगध की जनता बडी संख्या मे प्रचुर खाद्यान्न के साथ उपस्थित हुआ करती थी।[११५] जब हेमन्तऋतु मे अष्टका समारोह का अवसर समुपस्थित होता, तो जटिल

तापस हिमपातमय शीतरात्रियों में निरंजना नदी के जल में डुबकी लगाया करते।[116] उदान[117] तथा थेरीगाथा[118] के अनुसार जटिल तापस नदी-स्नान द्वारा शरीर-शुद्धि पर विश्वास करते थे। प्राचीन काल से हिंदू-समाज मे नदी-स्नान का महत्त्व रहा है। अग्नि और जल सभी पापो के विनाशक माने गये हैं। परन्तु बौद्ध वेद-ब्राह्मण-विरोधी होने के कारण नदी-स्नान तथा अग्नि-परिचर्या को अन्धविश्वासजन्य कर्म मानते थे और उन्होने इनका कई तरह से उपहास किया। बौद्धो के विवरण के अनुसार जब उरूवेल काश्यप ने अपने पाँच सौ अनुयायियों के साथ बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया, तो सभीने अपने सिर मुड़ा लिये और अग्निहोत्र की सामग्री को नदी मे फेक दिये।[119] इस विवरण से भी अग्निहोत्र की निरर्थकता की ध्वनि निकलती है।

काश्यप-बंधुओ के अनुयायी जटिल तापस बडी सख्या में एक ही स्थान पर वास करते थे, अतः यह अनुमान लगाना स्वाभाविक होगा कि बौद्धो और निर्ग्रन्थो के समान उनका जीवन भी सघीय था। श्री बेनी माधव बरुआ महोदय के मत मे जटिलो का पारस्परिक सम्बन्ध सामुदायिक न होकर घरेलू था।[120] बुद्ध-काल के तापस सम्प्रदायो में सामुदायिक जीवन-पद्धति अपनाने की प्रथा चली हुई थी, पर विभिन्न सम्प्रदायो के जीवन के विस्तृत विवरण उपलब्ध नही है। जटिलो के सामुदायिक जीवन के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान अल्प है।

१४

जैन-श्रमण तथा आजीविक तापस

जैन-संघ—बुद्ध के समान महावीर ने भी जैन-सघ का गठन सनातन-धर्म की सन्यास-परम्परा को आदर्श मान कर किया। प्रसिद्ध विद्वान् जकोबी ने बौद्ध तथा जैन भिक्षुओ की जीवन-पद्धति किस रूप मे तथा किस सीमा तक ब्राह्मण संन्यास-परपरा द्वारा प्रभावित हुई, इसका विद्वतापूर्ण विवेचन किया है।[१] बौद्ध एव जैन भिक्षुओ के आचार मे उल्लेखनीय साम्य है। दोनो के ही नियमित भिक्षाटन करने, कम-से-कम भौतिक वस्तुओ के उपयोग, अहिंसा तथा सत्य के आचरण और ब्रह्मचर्य एव अहिंसा के पालन तथा नृत्य-सगीत, मादक-द्रव्य, उच्चासन, शैय्या, माला एव कुसमय भोजन के निषेध-सम्बन्धी विचारो मे समानता है। दोनो मे जो प्रमुख भेद है वह साधन के स्वरूप के विषय में है—बौद्ध मध्यम-मार्गी रहे, पर जैन-श्रमण उग्रपथी।

जैन भिक्षु-जीवन के नियमो का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम ग्रथ है आचारंग-सूत्र, जिससे ज्ञात होता है कि जैन-श्रमण को अनिर्वायतः पच-महाव्रत की प्रतीज्ञा करनी पडती थी। ये पाँच महाव्रत थे—अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[२] इन पाँच महाव्रतो तथा बौद्ध-भिक्षुओ के अष्टागिक मार्ग की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ने दूसरे से प्रेरणा ली, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इन दोनो ने ब्राह्मण-सन्यासियो के पच-व्रत को आधार मान कर अपने-अपने सम्प्रदाय के भिक्षुओ के लिए नियमावली के विधान किये। जैन-धर्म मे अहिंसा का अर्थ होता है किसी भी रूप मे प्राणि-हिंसा-विरति। प्राणी के अन्तर्गत वनस्पति-जगत् भी समाहित माना जाता है। जैन-श्रमण के लिए कठोर शब्दो के प्रयोग का निषेध किया गया है। ऐसे सत्य-भाषण का भी निषेध है जिससे किसी व्यक्ति को कष्ट पहुँचने की सभावना हो। दोनो ही जैनियो की दृष्टि मे हिंसा की श्रेणी मे आते हैं।[३] सुनृत का अर्थ है सत्य-भाषण। अत· जैन-श्रमण को सदा सच बोलना चाहिए। सभी प्रकार के असत्य वचन से उसे दूर रहने का आदेश दिया गया है।[४] सत्य को कोमल एव संयत वाणी मे व्यक्त करना उचित है,[५] परन्तु इस प्रकार के सत्य-

भाषण का निषेध है जिससे किसी व्यक्ति की हानि सम्भावित हो। अतः जैन-श्रमण के लिए अहिंसक सत्य अपेक्षित माना गया है। उदाहरणार्थ, यदि किसी श्रमण के सामने से कोई व्यक्ति भागता हुआ निकल जाय और उसका पीछा करने वाला व्यक्ति पूछे—'हे श्रमण, क्या आपने किसी मनुष्य को इधर से भागते हुए देखा ?', तो उस अवस्था मे उसके लिए मौन रह जाना अथवा अस्वीकार करना उचित होगा।[६] अस्तेय के अनुसार किसी भी अन्य व्यक्ति की वस्तु उसकी अनुमति के बिना ग्रहण नही की जानी चाहिए।[७] इस महाव्रत से प्रतीत होता है कि भिक्षु को जो भी वस्तु उपलब्ध होती थी, वह भिक्षा के माध्यम से। चतुर्थ व्रत के अनुसार भिक्षु को मन, वचन तथा कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए,[८] अर्थात् इन्द्रिय-सुख का परित्याग। अपरिग्रह का तात्पर्य है समस्त इन्द्रिय-सुख मे आसक्ति का त्याग।[९]

जैन-श्रमण पावस-ऋतु को छोडकर वर्ष के सभी महीनो मे सदा भ्रमण-शील रहते थे, परन्तु उनके लिए सर्वत्र जाने का निषेध किया गया था।[१०] कठोर आत्म-नियन्त्रण का आचरण करने के कारण ऐसे स्थानो मे जाने का, जहाँ पर मन अथवा शरीर से नैतिक पतन की सम्भावना रहती, उनके लिए निषेध किया गया। इस प्रकार के स्थान थे— गीत-वादन-नृत्य-स्थान, आमोद-प्रमोद के स्थान आराम, उद्यान आदि।[११] उन अशात स्थलो मे जाने का भी निषेध किया गया जहाँ पर दगे, झगड़े अथवा विप्लव के कारण व्यक्तिगत असुरक्षा हो। वन-पर्वत भी चोर-डकैतो के आवास बन जाने के कारण श्रमणो के लिए निरापद नही माने जाते थे। बाजार और सार्थवाहो के ठहरने के स्थानो मे जाना भी सर्वथा सुरक्षित नही रहता था, क्योकि छद्मवेशी चोर अथवा डकैतों का भेदिया समझ कर श्रमण के पकडे जाने की सभावना रहती थी।

सामान्यतया श्रमणो के लिए एक स्थान में ठहरने की अधिकतम अवधि एक महीना निर्धारित की गयी है।[१२] केवल वर्षाकाल मे वे भी अन्य तापस सम्प्रदायो के समान एक स्थान मे ठहरते थे। जैन-सूत्रो मे वर्षावास को पज्जुसन कहा गया है।[१३] जैन-श्रमणो के द्वारा वर्षावास की प्रथा को अपनाने के दो प्रमुख कारण प्रतीत होते है—पहला तो यह कि बरसात मे अनेकानेक जीव-जन्तु भूमि पर संचरण करने लगते हैं जिससे मनुष्य के पैरो से कुचल कर उनके मर जाने की आशंका बनी रहती है, दूसरा यह कि घासों और जगली पौधो की वृद्धि तथा यत्र-तत्र पानी जमा हो जाने के कारण मार्ग ढूँढ़ना कठिन हो जाता है।[१४] अतः अहिंसाव्रती होने के कारण जैन-श्रमणो को किसी

उपयुक्त ग्राम अथवा नगर में वर्षावास करना अनिवार्य हो जाता था। वर्षा-वास के लिए वे ऐसा ग्राम अथवा नगर चुनते, जहाँ स्वाध्याय एवं तप के लिए उपयुक्त स्थान उपलब्ध होता, जहाँ अनायास भिक्षा मिल जाती और जहाँ विरोधी सम्प्रदाय के तापसो के आने की सभावना नही रहती। पावस-ऋतु के चार मास बीत जाने पर श्रमण अन्य स्थान के लिए प्रस्थान करते थे, पर यह देखना भी आवश्यक माना जाता था कि मार्ग जीव-जन्तुओ से मुक्त हो और सहयात्री ब्राह्मणो तथा श्रमणो की सख्या भी अधिक न हो। अनुकूल परिस्थिति के अभाव मे उन्हे मार्गशीर्ष मास के अन्त तक अपनी यात्रा स्थगित रखनी पडती थी।[१५]

उन दिनो जैन-श्रमणो के लिये आवासो की समुचित व्यवस्था नही थी, अतः उन्हें ठहरने के लिए गृहस्थो से उपयुक्त आवास की याचना करनी पडती थी।[१६] जैन-श्रमण के लिए सभामडप, देवस्थान, पारिवारिक आवास, उद्यान-गृह इत्यादि जहाँ भीडभाड रहती है, अनुपयुक्त माने गये हैं।[१७] विरोधी विचार के तापसो के सम्पर्क से दूर रहना पसद करने के कारण वे उन स्थानो मे नही ठहरते थे जहाँ विभिन्न सम्प्रदायो के तापस ठहरा करते। गृहस्थो के घरों मे ठहरने मे भी कठि-नाइयाँ पायी गयी।[१८] परिवार की युवती कन्याओ को देखकर श्रमणो के मन मे विकार उत्पन्न होने की सभावनाएँ रहती थी। कभी-कभी श्रमण पथभ्रष्ट भी हो जाते थे। यदि परिवार का कोई सदस्य किसी सक्रामक रोग से ग्रस्त रहता, तो उस परिवार में ठहरने वाला श्रमण भी उसका शिकार हो जा सकता था। श्रमणो का रहन-सहन प्राय गन्दा होता था, अत परिवार के सदस्यो की असुविधा का खयाल रखकर भी वे परिवार से दूर रहना उचित समझते थे। अतएव उनके आवास के लिए ऐसा स्थान उपयुक्त माना जाता था जिससे श्रमण-जीवन में किसी प्रकार का विघ्न नही होता और जहाँ ठहरना स्वीकार करने से पंच-महा-व्रत का उल्लघन भी नही हो पाता।[१९] शयन करने के लिए भी श्रमण को गृहस्थो से निर्धारित प्रकार के खाट की याचना करनी पडती थी।[२०] यदि एक ही कमरे मे अनेक श्रमणो को ठहरना पडता, तो वे अपने विस्तरो के बीच इतनी दूरी का अन्तर अवश्य रखते जिससे हाथ फैलाने पर वे एक दूसरे का अगस्पर्श नही कर पाते।[२१] अगस्पर्श द्वारा कामोद्दीपन की सभावना को ध्यान मे रखकर यह नियम बनाया गया प्रतीत होता है।

अपने अतिवाद के कारण जैन-श्रमणो ने उन्ही वस्तुओ का स्वामित्व स्वी-कार किया जो श्रमण-जीवन के लिए अत्यावश्यक थे, जैसे—चीवर, जूते, दंड तथा छत्र। यहाँ बौद्ध-भिक्षुओ के मध्यम-मार्ग तथा जैन-श्रमणो के अतिवाद

का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध-भिक्षुओ को अनेक वस्तुओं के उपयोग का अधिकार मिला। श्रद्धालु उपासक भिक्षुओ के उपयोग की वस्तुओं को भिक्षु-संघ को दान करते थे, जिनको सघ द्वारा भिक्षुओ में वितरित कर दिया जाता था—उनके लिए सुई तक अपने पास रखने की व्यवस्था की गयी थी, पर जैन-श्रमणो के लिए इस प्रकार की व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहा। उनको अपने लिए आवश्यक वस्तुओ को सीधे गृहस्थ से माँगना पड़ता था। कई वस्तुएँ ऐसी भी थीं जिन्हे वे अपने पास नही रखते थे, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें गृहस्थो से माँग लेते और काम पूरा करके पुनः वापस कर देते।[२१] उन्हें केवल चीवर, जूते, दंड तथा छत्र सदृश जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओ को ही अपने पास रखने का अधिकार प्रदान किया गया।[२२]

जैन-श्रमणो मे भी मुण्डित सिर रहने की प्रथा है, परन्तु वस्त्र के सम्बन्ध मे वे ब्राह्मण-सन्यासियो तथा बौद्ध-भिक्षुओ के समान काषाय-वस्त्र धारण नही करते हैं। वे या तो नग्न रहना पसन्द करते हैं अथवा श्वेत वस्त्र धारण करना।[२३] वस्त्रधारी अथवा श्वेताम्बर जैन-भिक्षु पूर्वकाल मे बौद्धो के समान फेके हुए चीथड़ो के वस्त्र पहना करते थे, परन्तु इसमे सुधार करके यह नियम बनाया गया कि श्रमण उपासको से आवश्यक वस्त्रो की याचना करें। उपासको द्वारा प्रदत्त वस्त्र बौद्ध-भिक्षुओ को सघ के माध्यम से उपलब्ध होता था, पर जैन-श्रमणो के लिए व्यक्तिगत-रूप मे गृहस्थो से वस्त्र माँगने की व्यवस्था की गयी।[२४] उपासक से वस्त्र की याचना करते समय श्रमण को यह स्पष्ट करना आवश्यक होता था कि उसे किस प्रकार का कपडा चाहिए, अर्थात् सूती, ऊनी या रेशमी अथवा सन या आरकूट इत्यादि[२५] का बना हुआ। उसे यह भी स्पष्ट कहना पड़ता था कि उसको अधोवस्त्र चाहिए अथवा उत्तरीय। बुद्ध ने भिक्षुओं को तीन चीवर रखने की अनुमति दी, पर महावीर ने केवल अधोवस्त्र अथवा उत्तरीय या दोनों की, लेकिन यदि कोई श्रवण दुर्बल या रुग्ण रहता तो इस नियम मे शिथिलता की जाती थी।[२६] शीतकाल मे चार वस्त्र उपयोग मे लाये जाते थे।[२७] भिक्षुणियो के लिए विशेष नियम बनाये गये और तदनुसार उनको सदा चार वस्त्र रखने की अनुमति दी गयी[२८]— दो वस्त्र तीन-तीन हाथ के, तीसरा दो हाथ का और चौथा चार हाथ का। जैन-श्रमण को उसी वस्त्र के लिए याचना करने का अधिकार दिया गया जिसे उपासक दान के लिए बनवाकर रखते थे।[२९] जैन-श्रमणों के पास प्रायः एक ही वस्त्र रहने के कारण एक विशिष्ट नियम यह भी बनाया गया कि वे आवश्यक होने

पर किसी साथी श्रमण से सीमित अवधि के लिये कोई वस्त्र माँगकर उसका उपयोग कर सकते थे ।[30] परन्तु बौद्ध-भिक्षुओ मे इसका निषेध हुआ क्योकि उनके लिए वस्त्र की व्यवस्था का भार संघ पर था । श्रमण को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि माँगा हुआ कपडा पाँच दिनो के अन्दर लौटा दिया जाय, वह किसी दूसरे को उपयोग के लिए न दिया जाय और उस कपडे का उपयोग ऐसी लापरवाही से न किया जाय कि वह बदरग हो जाय ।[31]

ऊपर कहा गया है कि जैन-श्रमण के लिए काषाय वस्त्र पहनने का निषेध था । उन्हे धुले हुए, सुगधित अथवा मूल्यवान् वस्त्र पहनने की भी अनुमति नही दी गयी ।[32] श्रमण-जीवन के नियमानुसार वे प्राय· बिना धुले वस्त्र पहना करते थे, परन्तु आवश्यकता पडने पर अल्प-जल मे वस्त्र साफ किये जा सकते थे ।[33] वस्त्र धोने के पश्चात् सूखने के लिए जहाँ-तहाँ फैलाने का निषेध किया गया है । स्तम्भ-सदृश ऊँचे स्थान अथवा अस्थिर वस्तु पर वस्त्र फैलाने के क्रम मे स्वयमेव गिर पडने का तथा उस वस्तु के गिरने से दबकर किसी प्राणी की मृत्यु हो जाने की सम्भावना रहती है, और ऐसा भी हो सकता है कि यदि वहाँ जीव-जन्तु हो तो वस्त्र मे दबकर मर जायँ । अत वस्त्र फैलाने के सम्बन्ध मे यह नियम बना ।[34]

श्रमण को भिक्षापात्र भी उपासक से ही माँगना पडता था ।[35] मूल्यवान् धातु या पत्थर के बने अथवा अलकृत पात्र अग्राह्य माने गये ।[36] यदि उपासक किसी श्रमण-विशेष के लिए पात्र-क्रय करता, तो वह भी अग्राह्य माना जाता ।[37] न तो उपासको को किसी प्रकार की आर्थिक असुविधा हो, और न श्रमण-जीवन के आदर्श का ही विरोध हो, इस विचार से कास्य और मिट्टी सदृश अति सामान्य पदार्थ से निर्मित पात्रो की याचना करने का नियम बनाया गया ।[38] जो पात्र उपयोग मे लाया जा चुका होता या जिसको किसी ने छोड़ दिया होता और जिसको लेनेवाला कोई दूसरा तापस न होता, इस प्रकार का पात्र श्रमण के लिए ग्राह्य माना जाता था ।[39] श्रमण को अपने पास एक पीने का पात्र और एक भिक्षा-पात्र रखने का अधिकार दिया गया, अत· उपासक से याचना करते समय कौनसा पात्र चाहिए यह बतलाना उसका कर्त्तव्य माना जाता था ।[40] पात्र ग्रहण करते समय उसका यह भी कर्त्तव्य हो जाता था कि वह उसकी भली-भाँति परीक्षा कर लेता कि उसमे कही जीवित प्राणी, बीज या घास तो नही है । यदि पात्र के भीतर इनमे से कोई दिखलायी पड जाता, तो वह उन्हे निकाल कर पात्र को अच्छी तरह पोछ डालता ।[41] पात्र के भींगे होने पर उसे पोछा नही जाता था । श्रमण-जीवन के इन नियमो से यही झलकता है कि

जैन-श्रमण के प्रत्येक कार्य मे अहिंसा की भावना को प्रमुखता दी गयी।

आजीविक तापस—आजीविक तापसो का जीवन भी बौद्धो एवं निर्ग्रन्थो के समान सामुदायिक था। उनके रहने के स्थान को विनय-पिटक में आजीविक-सेय्य[४२] कहा गया है, जो उवासगदसाओ के आजीवियसभा (आजीविकसभा)[४३] का रूपान्तर है। जब आजीविक सम्प्रदाय के प्रधान मक्खलि गोसाल पोलासपुर गये, तो उन्होने सर्वप्रथम आजीविक-सभा मे जाकर अपने भिक्षापात्र को रखा। इससे प्रतीत होता है कि आजीविक तापसो के जीवन का नियमन संघीय नियमों द्वारा होता था।

आजीविक तापस कठोरतम तप के समर्थक थे और वे दिगम्बर जैन-श्रमणो के समान नग्न रहा करते थे। बौद्ध-ग्रन्थो मे उनको नग्न कहा गया है[४४] और अजन्ता के एक भीत्ति-चित्र मे भी पूर्ण काश्यप नग्न दिखलाये गये हैं। जैन-श्रमण प्राय अधोवस्त्र धारण करते थे, पर आजीविक पूर्ण नग्न रहा करते थे। महावीर और गोसाल कई वर्ष एक साथ रहे, अत. महावीर के इस सम्बन्ध मे जो विचार बन गये उसमें गोसाल के दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा, ऐसा होर्नल तथा वशाम महोदय मानते हैं।[४५]

पालि-पिटक मे आजीविको के तप-सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे नि.सन्देह अतिरजित हैं। बौद्धो के अनुसार आजीविक तापस नाना प्रकार के घृणित तप करते थे। कठोर तप के प्रति अपने स्वाभाविक विरोध के कारण बौद्धो के तप को यथासम्भव निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया। आजीविको की भी समाज मे पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। गोसाल के लिए लोगो के हृदय मे श्रद्धा का अभाव नही था, क्योंकि वे अपने समय के प्रमुख धर्मोपदेशको मे थे। यह मान लेना सर्वथा सही नही है कि आजीविक तापस अशुचि-तप के पक्षपाती थे। जम्बुक तापस को अशुद्धि कर्म करने के कारण ही आजीविक सम्प्रदाय से निष्कासित कर दिया गया था।[४६] उसके विषय मे कहा जाता है कि वह नग्न रहा करता था और भिक्षाटन के लिए न जाकर मलमूत्र खा जाता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आजीविक तापस कठोरतम तप के समर्थक होने पर भी इस तरह के तप को प्रश्रय देने के पक्षपाती नही थे जिसे समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।

१५

बौद्ध भिक्षु-संघ

संघ-जीवन का क्रमिक विकास—सुव्यवस्थित बौद्ध भिक्षु-संघ के प्रादुर्भाव का मनुष्य के धार्मिक जीवन मे बडा महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षुओ के संघ-जीवन का विकास धीरे-धीरे हुआ। बौद्ध-धर्म के शैशव काल मे न तो सुव्यवस्थित सघ-जीवन था और न सघ-जीवन के लिए उपयुक्त विहारो का ही अस्तित्व। वस्तुत. बौद्ध-भिक्षुओ के लिए स्थायी विहारो के निर्माण के क्रम का प्रारम्भ दूसरी शताब्दी ईसवी सन् मे किया गया। आरम्भ मे भगवान बुद्ध ने अन्य तापस सम्प्रदायो से मिलता-जुलता मार्ग अपनाया। वस्तुतः उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओ के लिए जो नियम बनाये, वे तत्कालीन तापसो की जीवन-पद्धति से प्रभावित थे। बौद्ध-भिक्षु भी अन्य तापसो के समान केवल वर्षा-ऋतु मे उपयुक्त आवासो का आश्रय लिया करते थे, शेष महीनो मे वे भ्रमणशील रहा करते। प्रकृति की शरण मे निवास करना ही भिक्षु-जीवन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना गया था। उपसम्पदा की दीक्षा देते समय भिक्षु को सम्बोधित कर कहा जाता था कि इस धर्म के अनुयायी को वृक्षमूल को ही आवास बनाना पडेगा और आजीवन इस आदर्श का पालन करना होगा[१]। पालि-पिटक मे इस बात के उल्लेख मिलते है कि बौद्ध-भिक्षु अरण्य, वृक्षमूल, पर्वत, कन्दरा, श्मशान-भूमि, खुले मैदान तथा पुआल के ढेर पर रहा करते थे[२]; परन्तु श्मशान-भूमि तथा पुआल के ढेर पर रहने के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करना सदिग्ध प्रतीत होता है। भिक्षुओ द्वारा पर्णशाला[३] बनाकर अरण्यवास करने तथा पर्वत-कन्दराओ[४] मे निवास करने के निश्चित प्रमाण मिलते हैं।

भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया, किन्तु उन्होने आरम्भ मे भिक्षुओ के लिए अरण्यवास की आवश्यकता को स्वीकार किया था। जिस प्रकार ब्राह्मण-तापस वन मे तथा नदी-तट पर अपने आश्रमो की स्थापना करते थे, उसी प्रकार बौद्ध-भिक्षु भी एकातवास के लिए अरण्य मे तथा नदी-तट पर अपने लिए पर्णशालाएँ बनाते। मन की एकाग्रता के लिए जनाकीर्ण स्थानो

की अनुपयुक्तता के कारण ही भिक्षु अरण्यो मे कुटिया बनाकर रहते थे, जहाँ उनको अपनी साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त वातावरण उपलब्ध होता था। अरण्यवास की अवधि मे भिक्षु को अपने लिए निर्धारित नियमों का समुचित पालन करना पड़ता[५] था—वह यथासमय शय्यात्याग करता, भिक्षापात्र को झोले मे डालकर कंधे से लटका लेता, पीठ पर उत्तरासंग डाल लेता, चप्पल पहनता, थाली तथा अन्य पात्रो को यथास्थान रखता और द्वार बद करके भिक्षाचर्या के लिए नियमित रूप से प्रतिदिन निकल जाता। अपनी कुटिया के आस-पास के अरण्यवासियो से तथा निकटवर्ती ग्राम के निवासियों से जो थोड़ा-बहुत भोजन भिक्षा मे उपलब्ध होता, उसी से वह जीवन-निर्वाह करता। कई भिक्षु अरण्य मे अथवा नदी-तट पर निर्मित पर्णशाला मे निवास न करके किसी एकात ग्राम मे ही समय व्यतीत करते। धम्मदिन्ना नामक भिक्षुणी ने एक ग्राम मे एकातवास किया था।[६] एक बार सारिपुत्त तथा मोग्गलान ने कोकालिक नामक अपने एक मित्र के घर मे एकात वर्षावास किया था।[७] इस प्रकार के एकातवास का लक्ष्य था—समाधि की अवस्था की उपलब्धि के लिए मानसिक एकाग्रता की साधना।

बौद्ध-धर्मावलम्बियो का सख्या-वृद्धि के साथ भिक्षुओ के जीवन मे भी कई परिवर्तन हुए। उनके एकातवास तथा भ्रमणरत जीवन के स्थान पर धीरे-धीरे सुव्यवस्थित सघ-जीवन ने ले लिया। श्रद्धालु बौद्ध उपासको ने भिक्षुओ के निवास के लिए आरामो का दान आरम्भ कर दिया।[८] दान मे प्राप्त आरामो का उपयोग वर्षावास के लिए किया जाने लगा, परन्तु शीघ्र ही ये आराम स्थायी आवासो मे परिवर्तित हो गये। ऐसे आराम जो ग्राम तथा नगर के न तो अति निकट ही थे और न अति दूर, वे भिक्षुओ के लिए आदर्श माने गये, क्योकि वहाँ जाने मे न तो भक्तजनो को किसी प्रकार की असुविधा होती थी और न भिक्षुओ को चारिका मे। न तो इन स्थानो मे दिन में भीड-भाड रहती और न रात्रि मे कोलाहल होता। इनको हवा के झोको से भी सुरक्षित बनाया जाता था।[९] इन स्थानो मे वास करने वालो पर अनायास लोगो का ध्यान नही जाने के कारण इनको एकातवास के सर्वथा उपयुक्त माना गया। जब भिक्षु-सघ को इस प्रकार के आरामो पर, जो एकात-साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त थे, स्वामित्व प्राप्त हो गया, तो अरण्यवास की अनिवार्यता स्वत: समाप्त हो गयी।

भिक्षुओं के आवासीय आरामों का नाम पड़ा—संघाराम। श्रद्धालु उपासको को केवल सघारामों का निर्माण करके ही सतोष नही हुआ, उन्होंने

विहारो का भी निर्माण कराया। भिक्षु-संघ के लिए विहार-निर्माण के लिए उन्होने मुक्तहस्त दान दिया। श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के विषय मे विख्यात है कि उन्होने विहार-निर्माण मे ५४ कोटि कार्षापण व्यय किये।[१०]

जब भिक्षुओ के आवास के लिए पर्याप्त विहारों का निर्माण हो गया, तो भिक्षु-सघ को उनकी समुचित व्यवस्था की समस्या का सामना करना पडा। बौद्ध उपासक विहारो का निर्माण करके सघ को दान कर दिया करते थे, अत. सभी सघारामो का स्वामित्व भिक्षु-सघ के हाथो मे था। प्रत्येक भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सघ पर था। इस कार्य के लिए सघ द्वारा एक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी, जो प्रत्येक भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था करता।[११] पर्याप्त सख्या मे विहारो का निर्माण हो जाने पर भी भिक्षु सदा एक ही स्थान मे निवास नही करते थे। वे केवल वर्षाकाल मे किसी विहार-विशेष अथवा आराम मे वास करते थे, अन्यथा वे यत्र-तत्र घूमा करते और जिस किसी भी विहार मे पहुँच जाते, वहाँ जितने दिन वे निवास करना चाहते, उनके रहने की व्यवस्था हो जाया करती थी।

जब कालान्तर मे भिक्षु स्थायी रूप से विहारो मे वास करने लगे और उनका जीवन सुव्यवस्थित, स्थिर तथा नियमित हो गया, तो वरिष्ठ भिक्षुओ के मन मे यह विचार आया कि यदि समान विचार रखने वाले भिक्षुओ को एक ही आवास मे रखा जाय, तो वे विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा सम्बद्ध विषय मे विशेष प्रगति कर सकेंगे। विरोधी विचार वालो मे कटु वाद-विवाद हो जाने की सभावना रहती है। अत भिन्न-भिन्न विचार के भिक्षुओ का वर्गीकरण करके उन्हे विभिन्न आवासो मे स्थान दिया जाने लगा।[१२]

भिक्षु-जीवन के उपयुक्त पात्र—बौद्ध-सघ के आदि-काल मे उन सभी व्यक्तियो को भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी जाती थी जो इसके लिए कृतसंकल्प होते। केवल स्त्री-जाति को इस अधिकार से वचित किया गया था, परन्तु कालान्तर मे भगवान् बुद्ध को अनुभव हुआ कि सभी वर्ग के लोगो को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देना भिक्षु-सघ के लिए अहितकर होगा। जिन लोगो के संस्कार उत्तम रहते है वे ही प्रायः धर्मनिष्ठ हुआ करते है। भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों के अनुसार आचरण करने की पात्रता सभी लोगो मे नही थी, अत. उन लोगो का सघ-प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया जो इसके लिए अनुपयुक्त पाये गये। जिस अपराधी व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन समाज-विरोधी कर्मों मे व्यतीत हुआ हो, उसका चित्त

आध्यात्मिक साधना मे नही लग पाता है, अतः चोर-डाकू को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने का निषेध कर दिया गया।[११] अगुलिमाल को दस्यु होने पर भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी गयी, परन्तु विशेष परिस्थितिवश ऐसा किया गया। लुब्धक और मत्स्यघातक सदा हिंसक कर्म मे रत रहने के कारण बुद्ध के अहिंसा-धर्म को ग्रहण करने के अयोग्य सिद्ध हुए। सारिपुत्त ने इस वर्ग के लोगों को धर्मोपदेश दिया, तो उन्होंने श्रद्धावश उसको श्रवण कर तदनुसार आचरण करने का प्रयास तो किया, पर वे उसमें असफल रहे।[१४] मानसिक स्वस्थता के साथ शारीरिक स्वास्थ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक समझ कर सक्रामक रोगियों को भिक्षु-जीवन के अनुपयुक्त माना गया। संक्रामक रोगी अन्य भिक्षुओं को भी रुग्ण बना देता, अतः कुष्ठ तथा यक्ष्मा सदृश रोगो से ग्रसित व्यक्तियो के भिक्षु-सघ-प्रवेश पर प्रतिबध लगा दिया गया।[१५]

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भगवान् बुद्ध को नयी-नयी समस्याओं का सामना करना पडा। उनके सघ मे अनेक समाज-विरोधी तत्त्व भिक्षु-धर्म की दीक्षा लेकर प्रवेश पाने लगे। इससे समाज मे भिक्षु-सघ की निंदा होने लगी। भगवान् बुद्ध ने विचार किया कि उनके भिक्षु-सघ को यदि समाज में समुचित सम्मान, आदर तथा भक्ति का स्थान पाना है, तो उस प्रकार के लोगो को भिक्षु-धर्म में दीक्षित करना उचित नही होगा, जिनके कारण संघ के प्रति जन-भावना क्षुब्ध हो जाय। यदि उन लोगो को जिन्हें समाज शंका की दृष्टि से देखता है, भिक्षु-सघ मे स्थान दिया गया, तो सघ की बडी बदनामी होगी और बौद्ध-भिक्षुओं के धर्मोपदेशो का जनता मे अनुकूल प्रभाव नही पडने से धर्म-प्रचार का कार्य शिथिल पड जायगा—ऐसा सोचकर बुद्ध ने धर्म-प्रचार के लिए नीति निर्धारित करने में जनता की मनोवृत्ति का पूरा ध्यान रखा। उन्होने उन व्यक्तियो का सघ-प्रवेश निषिद्ध कर दिया जिनको भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने से समाज मे सघ-विरोधी भावना पनपने की संभावना हो सकती थी अथवा किसी अन्य के अधिकार का उल्लंघन होता था। चोर तथा दस्यु को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने से वंचित करने का कारण उनमे बुद्ध की शिक्षा के ग्रहण एवं पालन की क्षमता का अभाव-मात्र नही था। ये ऐसे समाज-विरोधी तत्त्व थे जिनसे जनता तो तंग रहती ही थी, शासन को भी पर्याप्त परेशानी होती थी। जब सभी व्यक्तियों के लिए सघ-प्रवेश का द्वार उन्मुक्त था, तो अनेक चोर-डाकू दंड से बचने के लिए भिक्षु होने लगे। इससे समाज मे भिक्षु-सघ के विरुद्ध वातावरण का निर्माण होने लगा, साथ ही वैधानिक प्रश्न भी उठ खडा हुआ। अतः सभी दृष्टियो से अपराधकर्मियो को भिक्षु-धर्म की दीक्षा न देना बौद्ध-

संघ के लिए श्रेयस्कर माना गया। ऋणी तथा दास को भिक्षु-धर्म मे दीक्षित करने से अन्य व्यक्ति के अधिकार का हनन होता था, इसलिए इनके भी बौद्ध-संघ मे प्रवेश पाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।[१६] भगवान् बुद्ध को यह भी देखना था कि कोई ऐसा व्यक्ति भी भिक्षु न हो जाय जिससे संघ को राज्य का कोप-भाजन बनना पडे, अतः उन्होने राजसेवको को भिक्षुधर्म की दीक्षा देने का निषेध किया।[१७] उपसम्पदा की दीक्षा देते समय भिक्षु से यह प्रश्न किया जाता था कि वह राजसेवक है अथवा नही और जब नकारात्मक उत्तर मिलता तब उसे दीक्षा दी जाती।[१८]

भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशो को श्रवण कर अनेक अल्पवय नवयुवक भिक्षु हो गये जिससे उनके माता-पिता को असीम सताप हुआ। जिस माता-पिता के वृद्धावस्था का संबल उनका एकमात्र पुत्र प्रव्रजित हो जाता, उनका हृदय विदीर्ण होना नितात स्वाभाविक था। एक श्रेष्ठिपुत्र के भिक्षु हो जाने के फल-स्वरूप उसके माता-पिता को बुढ़ापे मे जीविका के लिए भिक्षा का सहारा लेना पडा।[१९] स्वयं भगवान् के परिवार मे एकमात्र पुत्र के भिक्षु हो जाने के कारण माता-पिता के कष्ट का उदाहरण मिलता है। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम के संसारत्याग के पश्चात् उनके पिता के शोक-सतप्त हृदय का सहारा राहुल थे, परन्तु जब राहुल ने भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा ले ली, तो वृद्ध शुद्धोदन का अतिम सहारा भी उनसे दूर हो गया। अत्यन्त शोकाकुल होकर उन्होंने भगवान् से एक ही याचना की कि भविष्य मे किसी भी व्यक्ति के एकमात्र पुत्र को उसके माता-पिता की सहमति के बिना भिक्षु-धर्म की दीक्षा न दी जाय। भगवान् बुद्ध ने अपने पिता के इस निवेदन को स्वीकार कर लिया।[२०] मज्झिम-निकाय के रट्ठपालसुत्त से भी विदित होता है कि एकमात्र संतान के माँ-बाप अपने पुत्र के भिक्षु-धर्म मे दीक्षित होने के विपक्ष में रहते थे। रट्ठपाल के पिता ने अपने पुत्र को प्रव्रज्या-मार्ग से विरत करने के लिए भिक्षु-जीवन के कष्टो का वर्णन किया। उन्होने अपने पुत्र को कहा—'हे तात, तुम हमारे एकमात्र पुत्र हो जिसका पालन-पोषण हमने अत्यन्त प्यार से तथा सभी सुखो का उपभोग कराते हुए किया है; तुमने कभी दुःख सहा नही, फिर भिक्षु-जीवन की कठोरता को तुम किस भाँति सहन करोगे?' एकमात्र पुत्र को उसके पिता की इच्छा के विरुद्ध भिक्षु-धर्म मे दीक्षित नही करने का एक कारण यह भी था कि ऐसी सन्तान को धर्मकार्य के लिए प्रदान करने की प्रथा नही थी। दूसरा कारण यह था कि एकमात्र पुत्र के प्रव्रजित हो जाने से उसके वंश का अंत ध्रुव हो जाता। जब-

तक इन समस्याओं पर विचार नहीं किया गया, उस समय तक एकमात्र पुत्र को भी भिक्षु-धर्म की दीक्षा मिलती रही, परन्तु जब इन पर समुचित विचार-विमर्श हुआ, तो अपने माता-पिता की अनुमति के बिना उसके भिक्षु होने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।[21] भगवान् बुद्ध का धर्म अहिंसक था, अतएव किसी के एकमात्र पुत्र को भिक्षु बनाकर उसके माँ-बाप को मार्मिक दुःख पहुँचाने मे कोई औचित्य नही था।

प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ—बौद्ध-भिक्षु बनने के लिए प्रव्रज्या और उपसम्पदा की दीक्षा लेना अनिवार्य होता है। आरम्भ में भगवान् बुद्ध स्वयं ही प्रव्रज्या और उपसम्पदा की दीक्षाएँ देते थे। भिक्षु-धर्म की दीक्षा लेने के लिए भगवान् के निकट उन व्यक्तियों को भिक्षुगण पहुँचा देते थे जो इसके लिए कृत-सकल्प रहते। इस व्यवस्था मे सबसे बडा दोष यह था कि दीक्षा लेने के लिए दूर-दूर से प्रत्याशियो को बुद्ध के पास जाना पडता था, जिससे मार्ग तय करने मे काफी समय नष्ट हो जाया करता था। अतएव बुद्ध ने कहा—'हे भिक्षुओ, अब आपलोग स्वयमेव विभिन्न प्रदेशो मे तथा विभिन्न देशो मे प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षाएँ दिया करें।'[22] इस निर्णय ने भगवान् बुद्ध के सदेशो के प्रसार-मार्ग को प्रशस्त कर दिया, क्योंकि अब विभिन्न प्रदेशों में तीव्र-गति से भिक्षु-सघो की स्थापना होने लगी और सघ के माध्यम से बौद्ध-धर्म का जनता मे प्रचार होने लगा।

भिक्षुओं को प्रव्रज्या एव उपसम्पदा की दीक्षाएँ देने की छूट देना सर्वथा दोषमुक्त निर्णय नही हुआ। इसके फलस्वरूप दो प्रमुख समस्याएँ उपस्थित हुई। एक तो यह कि अयोग्य भिक्षुओं ने उन लोगो को भी दीक्षित कर दिया जो इसके पात्र नही थे। दूसरी यह कि वरिष्ठ भिक्षुओ मे अपने शिष्यो तथा अनुयायियों की संख्या-वृद्धि करने की प्रवृत्ति हो गयी। किसी भी बडी सस्था मे इस प्रवृत्ति की विद्यमानता अस्वाभाविक नही मानी जायगी, परन्तु बौद्ध-सघ के लिए यह अहितकर होता। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नेतृत्व के लिए प्रति-स्पर्धा होने लगती है, जिसका परिणाम संस्था के लिए घातक होता है। भगवान् बुद्ध इस तथ्य के प्रति सजग थे, अतः उन्होने यह व्यवस्था दी कि जो व्यक्ति दस वर्षों तक भिक्षु रह चुका हो, वही उपसम्पदा की दीक्षा देने का पात्र हो सकता है; परन्तु यह भी सदोष सिद्ध हुई, क्योंकि अनेक भिक्षुओं ने दस वर्षों की अवधि तो पूर्ण कर ली थी पर उनमें योग्यता का अभाव था। कभी-कभी तो ऐसा भी देखने को मिलता कि गुरु की अपेक्षा शिष्य ही अधिक योग्य

रहता, अत: इस विषय मे बुद्ध का यह अतिम निर्णय हुआ कि उपसम्पदा की दीक्षा देने के अधिकारी केवल वे ही भिक्षु माने जा सकते हैं जिन्होने दस वर्षों की अवधि पूर्ण करने के साथ वास्तव मे आध्यात्मिक ज्ञान भी प्राप्त किया हो।[२३] इस प्रकार भगवान् बुद्ध अपने सघ के हितो के प्रति बडे सजग रहे। उनका यह लक्ष्य रहा कि ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे सघ को भेद, पारस्परिक वैमनस्य तथा दलगत सघर्ष से बचाया जा सके, क्योकि इन्ही दोषो के कारण किसी भी सस्था का सर्वनाश होता है। भगवान् बुद्ध ने सघ को ऐसा सुविचारित विधान दिया जिसमे नवागन्तुको के मार्गदर्शन का भार उन भिक्षुओ को सौपा गया जो सच्चे अर्थ मे महान् थे और जिनको भिक्षु-सघ के हितो की रक्षा करने के लिए विश्वस्त समझा गया।

आरम्भ में प्रव्रज्या और उपसम्पदा, दोनो दीक्षाएँ एक-साथ दी जाती थी। इन दीक्षाओ के लिए किसी व्यक्ति की वय क्या हो इसका कोई नियम न था। बाद मे नियम बनाया गया कि प्रव्रज्या[२४] की दीक्षा १५ वर्ष की वय में दी जाय और उसके पाँच वर्ष पश्चात् बीस वर्ष की वय में उपसम्पदा[२५] की। प्रव्रज्या की दीक्षा के साथ भिक्षु-जीवन का श्रीगणेश होता था और व्यक्ति पूर्णरूप से भिक्षु तब हो जाता था जब उसे उपसम्पदा की दीक्षा मिल जाती। इन दोनो दीक्षाओ के मध्य की पाँच वर्षों की अवधि परीक्षा-काल थी, जिसमे अन्तेवासी भिक्षु, अर्थात् श्रामणेर पूर्ण भिक्षु-पद को प्राप्त करने की तैयारी करता।[२६] प्रव्रज का अर्थ होता है अग्रसर होना, अर्थात् गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर अरण्यवासी बनना। पालि शब्द पब्बज्जा (प्रव्रज्या) से गृहस्थ के भिक्षु-जीवन प्रवेश का बोध होता है। आश्रम-धर्म में अरण्यवास की दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(१) वानप्रस्थ अथवा वैखानस की और (२) सन्यास या भिक्षु-आश्रम की।[२७] वानप्रस्थ-आश्रम को सन्यास की पूर्वावस्था माना गया है। अरण्यवासी वानप्रस्थी के जीवन के प्रमुख नियम है—अध्यात्म-साधन मे रत रहना, वृक्षमूल मे वास करना तथा गृहस्थो से प्राप्त भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह करना।[२८] वानप्रस्थ की अवस्था को लाँघकर जब व्यक्ति संन्यासी बन जाता है, तो वह अपने सिर का मुंडन करवा लेता है, काषाय वस्त्र धारण करता है और पास मे रखता है, एक भिक्षापात्र।[२९] संन्यासी समस्त सासारिक बधनो को तोड डालता है—वह पूर्णरूप से अनासक्त-जीवन व्यतीत करता है। उसका एकमात्र लक्ष्य रह जाता है—आत्मज्ञान की खोज। जब हम बौद्ध एवं ब्राह्मण तापस-जीवन की तुलना करते हैं, तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं

कि बौद्ध-भिक्षु के पाँच वर्षों का श्रामणेर-जीवन वस्तुतः वानप्रस्थ-आश्रम का रूपान्तर है। उपसम्पदा की दीक्षा सन्यास-दीक्षा के समकक्ष है। धर्मशास्त्र मे ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति पर अथवा गृहस्थ-आश्रम से गृहत्याग के विकल्प को स्वीकार किया गया है।[३०] अतएव ब्रह्मचर्य-आश्रम को संन्यास की अनिवार्य पूर्वावस्था माना गया। बौद्ध भिक्षु-जीवन मे ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ को प्रव्रज्या की अवधि मे समाहित कर दिया गया। पाँच वर्षों की इस अवधि मे प्रव्रजित भिक्षु श्रामणेर कहलाता था और उसके लिए निर्धारित अधिकाश नियम वे ही थे जिनका आचरण ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी करते थे। वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास—इन तीनो आश्रमो को आधार मान कर भिक्षु-जीवन का स्वरूप निश्चित किया। ब्रह्मचारी[३१] तथा श्रामणेर[३२] के लिए निर्धारित कर्त्तव्यो मे प्रर्याप्त समानता दीखती है। दोनों के लिए प्राणि-हिंसा, असत्य-भाषण, मद्यपान, असमय-भोजन और पुष्प-माला-गध तथा उच्चासन-शैय्या के प्रयोग इत्यादि निषिद्ध माने गये हैं।

उपसम्पदा की दीक्षा के पूर्व पाँच वर्षों के श्रामणेर-जीवन की अनिवार्यता की प्रथा का विकास धीरे-धीरे हुआ। इस प्रथा के पूर्व प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाएँ देने के पहले परिवास[३३] नामक चार महीनो के परीक्षाकाल की पारीपाटी प्रचलित थी। परिवास की व्यवस्था अन्यतैर्थिक परिव्राजको के लिए की गयी थी। श्रेणिय, वत्सगोत्र तथा सभिय ने जब भिक्षु-धर्म मे दीक्षित होने की अपनी इच्छाएँ व्यक्त की, तो उन्हें कहा गया—'हे भन्ते जिन अन्यतैर्थिको को इस धर्म-विनय की दीक्षा लेने की अभिलाषा होगी उन्हें चार महीनो के परिवास-जीवन का पालन करना होगा।'[३४] आरम्भ मे परिवास की प्रथा का भी अभाव प्रतीत होता है, क्योकि जटिलों को बिना किसी प्रकार के परीक्षा-काल के भिक्षु-धर्म की दीक्षा दी गयी।[३५] सभवतः जब यह अनुभव किया गया कि जो लोग बुद्ध की शिक्षाओ के विपरीत विचार के अनुयायी रहते थे, उन्हें बौद्ध-धर्म के आदर्शों के अनुरूप आचरण करने मे कुछ समय लग जाता था, तो इस विचार से चार महीनो के परिवास की व्यवस्था की गयी कि ऐसे लोगो को नये धर्म के अनुकूल मानसिक वातावरण के निर्माण का अवसर दिया जाय। इस सम्बन्ध मे कहा गया है कि परिवास की अवधि में नवागन्तुक भिक्षु को ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे अपने पूर्व-मत के विरुद्ध बातों को सुनकर उसके मन मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, अपितु आनन्द के भाव उठें, साथ ही उसे बुद्ध-विरोधी बातें असह्य हो।[३६]

भिक्षु-संघ के शैशवकाल मे प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाओं के सम्बन्ध में विशिष्ट नियम भी नही थे—दोनों दीक्षाएँ एक-साथ दे दी जाती थी। बुद्ध के पाँच आदि शिष्यो—अचेल काश्यप,[३७] पुकुस्वाति (पुक्कुसाति),[३८] काशिभारद्वाज[३९] तथा नन्द गोपालक[४०] को प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की दीक्षाएँ एक साथ दी गयी। इन दीक्षाओ के नियम अति सामान्य थे—भिक्षु को केवल अनिवार्य काषाय चीवरो तथा भिक्षापात्र के साथ उपस्थित होना पडता था।[४१] बुद्ध के पाँच आदि शिष्य ऋषिपत्तन (सारनाथ) मे भगवान् के धर्मोपदेश के श्रवण-मात्र से भिक्षु-धर्म मे दीक्षित माने गये।[४२] इसी तरह वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश, उनके चार मित्र तथा पचास वाराणसीवासी भिक्षु-धर्म मे दीक्षित हो गये।[४३] जैसा कि ऊपर कहा गया गया है, कुछ समय तक भगवान् बुद्ध स्वय भिक्षु-धर्म की दीक्षाएँ देते रहे, पश्चात् अन्य भिक्षुओ को इसकी अनुमति मिली। उस समय भी दीक्षा के नियम साधारण थे। बुद्ध, धर्म एव सघ के शरणगमन की विधि पूरी करके व्यक्ति भिक्षु बन जाता था। शरणगमन की विधि इस प्रकार थी—भिक्षु-पद का प्रत्याशी व्यक्ति अपने सिर और दाढी के केश साफ करके काषाय वस्त्र धारण करता, उत्तरासग इस प्रकार ओढता कि उसका एक कधा विवृत रहता, तब वह भिक्षुओ का चरणाभिवादन कर, ऊँकड् बैठकर तथा बद्धकरो को ऊपर उठाकर तीन बार कहता[४४]—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरण गच्छामि, सघं शरणं गच्छामि, अर्थात् मैं बुद्ध, धर्म एव सघ की शरण मे जाता हूँ।' इस प्रकार उपसम्पदा की विधि पूर्ण हो जाती। कालान्तर मे इस सामान्य विधि का स्थान ले लिया—भिक्षु-सघ की विशिष्ट विधि ने।[४५] प्रव्रज्या और उपसम्पदा के मध्य का विराम भी धीरे-धीरे दीर्घ होता गया और अत में वह पाँच वर्षों का हो गया। श्रामणेर को भिक्षुपद पर प्रतिष्ठित होने के लिए यह अनिवार्य हो गया कि दस वरिष्ठ भिक्षुओ के सघ द्वारा इसकी अनुमति प्रदान की जाय।[४६] भिक्षुपद के प्रत्याशी श्रामणेर को भिक्षुओ की सभा में श्रद्धा-पूर्वक अवनत हो अपने अञ्जलिबद्ध हाथो को ऊपर उठाकर कहना पडता—'भन्ते, सघ से उपसम्पदा पाने की याचना करता हूँ; भन्ते, सघ दया करके मेरा उद्धार करे।' वह तीन बार यही कहता। तदनन्तर श्रामणेर से कतिपय प्रश्न पूछे जाते, जैसे—क्या तुम स्वाधीन हो? क्या तुम ऋणमुक्त हो? तुम राजसेवक तो नही हो? तुम्हे अपने माता-पिता की अनुमति मिल गयी है न? तुम्हारी उम्र बीस वर्ष है न?—इत्यादि।[४७] इन प्रश्नो के स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर एक योग्य और समर्थ भिक्षु सघ को ज्ञापित करता—'भन्ते, सघ मेरी सुने—अमुक

नामवाले भिक्षु को उपाध्याय (उपज्झाय) बना, अमुक नामवाले आयुष्मान् का शिष्य, अमुक नाम वाला यह पुरुष उपसम्पदा चाहता है। यदि सघ उचित समझे तो संघ अमुक नामक को अमुक नाम के उपाध्याय के उपाध्यायत्व मे उपसम्पदा प्रदान करे।' इस ज्ञप्ति (सूचना) के पश्चात् भिक्षु सघ को कहता—'भन्ते, सघ मेरी सुने—अमुक नामवाला, यह अमुक नामवाले आयुष्मान् उम्पदा चाहने वाला शिष्य है। सघ अमुक नामवाले को अमुक नाम वाले भिक्षु के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नामवाले को उपसम्पदा अमुक नामवाले भिक्षु के उपाध्यायत्व मे स्वीकार है वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न किया हो, वह बोले। दूसरी बार भी इसी बात को बोलता हूँ—पूज्य सघ मेरी सुने। तीसरी बार भी इसी बात को बोलता हूँ—पूज्य सघ मेरी सुने। सघ को स्वीकार है, इसलिए चुप है—ऐसा समझता हूँ।' इस प्रकार भिक्षु उपसम्पन्न हो जाता।

भगवान् बुद्ध के धर्मप्रचार-सम्बन्धी आचरण के कालानुवर्ती होने के कारण दीक्षा की उपर्युक्त विधि रूढ नही बनी। उदाहरणार्थ, प्रत्यन्त प्रदेशो मे उपसम्पदा की विधि सम्पन्न करने के लिए केवल विनयधर तथा चार भिक्षुओ की उपस्थिति आवश्यक मानी गयी।[४८] प्रत्यन्त-भूमि मे बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या नगण्य होने के कारण ही वहाँ के लिए उपसम्पदा-सम्बन्धी यह विशिष्ट नियम बना था। प्रत्यन्त-भूमि उन क्षेत्रों को कहा गया है जो मध्यदेश के सीमान्त क्षेत्र थे। बौद्ध-सघ ने उपसम्पदा की विधि-सम्बन्धी एक और विशिष्ट नियम बनाया था, जिसके अनुसार किन्ही अनिवार्य कारणवश यदि कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी स्वयं उपस्थित होने मे असमर्थ हो जाने पर किसी व्यक्ति के माध्यम से दीक्षा की याचना करता अथवा करती, तो उस अवस्था मे सघ इस कार्य के लिए किसी भिक्षु को नियुक्त कर भेज देता था। इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि दीक्षा देने के लिए किसी श्रामणेर अथवा अयोग्य भिक्षु को न भेज दिया जाय।[४९] इस विधि द्वारा एक भिक्षुणी को उपसम्पदा की दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है, अत: समान परिस्थिति मे भिक्षु के लिए भी यह व्यवस्था मान्य रही होगी।

उपज्झाय तथा सद्धिविहारिक— प्रव्रज्या-दीक्षोपरान्त श्रामणेर पूर्ण भिक्षु-पद पर प्रतिष्ठित होने के उद्देश्य से एक आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन मे साधना करता था।[५०] आध्यात्मिक गुरु के लिए उपज्झाय शब्द मिलता है जो संस्कृत उपाध्याय का रूपान्तर है। पालि उपज्झाय का अर्थ है—जो निकट चला गया हो। भिक्षु-संघ मे उपज्झाय का वही स्थान था जो गुरुकुलो मे आचार्य का।

मनुस्मृति[५१] के अनुसार पेशेवर शिक्षक का कर्म करने वाला उपाध्याय कहलाता है और आचार्य का पद उससे उच्चतर है, किन्तु बौद्ध-संघ मे आध्यात्मिक गुरु को उपज्झाय कहा गया है और शिक्षक को आचरिय, अर्थात् आचार्य। आचरियधन[५२] और आचरियभाग[५३] के उल्लेख भी यह प्रमाणित करते हैं कि शिक्षक द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले को पालि मे आचरिय की संज्ञा दी गयी। बुद्धघोष के अनुसार भिक्षु-सघ मे उपज्झाय के पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए दस वर्षों के भिक्षु-जीवन के अनुभव की आवश्यकता पडती थी, पर आचरिय-पद के लिए मात्र ६ वर्षों की।[५४]

पालि-पिटक मे श्रामणेर को सद्धिविहारिक कहा गया है। वैदिक वाङ्मय मे सद्ध्रिन् का अर्थ होता है एक लक्ष्य की ओर और पालि मे सद्धि का अर्थ है एक-साथ। विहारिक का अर्थ होता है वास करना। पालि शब्दकोष में सद्धिविहारिक का अर्थ दिया गया है— सहवासी, बन्धु-भिक्षु या शिष्य। श्रामणेर के अपने उपज्झाय-सग वास करते हुए पूर्ण भिक्षुपद-प्राप्ति हेतु यत्नशील रहने के कारण ही वस्तुत· उसे सद्धिविहारिक नाम दिया गया। उसके गुरुसग निवास की व्यवस्था एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए की गयी थी। उपज्झाय तथा सद्धिविहारिक के आध्यात्मिक हित के लिए पारस्परिक सहयोग की कल्पना की गयी है। ब्रह्मचर्य-आश्रम के गुरु-शिष्य तथा भिक्षु-सघ के उपज्झाय-सद्धिविहारिक के सम्बन्धो मे पर्याप्त समानताएँ हैं। विनयपिटक[५५] मे निर्धारित सद्धिविहारिक के कर्त्तव्यो एव मनु[५६] द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यो मे अद्भुत साम्य दीखता है। ब्रह्मचारी तथा सद्धिविहारिक के लिए इन कर्मों का समान निषेध किया गया है— प्राणि-हिंसा, मिथ्या-भाषण, मद्य-पान, नृत्य-गीत-वादन, गधमाला-धारण, काम तथा अशौचाचरण। मनु ने ब्रह्मचारी के लिए अनुलेपन, पादत्राण, छत्र, द्यूत तथा स्त्रीदर्शन का भी निषेध किया है, किन्तु विनय-पिटक मे सद्धिविहारिक के लिए इनका निषेध नही है। पुन. विनयपिटक मे असमय भोजन तथा स्वर्ण-रजत स्वीकार करने का निषेध है, पर मनुस्मृति मे नही। इन असमानताओ का कारण यह प्रतीत होता है कि वैदिक ब्रह्मचारी तो ब्रह्मचर्य-आश्रम से गृहस्थ-आश्रम मे प्रवेश करना था, परन्तु बौद्ध श्रामणेर को भिक्षुपद पर प्रतिष्ठित होना पडता था। बौद्ध-संघ मे भिक्षुओ को विशेष परिस्थितियो मे अनुलेपन, जूते-चप्पल, छाते इत्यादि के उपयोग की अनुमति मिल जाती थी, उनके लिए इनका सर्वथा निषेध नही किया गया। यदि किसी भिक्षु को चर्मरोग हो जाता, तो उसे अपने शरीर मे अनुलेपन लगाने की छूट

दी जाती थी। जब भिक्षु विहार से तो वे जूते पहन सकते थे। सघारामो मे भिक्षुणियाँ भी निवास करती थी अतः उनकी ओर दृष्टिपात करने का निषेध नहीं हुआ, परन्तु कामुक दृष्टि से किसी भी नारी को देखना सघ के अनुशासन के विरुद्ध था। द्यूत का उल्लेख निषिद्ध कर्मों मे नही होने से यह अर्थ लगाया जा सकता है कि बौद्ध विहारों मे द्यूत-क्रीडा का निषेध नही था। कई प्राचीन विहारो के अवशेषो मे पाँसों की विद्यमानता से प्रतीत होता है कि अवकाश के क्षणों मे भिक्षु द्यूत-क्रीडा करते होंगे, लेकिन सद्धिविहारिक के लिए इसका वर्जन न रहा होगा इसमे सन्देह है। इसी प्रकार मनु द्वारा असमय भोजन तथा स्वर्ण-रजत संचय करने का निषेधादेशो मे उल्लेख नही करने का यह अर्थ लगाना अनुचित होगा कि ब्रह्मचारी को इनकी छूट दी गयी थी। वस्तुतः गुरुकुल के एक सदस्य के रूप में निवास करने के कारण ब्रह्मचारी के लिए भोजनकाल का निर्देश अनावश्यक समझा गया। मनु स्वर्ण-रजत रखने के सम्बन्ध मे मौन है, पर वे ब्रह्मचारी के लिए लोभ-परित्याग को अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि बौद्ध विहारो के सद्धिविहारिक और गुरुकुल के ब्रह्मचारी के अनुशासन मे कतिपय अन्तर के बावजूद दोनो के लक्ष्य और आदर्श समान थे। दोनो के लिए कठोर अनुशासन की व्यवस्था मिलती है। इनके जीवनादर्शों एवं अनुशासन के नियमों मे इतना अधिक साम्य दीखता है कि भेद की उपेक्षा कर सहज ही इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि भिक्षु-सघ का सद्धिविहारिक मूलतः वैदिक नैष्ठिक ब्रह्मचारी का ही रूपान्तर था और दोनो के जीवन समान आदर्शों द्वारा अनुप्राणित थे। उपज्झाय और सद्धिविहारिक के बीच वही सम्बन्ध था जो गुरु तथा ब्रह्मचारी शिष्य का होता है, परन्तु श्रामणेर-जीवन की अवधि, ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ—इन दोनो आश्रमो के योग से बनी।

प्राचीन भारत मे आध्यात्मिक गुरु का बडा महत्त्व था। भारतीय संस्कृति की परम्परा मे ज्ञानार्जन के लिए गुरु सेवा की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। वैखानस-धर्मप्रश्न[५७] के अनुसार ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह नित्य गुरु का अभिवादन करे, गुरु के आसनस्थ होने पर स्वयं बैठे, गुरु के आसन-त्याग करते समय शिष्य उनसे पूर्व ही उठकर खडा हो जाय, वह गुरु के पीछे-पीछे चले और सदैव गुरु के शय्यासनो से निम्नतर शय्यासनो का उपयोग करे। शिष्य कदापि गुरु की आज्ञा बिना कोई कर्म न करे, यद्यपि गुरु की आज्ञा बिना भी स्वाध्याय और दैनिक चर्या के कर्म नियमित रूप से किये जाने चाहिए।

सद्धिविहारिक के लिए निर्धारित कर्त्तव्यो मे भी उपज्झाय-सेवा की प्रमुखता है। वह भी ब्रह्मचारी के समान अपने गुरु की सेवा मे तत्पर रहता था। उसके कर्त्तव्यो मे उपज्झाय के लिए प्रात काल दातुन और जल रखना, आसन की व्यवस्था करना, दुग्धभात परोसना, कपडे बदलते समय उनकी सहायता करना, पात्रो तथा आवास की सफाई आदि के उल्लेख मिलते हैं।[५८] ब्रह्मचारी द्वारा गुरुकुल मे इस प्रकार के कर्म करने के उल्लेख नही मिलते। ब्राह्मण आचार्य प्राय· गृहस्थ होते थे, अत: उनके परिवार के सदस्य उनकी देखभाल करते थे। दूसरी ओर उपज्झाय की सेवा-सुश्रूषा करने वाले उनके शिष्य मात्र थे। जातको से ज्ञात होता है कि श्रामणेर अपने गुरु की परिचर्या अनुचरो के समान करते थे।[५९] आनन्द का शिष्य अपने गुरु की सभी प्रकार से शरीरसेवा और उनको भोजन कराने, दातुन और जल देने तथा उनके शौचालय, आवास एव शयनकक्ष की देखभाल के कार्य करता था।[६०] मिलिन्द-पञ्हो में इसका भी वर्णन मिलता है कि सद्धिविहारिक अपने उपज्झाय की दैनिक चारिका के लिए भी उनके सग जाता था। नागसेन उपसम्पदा की दीक्षा लेने के दूसरे दिन अपने उपज्झाय के साथ चारिका के लिए ग्राम में गये।[६१] यदि उपसम्पन्न होने पर भी शिष्य गुरु का साथ देता था, तो उपसम्पदा की पूर्वावस्था मे चारिका के समय उनके पीछे-पीछे उसके चलने में सन्देह नही किया जा सकता है। उत्तर-काल मे जब भिक्षु पुष्पमाला धारण करने लगे तो श्रामणेर अपने उपज्झाय को मालाएँ लाकर देने लगे।[६२] भिक्षुओ के लिए केश बढाने का निषेध होने के कारण तथा नापित के अभाव में गुरु-शिष्य एक-दूसरे के सिर के मुंडन भी करने लगे।[६३] सद्धिविहारिक के लिए इस बात के भी निर्देश मिलते है कि वह सभी कार्य सावधानी से करे। यदि आसन को स्थानान्तरित करना हो, तो उसे यह कार्य भूमि अथवा दरवाजे से टकराये बिना करना चाहिए, जिससे किसी प्रकार की आवाज न हो।[६४]

उपज्झाय के प्रति सद्धिविहारिक का दायित्व मात्र शरीरसेवा तक सीमित नही था। गुरु के प्रति अपने नैतिक दायित्व का सफल निर्वाह करना भी उसका परम कर्त्तव्य माना जाता था। यदि उपज्झाय असत्य-मार्गगामी हो जाता, तो उस अवस्था मे सद्धिविहारिक का ही यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वह अपने गुरु से इस सम्बन्ध मे स्वय तर्क करके अथवा किसी अन्य व्यक्ति को इसके लिए प्रेरित कर उन्हे सत्यमार्ग मे ले आता। यदि सद्धिविहारिक को इस बात का विश्वास हो जाता कि उसके उपज्झाय ने कोई बडा कुकर्म किया है, तो वह इस तथ्य

को सघ के समक्ष उपस्थित करता, जिससे अनुशासन-भग के अपराध के लिए मानत्त अथवा दूसरे उपयुक्त प्रायश्चित् की व्यवस्था की जाती।[६५] यदि सघ उस स्थिति मे किसी उपज्झाय के विरुद्ध कार्रवाई करने का विचार करता, जब उनके सद्धिविहारिक को अपने गुरु के सर्वथा निर्दोष होने का पूर्ण विश्वास रहता, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता था कि वह सघ के दृष्टिकोण मे यथासभव परिवर्तन लाने का प्रयास करता। यदि निर्दोष उपज्झाय के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई करके सघ द्वारा उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान कर दिया जाता, तो सद्धिविहारिक के लिए यह उचित हो जाता कि वह इस बात का प्रयास करता कि सघ अपने निर्णय पर पुनर्विचार करके उसमे सशोधन करे।[६६] गुरुकुलो के ब्रह्मचारी को यह अधिकार नही था कि वह अपने गुरु के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई मे भाग लेता। प्रश्न उठता है कि बौद्धसंघ ने शिष्य को यह अधिकार क्यो दिया ? गुरुकुल का ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-आश्रम की परिसमाप्ति के पश्चात् गृहस्थ बन जाता था, परन्तु बौद्धसंघ का श्रामणेर भविष्य मे भी भिक्षुसंघ का सदस्य बना रहता था। जब गुरु-शिष्य सम्बन्ध केवल पाँच वर्षों तक ही सीमित रहता था, तो इस अवधि के लिए ही श्रामणेर को अपने उपज्झाय के दोषो को प्रकाश मे लाने के अधिकार से वंचित करना उचित नही समझा गया।

सद्धिविहारिको का अनुशासन भी भिक्षुसघ के लिए एक समस्या थी। सद्धिविहारिक अपने उपज्झायो की अवज्ञा न करें, इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए यह नियम बना कि उपज्झायो के प्रति उद्दडाचरण करने वाले श्रामणेरो को सघ से निष्कासित कर दिया जायगा,[६७] परन्तु इस नियम के साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया कि किसी निर्दोष सद्धिविहारिक को अपने उपज्झाय का कोपभाजन न बनना पडे। इस सम्बन्ध मे उपज्झायो को यह निर्देश दिया गया कि वे किसी निर्दोष सद्धिविहारिक को भिक्षुसंघ से निष्कासित करने की दिशा मे कोई पग न उठावें। उपज्झाय से अपने अधिकार का दुरुपयोग न करने की आशा की जाती थी। यदि संघ से विधिवत् निष्कासित सद्धिविहारिक क्षमा याचना करता, तो उसे निराश नही होना पडता था।[६८]

गुरुजन सत्कार— गुरुकुलो के समान ही बौद्ध भिक्षुसंघ मे गुरु-शिष्य-परम्परा के निर्वाह की पूर्ण चेष्टा की गयी। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और सम्मान का आचरण करने में भिक्षु तत्पर रहे, इस विचार से जहाँ-जहाँ उपयुक्त प्रसग आये, इसके महत्त्व की व्याख्या की गयी। चुल्लवग्ग[६९] मे गुरुजन-सेवा सम्बन्धी एक सुन्दर लघु-कथा मिलती है—'अतीत में तीन मित्र—तित्तिर, वानर और हाथी

एक साथ निवास करते थे। एक दिन जब तीनो मित्र आपस मे वार्त्तालाप कर रहे थे, तो उन्हे ज्ञात हुआ कि उन तीनो मे तित्तिर की उम्र सबसे अधिक थी। उस दिन से वानर और हाथी तित्तिर का समुचित सत्कार करने लगे। तीनो मित्र बड़े प्रेम से रहने लगे। वे पारस्परिक श्रद्धा, विश्वास और सौजन्य का पालन करते रहे।' भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ को उपदेश दिया कि वे अपने गुरुओ, गुरुजनो तथा जो गुरुतुल्य थे, उनके प्रति व्यवहार मे समुचित आदर, अनुराग एव सत्कार दिखलावें।[७०] उपासको को भी उपदेश दिये गये कि वे अपने माता-पिता, अग्रज तथा गुरु का सम्मान करें।[७१] धम्मपद[७२] मे कहा गया है कि जो व्यक्ति वृद्धो का निरतर अभिवादन एव आदर करता है उसके आयु, सौदर्य, सुख तथा बल मे वृद्धि होती रहती है। धम्मपद का यह कथन मनुस्मृति[७३] के श्लोक—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य परिवर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ।।

—का ही रूपान्तर है। जहाँ तक सम्मान की पात्रता का प्रश्न है, इसका मापदण्ड वय-मात्र नही माना गया। सनातनी दृष्टिकोण[७४] हो अथवा बौद्ध,[७५] दोनो मे समान रूप से धर्मात्मा, सदाचारी एव ज्ञानी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र कहा गया है। धर्मज्ञ एव ज्ञानवान् व्यक्ति को अल्पवय होने पर भी सभी से सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है। विनयपिटक के अनुसार यदि अल्पवय भिक्षु विनय पर प्रवचन दे रहा हो, तो उस समय वरिष्ठ भिक्षुओ को धर्म का सम्मान करते हुए निम्न आसन ग्रहण करना चाहिए।[७६] यह सोचना उपयुक्त नही है कि प्रवचन-कर्त्ता की वय कितनी है। वस्तुत. सम्मान तो किया जाता है धर्म का, व्यक्ति तो धर्म का साधन-मात्र है। सामान्यतया समाज मे अपने से अधिक उम्रवालो के प्रति व्यवहार मे सदा विनय का आचरण किया जाता रहा है। बौद्ध विहारो मे इस आदर्श का पालन किया गया। गुरुजनो को सदा उच्चासन दिये जाते थे, परन्तु वय में तीन वर्षों के अन्तर पर ध्यान नही दिया जाता था और इस वर्ग के सभी भिक्षु समान आसन पर बैठते।[७७] शिष्टाचार-सम्बन्धी कई बातो का सघ मे ध्यान रखा जाता था, जैसे—यदि वरिष्ठ भिक्षु खाली पैर चलते तो छोटो का जूता पहनना अशिष्ट माना जाता था।[७८]

जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि बौद्ध-संघ के वरिष्ठ भिक्षुओ को श्रामणेरो की तुलना मे कई विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी थी। हमे इस बात के उल्लेख मिलते है कि बौद्ध-सघ के वरिष्ठ सदस्यो का अनेक प्रकार से आदर-

सत्कार किया जाता था। वे अभिवादन, अञ्जलिकर्म तथा सेवा-सुश्रूषा के अधिकारी तो थे ही, उन्हें उत्तम आवास, उत्तम जल तथा उत्तम श्रेणी के चावल के उपभोग का भी अधिकार प्राप्त था।[७९] जो भिक्षु वरिष्ठ नही थे उन्हे साधारण आवास तथा भोजन से सतोष करना पडता था। भोजन मे सदा दो तरह का भात बनता था— महीन चावल का और मोटे चावल का।[८०] वरिष्ठ भिक्षुओ को महीन चावल का भात परोसा जाता, पर श्रामणेरो को मोटे चावल का। भोजन परोसने वालो की सुविधा के लिए संघ ने भिक्षुओ को ऐसी शलाका (टिकट) देने की व्यवस्था की थी जिनपर महीन और मोटे चावल के चिह्न बने रहते थे। इस कार्य के लिए सघ एक भिक्षु को नियुक्त करता था। तडुल-नालि-जातक के अनुसार एक बार मल्लपुत्र दब्ब इस कार्य के लिए नियुक्त किये गये। जब उदायि नामक भिक्षु को मोटे चावल के भात की शलाका मिली तो उसने दब्ब के विरुद्ध प्रचार करना शुरू कर दिया। उसने कहा— "क्या भिक्षु-सघ मे दब्ब ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनमे शलाका वितरण की योग्यता है? क्या मुझ मे इस कार्य के सम्पादन की योग्यता का अभाव है?" इस पर भिक्षु-सघ ने मल्लपुत्र दब्ब के स्थान पर उदायि को ही नियुक्त कर दिया। उदायि ने शलाका वितरित न करके भोजनशाला की भूमि को रेखाकित कर दो भागो मे बॉट दिया, जिसमे महीन चावल का भात खाने वाले एक ओर आसन करते और मोटे चावल का भात खाने के इच्छुक, दूसरी ओर। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकाश भिक्षु महीन चावल का भात परोसने के लिए निर्धारित भाग मे जाकर बैठ गये। उदायि की इस कुव्यवस्था पर भिक्षुओ को बडा रोष हुआ और उन्होने बलपूर्वक उन्हे शलाका वितरण के स्थान से यह कहते हुए हटा दिया कि सघ मे भिक्षुओ की वरिष्ठता के आधार पर मोटे और महीन चावल के भात परोसे जाते है।

इन सबका यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि वरिष्ठ भिक्षुओ का अपने शिष्यो के प्रति कोई दायित्व नही था। तीन मित्रो की कथा मे यह स्पष्ट किया गया है कि गुरुजनो और लघुजनो के बीच पारस्परिक श्रद्धा, विश्वास तथा सौजन्य की अपेक्षा की जाती थी। बौद्ध-सघ मे सामञ्जस्य की स्थापना के लिए भिक्षुओ मे पारस्परिक विश्वास का होना अत्यावश्यक था। शिष्यो की ओर से जो श्रद्धा गुरुओ को प्राप्त होती थी उसके बदले मे वे अपने शिष्यो का मार्गदर्शन करते तथा उनके कष्टो के निवारण के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे।

भिक्षु-संघ के नियमानुसार सभी वरिष्ठ सदस्यो का अभिवादन किया जाता था, परन्तु भिक्षुणियो को यह सत्कार नही मिलता था। चुल्लवग्ग[८१] मे भिक्षुओ को यह आदेश दिया गया है कि वे न तो भिक्षुणियो के सम्मुख नतमस्तक हो, न उनके आ जाने पर खडे हो जायँ, न उनका करबद्ध अभिवादन करें और न किसी अन्य प्रकार की गुरुजनोचित सेवाकर्म ही। इस सम्बन्ध मे बौद्ध भिक्षु-संघ ने यह व्यवस्था दी कि भिक्षु कदापि भिक्षुणियो का गुरुजनोचित अभिवादन न करें, परन्तु भिक्षुणियाँ सदा नतमस्तक हो भिक्षुओ का सम्मान करे। सम्भवत नारी को पारिवारिक जीवन का केन्द्र मानने के फलस्वरूप ही गृहत्यागी भिक्षुओ द्वारा उनके प्रति इस प्रकार की अवज्ञा व्यक्त की जाती होगी। वस्तुतः नारी गार्हस्थ्य का प्रतीक मानी जाती होगी और भिक्षु वैराग्य का, अत उस सासारिक जीवन के प्रति जिसका उसने परित्याग कर दिया, वह किस प्रकार नतमस्तक होता ? भिक्षुणियो को अभिवादन प्राप्त करने के अधिकार से ही वचित नही किया गया, सघ मे सर्वत्र उन्हे भिक्षुओ की अपेक्षा हीन व्यवहार मिला। जब भिक्षु भोजन करते रहते, तो उस समय भिक्षुणियो को अलग खडा रहना पडता था।[८२] भिक्षुणियो को यदि अभिवादन तथा अन्य प्रकार के गुरुजनोचित सम्मान प्राप्त करने का अधिकार था, तो केवल भिक्षुणियो से। इस प्रकार भिक्षुणियो को सभी प्रकार से भिक्षुओ से हीन स्थान मिला।

भिक्षुणियो के समान ही क्लीबो तथा श्रामणेरो का गुरुजनोचित अभिवादन नही किया जाता था।[८३] भिक्षुओ की तुलना मे भिक्षुणियो तथा श्रामणेरो का पद निम्न था, यह असदिग्ध है। उपसम्पन्न भिक्षु द्वारा अनुपसम्पन्न का अभिवादन अवाछनीय माना गया। इस प्रसग मे ज्ञान के साथ वय की वरिष्ठता का भी ध्यान रखा गया। जहाँ तक वय का प्रश्न है, भिक्षु-सघ ने यह नियम बनाया कि जो वरिष्ठ भिक्षु अन्य मतावलम्बी हो जाय और धर्मविरुद्ध भाषण करे, उसका अन्य भिक्षु अभिवादन नही करें।[८४] बुद्ध-विरुद्ध वचन अथवा आचरण किसी भी भिक्षु के लिए कदापि सह्य नही हो सकते थे। जब बुद्ध-विरुद्ध आचरण बौद्ध की दृष्टि मे महापाप था तो पापी का अभिवादन किस प्रकार किया जाता ? यदि धर्म-विरुद्ध आचरण के कारण किसी भिक्षु के द्वारा प्रायश्चित करने की सभावना रहती, अथवा जो भिक्षु प्रायश्चित करता होता, वह भी अभिवादन करने के योग्य नही माना जाता था।[८५] यह स्पष्ट है कि इस श्रेणी के भिक्षुओ को उनके नियम-विरुद्ध आचरण के फलस्वरूप ही सम्मान प्राप्त करने के अधिकार से वचित किया गया था। सभवतः इनको सम्मान

प्राप्त करने के अधिकार से वंचित करने का उद्देश्य भविष्य मे नियमभंग की पुनरावृत्ति को रोकना भी था।

उपज्झायों का यह कर्त्तव्य माना गया था कि वे अपने सद्धिविहारिकों को पुत्रवत् स्नेह प्रदान करे और सद्धिविहारिको का भी यह परम कर्त्तव्य था कि वे उपज्झायो का यथोचित सत्कार करें, परन्तु पालि-निकाय मे ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सभी भिक्षु इस आदर्श के अनुरूप आचरण नही कर पाते थे। कालान्तर मे उपज्झाय अपने सद्धिविहारिको के प्रति दुर्व्य-विहार करने लगे और सद्धिविहारिक भी अपने उपज्झायो का वैसा सम्मान नही करने लगे जैसा उनके लिए उचित था। जातको से ज्ञात होता है कि प्रायः श्रामणेरो को सोने के लिए विहारो मे स्थान भी नही दिया जाता था जिससे उन्हे उपट्ठानशाला मे ही रात्रि व्यतीत करनी पडती थी।[९] एक बार तो ऐसा भी हुआ कि राहुल को शौचगृह मे ही रातभर रहना पड़ा। उपज्झाय लोग बीच-बीच मे राहुल की परीक्षा लिया करते थे। इसके लिए वे राहुल के अन-जाने मे फर्श पर थोडी धूल फेंक देते और कहते कि राहुल ने ही फर्श को गंदा किया। बेचारे राहुल चुपचाप धूल उठा लिया करते। जब बुद्ध ने राहुल को शौचगृह मे शयन करते देखा तो उनके मन मे भाव उठे—'जब राहुल के प्रति भिक्षुओ का यह व्यवहार है तो वे अन्य किशोरो के प्रति क्या करते होंगे ?'[८०] कभी-कभी तो श्रामणेरो को अपने गुरु से मार भी मिलती थी। अहिगुण्डिक-जातक (३६५) के अनुसार एक ग्रामीण युवक ने भिक्षुधर्म की दीक्षा ली, पर उसे तीन बार सघ का परित्याग करना पडा क्योकि एक वृद्ध भिक्षु ने उसे अप-शब्द कहा और मारा भी। इन घटनाओ से प्रतीत होता है कि श्रामणेरो में अनुशासन की कमी का प्रमुख कारण उनके प्रति उपज्झायो का दुर्व्यवहार था। कालान्तर मे श्रामणेर काफी अशिष्ट हो गये। चुल्लवग्ग[८८] तथा तित्तिर-जातक (३७) के अनुसार एक बार षड्वर्गीय भिक्षुओ के एक शिष्य-समुदाय ने एक विहार के सभी कमरो पर अपना अधिकार जमा लिया, जिसका फल यह हुआ कि उपज्झायो को रात्रि के लिए कोई कमरे उपलब्ध नही हो सके। सारिपुत्त, जिनका स्थान सघ मे बुद्ध के पश्चात् दूसरा माना जाता था, रात-भर एक पेड के नीचे पडे रहे। प्रातःकाल जब भगवान् बुद्ध को अपने प्रिय-शिष्य की दुर्गति का पता चला तो वे भिक्षुओं मे अनुशासन की कमी के कारण चिंतित हो गये। इस घटना के विवरण से श्रामणेरो के अन्य अशिष्ट व्यवहारो का अनुमान लगाया जा सकता है।

पारस्परिक सहयोग—सघ-जीवन की सफलता सदस्यो के पारस्परिक सहयोग तथा सौहार्द पर निर्भर करती है। भगवान् बुद्ध ने इस तथ्य को हृदयगम किया, अत उन्होने भिक्षुओं को प्रगाढ भ्रातृत्व-भावना के विकास का उपदेश दिया। बौद्ध-सघ का लक्ष्य था धर्मप्रचार, अत जिन आदर्शों का प्रचार जन-समूह मे करना था उनका सघ मे भी आचरण अनिवार्य था, क्योकि इसके अभाव मे लक्ष्यसिद्धि सदिग्ध हो जाती। जब तक भिक्षु स्वय किसी आदर्श के अनुरूप आचरण करने मे सफल नही होते, उनके उपदेशो का जनता मे अनुकूल प्रभाव नही पडता। वर्षावास समाप्त कर जब सभी भिक्षु एक स्थान पर एकत्र हुआ करते थे, तो भगवान् बुद्ध सभी का कुशल-क्षेम पूछने के साथ उनसे यह प्रश्न भी करते थे कि भिक्षुओ ने वर्षावास की अवधि मे एकता, अविरोध एव अकलह का निष्ठापूर्वक आचरण किया अथवा नही ?[८९] भिक्षुओ को किस प्रकार अविरोध तथा उत्साह का जीवन व्यतीत करना चाहिए इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया अनुरुद्ध, कबिल तथा नन्दिय ने।[९०] ये भिक्षु एक ही आवास मे रहते थे। इनमे जो भिक्षु ग्राम मे चारिका पूर्ण करके पहले आ जाता वह आसन ठीक करने, पैर धोने के लिए जल रखने, मच और तौलिया यथा-स्थान रखने, हाथ धोने के लिए जलपात्र रखने और पेय-जल तथा भोजन की व्यवस्था के कार्य करता। जो भिक्षु सबसे पीछे आता वह रुचि रहने पर पूर्वागत दोनो भिक्षुओ के भोजन कर चुकने पर बचा खाद्य ग्रहण करता, अन्यथा उसे फेक देता। फिर वह आवास मे बिखरे सामान को यथास्थान स्थापित करने मे लग जाता। जबतक तीनो मित्र एक साथ रहे, उनमे प्रगाढ मैत्री-भावना बनी रही और कही लेशमात्र भी कलह को स्थान नही मिल पाया।

सभी भिक्षु उपर्युक्त आदर्श के अनुकूल आचरण नही कर पाते थे। पालि-पिटक मे ऐसे प्रसग मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि सघ मे नि स्वार्थ सेवाभावरहित भिक्षुओ की सख्या न्यून नही रही होगी। ऐसे भिक्षु केवल उनकी सुश्रूषा करना पसन्द करते थे जिन्हे वे अपने लिए उपयोगी समझते और जिन्हे वे अनुपयोगी मानते, उन बेचारो की उपेक्षा कर दी जाती। एक बार कोई भिक्षु रुग्ण हो गया, पर किसी ने उसकी सुश्रुषा इस कारण नही की कि वह भिक्षुओ के किसी काम का नही था। जब भगवान् बुद्ध को इसकी सूचना मिली तो उन्होने भिक्षुओ से कहा— 'हे भिक्षुओ, यहाँ किसी के माता-पिता नही हैं जो रुग्णावस्था मे सेवा-सुश्रूषा करेगे। यदि रुग्ण होने पर आपलोग एक दूसरे की देखभाल नही करेंगे, तो यहाँ इस कार्य के लिए दूसरा है ही कौन ?

हे भिक्षुओ, जो मेरी सेवा के लिए नियुक्त हो, वही रोगी की सुश्रूषा करे'।[११] बुद्ध के ये उद्‌गार कितने मर्मस्पर्शी हैं! उनका हृदय मानवमात्र के दुःख-निरोध के लिए अत्यन्त सवेदनशील था, इसमे क्या किसी को सन्देह हो सकता है? भगवान् बुद्ध ने इसके लिए पूर्ण प्रयास किया कि भिक्षुसंघ में पारस्परिक सेवा एव सहयोग की भावना अटूट बनी रहे। संघ मे इस बात के लिए सभी उपाय किये गये कि रुग्ण भिक्षु की देखभाल मे किसी प्रकार की उपेक्षा न की जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह नियम बना कि रुग्ण भिक्षु के मरणोपरात उसके चीवर एव भिक्षापात्र उसी भिक्षु को मिलेंगे जिसने रुग्णावस्था मे उसकी सुश्रूषा की हो।[१२]

बौद्ध-सघ का आकार जब बृहत् हो गया तो उसके सदस्यो के सम्बन्ध सदा आदर्श नही रहने लगे। यह अस्वाभाविक भी नही था क्योकि अधिक सख्या मे एक साथ निवास करने पर आपस मे मनमुटाव एव झगडे हो जाना मानव-स्वभाव है। केवल उस व्यक्ति का किसी से वैमनस्य नही रह जाता है जो औसत मनुष्य से ऊपर उठकर वीतराग हो जाता है। सभी भिक्षुओ का मानसिक विकास इस प्रकार नही हो पाता था कि वे सभी प्रकार के मतभेदों की उपेक्षा कर आपस मे सौहार्द-पूर्वक रहते। हमे भिक्षुओ के आपस मे लडने-झगडने के उदाहरण मिलते है। भिक्षुणियाँ भी भिक्षुओ से झगड़ती थी। एक बार भिक्षुओ और भिक्षुणियो मे झगडा हो गया तो छन्न नामक भिक्षु भिक्षुओ के दल मे घुस गये और उनकी ओर से वे भिक्षुओ से बहस करने लगे।[१३] इस प्रकार के झगडे केवल कटु शब्द प्रयोग तक ही सीमित नही रह पाते थे। भिक्षु अपने विरोधियो को बदनाम करने के लिए अन्य मार्ग भी अपनाते थे। चुल्लवग्ग[१४] के अनुसार मल्लपुत्र दब्ब के विरोधियो ने उन्हें बदनाम करने के उद्देश्य से मेत्तिया नामक भिक्षुणी को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि वह भगवान् बुद्ध के सन्निकट जाकर यह कहे कि दब्ब ने उसके साथ व्यभिचार किया। भिक्षु चाहते थे कि मल्लपुत्र पर इस तरह का मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें सघ से निष्कासित कर दिया जाय। कभी-कभी भिक्षुओ मे हाथापाई की भी नौबत आ जाती थी। एक बार षड्वर्गीय भिक्षुओ ने सप्तवर्गीयो की गर्दन पकडकर उन्हे एक नवनिर्मित विहार से निकाल बाहर किया और सभी कमरो पर अपना अधिकार जमा लिया[१५]। कभी-कभी भिक्षुओ के सम्बन्ध अत्यन्त कटु हो जाते और वे आपस मे गाली-गलौच करने लग जाते। ऐसा उस अवस्था मे होता था जब कोई भिक्षु दूसरे भिक्षु पर विनय के नियम भग करने का आरोप लगता और

दोषी भिक्षु उसका प्रतिवाद करने लगता । इस सम्बन्ध मे अंगुत्तर-निकाय[६६] मे कहा गया है कि यदि नियमभग के अपराधी तथा उनकी भर्त्सना करनेवाले वाले, दोनो ही पक्ष के भिक्षु सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण नही करेंगे, तो उनके कटुता-पूर्ण सम्बन्धो को समाप्त करना सम्भव नही होगा ।

सामूहिक स्वामित्व—भिक्षुओ का जीवन सघीय था । वे शरणागत थे सघ के, वे निष्ठावान थे तो सघ के प्रति, उनका जीवन संचालित था सघ द्वारा और सघ ही प्रत्येक भिक्षु की आवश्यकताओ की पूर्ति करता था । बौद्ध विहारो की समस्त सम्पत्ति का स्वामी सघ था और जबतक विहारो मे भ्रष्टाचार का समावेश नही हो गया, तब तक भिक्षुओ को किसी भी वस्तु के स्वामित्व का अधिकार नही मिला । विहारो मे भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाने पर भी सिद्धान्ततः संघ ही भिक्षुओं की सम्पत्ति का स्वामी बना रहा । सघ को दान मे उपलब्ध वस्तुओ को सघ की अनुमति बिना अपने उपयोग मे लाने का अधिकार किसी भिक्षु को नही दिया गया था ।[६७] कतिपय वस्तुओ पर सम्पूर्ण भिक्षुसघ का स्वामित्व स्वीकार किया गया और उनके विक्रय का अधि-कार न तो सघ को मिला और न किसी व्यक्ति-विशेष को ही । इनके लिए सामूहिक स्वामित्व का सिद्धान्त मान्य हुआ । ये वस्तुएँ थी— आराम, विहार अथवा विहार-निर्माण के लिए निर्धारित भूमि, बिछावन, कुर्सी, तकिया, उप-धान, बर्तन, उस्तरा, कुल्हाड़ी, फावड़ा, लताएँ, बाँस, मूँज और बब्बज-सदृश तृण तथा काष्ठ और मिट्टी के पात्र ।[६८] इन लौकिक वस्तुओ का वास्तविक स्वामी सघ था । यद्यपि उपयोग के लिए भिक्षुओ को इन वस्तुओ को उपलब्ध कराया जाता था, परन्तु इन पर सामूहिक स्वामित्व स्वीकार करने के कारण वे इनके स्वामी नही हो सकते थे ।

सभी आवासो का स्वामी सघ था । किसी आवास को भिक्षु उसी अवस्था मे अपने उपयोग मे ला सकते थे जब इसके लिए उन्हें सघ की अनुमति मिल जाती । भिक्षुओ के लिए आवासो की व्यवस्था करना सघ का कर्त्तव्य था और इस कार्य के लिए एक भिक्षु-पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी जिसका उल्लेख पहले ही किया गया है । भिक्षु प्राय घूमते रहते थे । वे केवल वर्षावास की अवधि मे एक स्थान मे रहते थे । जब भिक्षु किसी विहार मे पहुँच जाते तो वहाँ उनके रहने की व्यवस्था कर दी जाती । जब स्थायी विहारो का निर्माण होने लगा तो वे भिक्षुओ को सामूहिक रूप मे मिलने लगे । एक बार सप्त-वर्गीयो ने एक विहार का निर्माण कराया । षड्वर्गीय भिक्षुओ ने उनसे कहा—

'आवुसो, यह विहार हमें दिया गया है', और उन्होने बलात् उस पर अधिकार कर लिया जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। षड्वर्गीयो की इस अशिष्टता का कारण विहारो पर सघ का स्वामित्व था, न कि किसी भिक्षु अथवा भिक्षुओ के समूह-विशेष का आचरण। भिक्षु के लिए किसी आवास-विशेष मे रहने की व्यवस्था कर देने का यह अर्थ नही होता था कि उसे सदा के लिए वही आवास मिल गया।

आवासों के समान भिक्षुओं के चीवर तथा भिक्षापात्र पर भी संघ का स्वामित्व स्वीकार किया गया था। चीवर-वितरण के समय यदि किसी भिक्षु को निर्धारित सख्या से अधिक वस्त्र मिल जाते, तो उसे दस दिनो के भीतर संघ को वापस कर देना पडता था।[९९] सघ के माध्यम से भिक्षु को वस्त्र-विशेष पर स्वामित्व प्राप्त होता था और व्यक्तिगत स्वामित्व की परिसमाप्ति पर संघ पुन उस वस्त्र का स्वामी हो जाता था। यदि वर्षावास के पश्चात् किसी भिक्षु को सघ से निष्कासित कर दिया जाता अथवा उसकी मृत्यु हो जाती, तो उसके चीवर पर सघ का अधिकार हो जाता।[१००] भिक्षु के मरणोपरात संघ उसके वस्त्र और भिक्षापात्र उस भिक्षु को प्रदान कर देता जिसने रुग्णावस्था मे उसकी सुश्रूषा की होती।[१०१]

वस्त्राभूषण—तापस-जीवन का लक्ष्य है शरीर की उपेक्षा करना, अतः तापस अपने सिर के बालो पर ध्यान नही देते—वे या तो जटा बढ़ाते हैं अथवा अपने सिर का मुडन करवा लेते हैं। बौद्ध-भिक्षु मुण्डित सिर रहते थे, परन्तु भगवान् बुद्ध की मूर्तियो मे उनके केश घुँघराले बने हैं। वस्तुतः उनके केश घुँघराले न थे, पर मूर्तिकारो की कल्पना ने उनको वैसा रूप दिया। पालि-पिटक के अनुसार बुद्ध मुण्डित सिर रहा करते थे। सभी भिक्षुओ को दो महीनों की अवधि व्यतीत होने पर, अथवा जब उनके केश की लम्बाई दो अगुल हो जाती, तो उन्हें अनिवार्यतः सिर मुँडाना पडता था।[१०२]

भगवान् बुद्ध ऐसे शिरोभूषण धारण करने के, जो गृहस्थ-जीवन के प्रतीक माने जाते, विरुद्ध थे। अत: उन्होने पगडी बाँधने का भिक्षुओ को निषेध किया।[१०३] जब कोई भिक्षु रुग्ण हो जाता तभी इस निषेधाज्ञा को शिथिल किया जाता था। उन दिनो राजन्य तथा श्रेष्ठि-तुल्य वैभवशाली व्यक्ति पगड़ी बाँधा करते थे, जैसा कि साँची तथा भारहुत की वेदिकाओ तथा तोरणों में देखने को मिलता है। वेदों में वर्णित उष्णीष तथा साँची और भारहुत मे चित्रित पगड़ी में पर्याप्त साम्य है। वेदो के अनुसार उष्णीष धारण करने की प्रथा व्रात्यो मे

प्रचलित थी[१०४] और व्रात्येतर लोग विशिष्ट अवसर पर ही इसे धारण करते थे। राजसूय-यज्ञ मे उष्णीष धारण करने की अनिवार्यता से इस बात का सकेत मिलता है कि इसे वैभव का प्रतीक माना जाता होगा। बुद्धकाल मे उष्णीष गृहस्थो का शिरोभूषण बन गया। आज भी श्रीलंका मे प्रव्रज्या की दीक्षा के समय नवशिष्य को जब गृहस्थ के सभी वस्त्र धारण कराये जाते हैं, तो उसे पगडी भी बाँधनी पडती है।[१०५] इन सबो से यही प्रतीत होता है कि गृहस्थ का शिरोभूषण मानकर ही बौद्ध-भिक्षुओ के लिए पगडी बाँधने का निषेध हुआ।

भगवान् बुद्ध भिक्षुओ के जूते-चप्पल पहनने के पक्ष मे भी नही थे, परन्तु इस सम्बन्ध मे उन्हें विचार-परिवर्तन करने को बाध्य होना पडा। उनके उपदेशो से प्रभावित होकर समाज के सभी वर्गों के लोगो ने भिक्षु-जीवन को अपनाया था। भिक्षुसघ के ऐसे व्यक्तियो की सख्या भी नगण्य नही थी जिन्होने अपने गृहस्थ-जीवन मे समस्त सासारिक सुख-सुविधाओ का उपभोग किया था। अत ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन के अकस्मात् त्याग के कारण उन्हें बडे कष्टो का सामना करना पडा। सोण नामक श्रेष्ठि जब भिक्षु बन गये तो खाली पैर चलने मे उन्हे घोर कष्ट हुआ। एक दिन उनके सुकुमार चरणतल इस तरह क्षत हो गये कि उन्हे देखकर भगवान् बुद्ध को भी कष्ट हुआ और उन्होने जूते-चप्पल पहनने की निषेधाज्ञा समाप्त कर दी। उस दिन से बौद्ध-भिक्षु पादत्राण पहनने लगे। इस बात का ध्यान अवश्य रखा गया कि जूते-चप्पल पहनने मे मध्यममार्ग की मर्यादा का उल्लघन न हो। एक अतराच्छादन-युक्त नये पादत्राण[१०६] और अन्यो द्वारा परित्यक्त होने पर एकाधिक अतराच्छादन-युक्त[१०७] पादत्राण पहनने की अनुमति भिक्षुओ को मिल गयी। एडी वाले जूते और रग-बिरगे चप्पल पहनने का निषेध किया गया।[१०८] वस्तुतः सादगी और अहिंसा के आधार पर ही पादत्राण के स्वरूप का निर्धारण किया जाता था। हिंदू सन्यासियो मे खडाऊँ पहनने की प्रथा है, परन्तु बौद्धो ने अहिंसा के विचार से इसे नही अपनाया।[१०९]

जूते-चप्पल पहनने की अनुमति प्रदान करने का उद्देश्य था—चरणतल की रक्षा, न कि फैशन। अत. सर्वत्र जूते-चप्पल पहन कर चलना वर्जित माना गया। कटकाकीर्ण तथा पत्थर-ककड-मय भूमि पर पादत्राण धारण करना अनिवार्य था, परन्तु गाँव तथा सघाराम मे जूते अथवा चप्पल पहनना मर्यादा की सीमा का उल्लंघन माना जाता था। जब भिक्षु गाँव मे प्रवेश करते थे, तो

उन्हे जूतो को उतार लेना पडता था।[110] केवल अस्वस्थ भिक्षु जूते-चप्पल पहने हुए गाँव के अन्दर जाते थे। गाँव के अन्दर जूते-चप्पल नही पहनने का पहला कारण यह प्रतीत होता है कि अन्य तापसो मे जूता पहनने की प्रथा नही थी। दूसरा कारण यह जान पडता है कि भिक्षा मे पक्वान्न-ग्रहण करते समय जूता पहनना अवाछनीय माना जाता होगा। तीसरा कारण यह हो सकता है कि गाँव के बाहर तो चरणतल की रक्षा के लिए जूता पहनना आवश्यक हो जाता था, पर गाँव के अन्दर के मार्ग ऐसे नही रहते थे कि जूता पहनना अनिवार्य होता। आराम मे भी सामान्यतया जूता पहनना वर्जित था, परन्तु रात मे काँटो और कीलो से बचने के लिए भिक्षु खुले आराम मे न केवल जूते पहन कर चलते, वे दीपक और दण्ड भी साथ रखते थे।[111] स्वच्छता के विचार से वे चौकी और शय्या तक जूते पहनकर जाते।[112] रुग्ण होने पर अथवा पैरो मे घाव हो जाने पर जूता पहनने मे किसी तरह का निषेध नही माना जाता था।[113]

कालान्तर मे जब विभिन्न स्थानो मे बडे-बडे विहारो का निर्माण होने लगा, तब सभी विहारो के भिक्षुओ के रहन-सहन मे एकरूपता नही रह गयी। कही-कही भिक्षु परम्परागत नियमो के विरुद्ध आचरण करने लगे। वे अपने विचारो के अनुरूप धर्म की व्याख्या करने लगे। जूता पहनने का भी उद्देश्य केवल चरणरक्षा नही रह गया और भिक्षु जूते-चप्पल पहनने मे फैशन का ध्यान रखने लगे। अब अनेक प्रकार के चमडो तथा पक्षियो के पखो से निर्मित जूते पहनने की प्रथा चल पडी। सादे जूतो के स्थान पर रग-बिरगे जूते पहने जाने लगे। विनय-पिटक के अनुसार इस प्रकार के नियम-विरुद्ध आचरण षड्वर्गीय करते थे,[114] लेकिन सभी नियमभंग का दोष उनके ही ऊपर मढ दिया गया है, अत यह सोचना अयथार्थ होगा कि अन्य भिक्षुओं ने अलंकरण के विचार से जूते-चप्पल नही पहना होगा।

यद्यपि भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया, किन्तु धर्म-प्रचार के आदिकाल मे भोजन-वस्त्र-सम्बन्धी उनके विचार तथा व्यवहार तत्कालीन तापसों के समान थे। अन्तर इतना ही था कि बुद्ध मानव-शरीर को कठोर यातना देने के विरुद्ध थे। उन्होने वस्त्र के सम्बन्ध मे भिक्षुओ को यह उपदेश दिया कि वे कूडे के ढेर से चीथडे चुनकर अपने पहनने के लिए चीवर बनावे।[115] विनय-पिटक मे भगवान् बुद्ध को भी कूडे के ढेर से जीर्णवस्त्र चुनते हुए बतलाया गया है।[116] अट्ठकथा के अनुसार पासुकूल चीवर धारण करने की

प्रथा बीस वर्षों तक प्रचलित रही (अर्थात् भगवान् की सबोधि के २० वर्ष व्यतीत होने तक)।[117] जब श्रद्धालु उपासक भिक्षुसघ को बडी सख्या मे चीवर दान करने लगें, तो बुद्ध ने भिक्षुओ को नव-चीवर धारण करने की अनुमति दे दी।[118] पासुकूल अथवा नव-चीवर पहनना ऐच्छिक था। अहिंसा की भावना से प्रेरित होकर बुद्ध ने रेशम और ऊन के धागो से निर्मित वस्त्र धारण करने का निषेध किया।[119] मृगचर्म धारण करने के निषेध के मूल मे भी अप्राणि-हिंसा की ही भावना की। श्रद्धालु उपासक सभी प्रकार के वस्त्र सघ को दान मे देने लगे। उपासको की भावनाओ को ठेस न पहुँचे इस उद्देश्य से बुद्ध ने ' वस्त्र सम्बन्धी अपने पूर्वनिर्धारित नियमो मे सशोधन किया। तदनुसार, अब भिक्षु रेशम, ऊन, कपास, साण तथा क्षौम के धागो से निर्मित चीवर धारण करने लगे।[120] प्रारभ मे सभी वस्त्र गोबर तथा पीली मिट्टी से रग कर पहने जाते थे,[121] जिसका उद्देश्य अनाकर्षक दीखना था। कालान्तर मे वस्त्रो को ६ प्रकार के रगो से रग कर पहनने की अनुमति दी गयी।[122]

भिक्षु-जीवन का यह आदर्श माना गया था कि न्यूनतम वस्त्र से काम चलाया जाय, परन्तु जब इस आदर्श के निर्वाह मे भिक्षुओ को उदासीन पाया गया, तो पहनने के चीवरो की सख्या निर्धारित कर दी गयी। प्रत्येक भिक्षु को अपने उपयोग के लिए तीन चीवर—सघाटी, उत्तरासग और अन्तरवासक रखने की अनुमति मिली।[123] यदि बौद्ध-भिक्षु ब्राह्मण-तापसो के समान नित्य स्नान का आचरण करते, तो इतने सीमित वस्त्रो से उन्हे कष्ट होता, परन्तु वे तो सामान्यतया प्रतिपक्ष एक ही बार स्नान करते थे। केवल ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल, रुग्णावस्था तथा यात्रा मे वे अधिक बार स्नान किया करते थे।[124] वर्षाकाल मे उपयोग के लिए भिक्षुओ को वार्षिकशाटिका नामक एक अतिरिक्त वस्त्र दिया जाता था।[125] यह लुंगी के समान था जिसे भीगने पर पहना जाता होगा। भिक्षुणियो को उदकसाटि नामक वस्त्र दिया जाता था जिसका उपयोग वे स्नान करने के समय अथवा ऋतुकाल मे करती थी।[126] शय्या की स्वच्छता के विचार से चर्मरोग से ग्रस्त भिक्षुओ को प्रतिच्छादन नामक कोपिन-समान एक वस्त्र दिया जाता था।[127] सघ ने भिक्षुओ को बिछावन का चादर, मुख पोछने का वस्त्र, जल छानने का कपडा और एक थैला देने की भी व्यवस्था की थी। जल को वस्त्र से छानकर पीने का नियम था। प्राय. सभी तापस पानी को छानकर पीते थे, क्योकि जल मे छोटे-छोटे प्राणियो के अस्तित्व की सभावना रहती है।

भिक्षुओं को पहनने के लिए जो चीवर प्राप्त होते थे उसके दाता उपासक थे, पर वे भिक्षुओ को प्रत्यक्ष-दान नही देते थे। वे तो भिक्षुसंघ को चीवर-दान कर देते जो उनका वितरण भिक्षुओ को करता। भिक्षु नित्य भ्रमण-शील रहते थे, अत: प्रश्न उठता है कि कौन भिक्षु किस क्षेत्र के भिक्षु-सघ से चीवर प्राप्त करने का अधिकारी होता। इस सम्बन्ध मे इस नियम का पालन होता था कि जो भिक्षु जिस क्षेत्र में वर्षावास करता उसे उसी क्षेत्र के भिक्षुसघ से चीवर मिलता। यदि वह दो क्षेत्रो मे वर्षावास करता, तो जिस क्षेत्र मे उसके वर्षावास का अधिकाश समय व्यतीत होता, उसे उसी क्षेत्र के सघ से चीवर माँगना पडता। यदि दोनो स्थानो के वर्षावास काल मे समानता होती, तो वह दो सघो से अपने चीवर का आधा-आधा भाग माँग सकता था।[१२८] जब चीवर उपासको द्वारा सघ को दान कर दिये जाते, तब उनपर सघ का स्वामित्व स्थापित हो जाता था। भिक्षुओं में चीवरों के वितरण के लिए एक चरित्रवान भिक्षु की नियुक्ति सघ द्वारा विधिवत् की जाती थी।[१२९] निष्पक्ष एव सदाचारी व्यक्ति ही वस्त्र-वितरण के कार्य मे न्याय का समुचित निर्वाह करने मे समर्थ हो सकता था, अत: उच्चचरित्र-सम्पन्न व्यक्ति को यह कार्यभार सौंपा जाता था। वितरण के पूर्व चीवरो का उत्कृष्टानुत्कृष्टतानुसार पृथक्करण कर लिया जाता था।[१३०] संभवत: भोजन तथा आवास के समान वरिष्ठ भिक्षुओ को उत्तम श्रेणी के चीवर आवंटित किये जाते होगे और श्रामणेरो को साधारण कोटि के।

बुद्ध ने भिक्षुओ के लिए आभूषण पहनने का निषेध किया था, परन्तु किसी-किसी विहार मे कतिपय ऐसे भिक्षु भी वास करते थे जो कुडल, कर्णपूर, हार, मेखला, वलय, अँगूठी आदि पहना करते थे।[१३१] यह कहना कठिन है कि कब भिक्षुओ ने आभूषण पहनना आरम्भ कर दिया। आभूषण के समान ही विलेपन का भी निषेध था, परन्तु चर्मरोग हो जाने पर विलेपन का प्रयोग वर्जित नही माना जाता था।[१३२] ऐसे भी नेत्राजन लगाने की प्रथा का भिक्षुओ मे व्यापक प्रचार के वर्णन मिलते हैं। महावग्ग मे उल्लेख मिलता है कि भिक्षुओ को पाँच प्रकार के अजनों, अर्थात् कृष्णानुसारि, सोत, रस, गेरूक, तथा कपल्ल के प्रयोग की अनुमति दी गयी थी।[१३३] इन अंजनों को सुवासित किया जाता था—तगर, चदन, कृष्णानुसारि, कालिय तथा अद्रमुक्तक से। प्रत्येक भिक्षु अपने पास अस्थि, हाथी दाँत, सीग, बाँस, काष्ठ, कास्य, आदि के बने अंजनपेटिका रखा करता।[१३४] बहुमूल्य होने के कारण स्वर्ण-रजत-निर्मित अंजनपेटिका रखना वर्जित था।

छोटी-छोटी वस्तुओ को रखने के लिए जो थैला भिक्षुओ के पास रहता था उसीमे अजनपेटिका को डाल दिया जाता ।[१३५]

जातको मे कुछ शौकीन भिक्षुओ के भी उल्लेख मिलते हैं जो भिक्षु-जीवन के अनुशासन के विरुद्ध शरीरालकरण किया करते थे । चुल्लनारद-जातक (४७७) मे एक ऐसे भिक्षु का वर्णन मिलता है जो अपने शरीर को सजाने-सँवारने मे व्यस्त रहता था । उसमे नाममात्र की भी ज्ञान-पिपासा का अभाव था । अन्य भिक्षु तो आध्यात्मिक साधना मे रत रहते, पर वह तल्लीन रहता—अपने फैशन मे । वह नेत्रो मे अजन लगाता, लम्बे केश रखता, मूल्यवान् परिधान पहनता और पात्र भी रग-बिरगे तथा मूल्यवान् रखा करता । इस प्रकार के वर्णन बौद्ध विहारो के इतिहास मे उस काल की ओर इगित करते हैं जब उनमे भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था ।

भक्ष्याभक्ष्य—अन्य तापसो के समान भिक्षु-सम्प्रदाय मे भी खाद्याखाद्य का विचार किया जाता था, परन्तु इस विषय मे बौद्ध-सघ ने रूढ़ नियम नही बनाये । मासाहार का निषेध होने पर भी अवस्था-विशेष मे उसे अखाद्य नही माना गया । दुर्भिक्ष-काल मे गृहस्थ भिक्षुओ को अनेक पशुओ के मास भिक्षा मे दे देते थे जिन्हे वे ग्रहण कर लेते थे ।[१३६] मद्यपान भी वर्जित था, परन्तु औषधि के रूप मे मदयाश लेना सर्वथा निर्दोष माना गया । रुग्ण भिक्षुओ को मद्यमिश्रित तैल-क्वाथ पीने की स्वतन्त्रता थी ।[१३७]

जलमिश्रित लवणात्मक यवागू बौद्ध-भिक्षुओ का प्रिय पेय माना जाता था ।[१३८] दुग्ध-भात भी अत्यन्त सुस्वादु पेय माना गया था । भगवान् बुद्ध ने इस पेय के गुणो की बडी प्रशंसा की और इसे जीवन, आनन्द तथा शक्ति का स्रोत कहा ।[१३९] दुग्ध-भात मे शहद भी मिलाया जाता था । प्राय. प्रातःकाल के जल-पान मे भिक्षुओ को मधुमिश्रित दुग्ध-भात दिया जाता था, परन्तु जिस दिन भिक्षुओ को किसी उपासक के घर मे दिन के भोजन का निमन्त्रण रहता, उस दिन दुग्ध-भात के जलपान का निषेध किया गया, क्योंकि सबेरे पेट भर लेने पर वे उपासको के यहाँ अल्पाहार कर उन्हे रुष्ट कर देते थे ।[१४०] सभी नियमो मे परिस्थिति के अनुरूप हेर-फेर कर दिया जाता था, जैसे—रोगी को तेल मे मिलाकर भालू, शूकर, मत्स्य तथा ग्राह की चर्वी पीने को दिये जाने के उल्लेख मिलते है ।[१४१]

भिक्षुणियाँ— विनय-पिटक मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भगवान् बुद्ध नारी-जाति को भिक्षु-धर्म की दीक्षा देने के सर्वथा विरुद्ध थे ।

वे तो आनन्द के तर्क तथा अनुरोध के सामने झुक गये। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य तथा प्रव्रज्याकाक्षिणी नारियो के अनुरोध को स्वीकार तो कर लिया, पर उन्हे इससे आन्तरिक आनन्द नही मिला। बौद्ध भिक्षु-संघ मे नारी की विद्यमानता के भावी दुष्परिणामो से वे आशकित हो उठे थे जो उनके इन शब्दो में व्यक्त हुए— 'हे आनन्द, यदि स्त्रियो को गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा विनय के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी गयी होती तो हे आनन्द, यह विशुद्ध धर्म चिरस्थायी होता, हे आनन्द, तब यह सद्धर्म सहस्रो वर्षों तक स्थिर रहता, परन्तु हे आनन्द, अब स्त्रियो को वह अधिकार प्रदान कर दिया गया, अत यह विशुद्ध धर्म, आनन्द अब मात्र पाँच सौ वर्षों तक स्थिर रह पायगा।'[१४२]

नारी को प्रव्रज्या का अधिकार प्रदान करने के विषय मे न केवल भगवान् बुद्ध, अपितु समस्त विश्व के सन्यासी इसके विरुद्ध थे। जिन धार्मिक सस्थाओ मे वैराग्य की प्रमुखता है वहाँ स्त्री की उपस्थिति से पुरुष की आध्यात्मिक साधना मे व्यवधान होने की सम्भावना की उपेक्षा नही की जा सकती। बुद्ध ने अनुभव किया कि बौद्ध भिक्षु-सघ मे भिक्षुणियो की उपस्थिति के फलस्वरूप कतिपय भिक्षु सघ के उच्च नैतिक आदर्शों से च्युत हो जायँगे। अतः वे भिक्षुणी सघ की स्थापना के विरुद्ध थे। नारी-जाति को प्रव्रज्या के अधिकार से वंचित रखने का एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि पुरुष अपनी दुर्बलताओ का आरोप स्त्री के दुश्चारित्र्य पर करता रहा है, अत. सन्यासी को नारी से दूर रहकर लक्ष्यसिद्धि मे सफलता दीखती है। वानप्रस्थ-आश्रम मे नारी को अरण्य-वास की अनुमति प्रदान की गयी, परन्तु यह बौद्ध-सघ से असमान परिस्थिति के कारण सम्भव हुआ। यौवन के अवसान पर जब मनुष्य की वासनाएँ प्रसुप्त होने लगती हैं, तब गृहस्थ वानप्रस्थाश्रमी बनता था और पति-पत्नी साथ-साथ निवृत्तिमार्ग मे अग्रसर होते थे। दूसरी ओर बौद्ध-संघ मे व्यक्ति पन्द्रह वर्ष की वय मे ही श्रामणेर बन जाता था। इस अपरिपक्व वय मे स्त्री-सान्निध्य से व्यक्ति की दलित-वासनाओ के प्रबल-वेग से प्रज्वलित होने की पूरी सभावनाएँ रहती हैं। बौद्ध-सघ मे युवा भिक्षु और युवती भिक्षुणियो की उपस्थिति से अनेक जटिल समस्याओ के उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ थी। अतः भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध कलुषित न हो, इस विचार से यह नियम बनाया गया कि यदि कोई श्रामणेर किसी भिक्षुणी के सग सहवास करेगा, तो उसे भिक्षु-सघ से निष्कासित कर दिया जायगा,[१४३] परन्तु, जैसा कि इस अध्याय मे आगे

बतलाया जायगा, भिक्षुणियो की उपस्थिति के कारण बौद्ध-संघ मे बडा भ्रष्टाचार होने लगा जिससे समाज मे उसकी बडी बदनामी हुई। स्त्रियो को सन्यास-जीवन से दूर रखने की प्रवृत्ति का एक अन्य कारण यह भी था कि प्राचीन काल की पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था मे स्त्री का स्थान पारिवारिक सम्पत्ति के एक अग-सदृश था। धर्मशास्त्र के अनुसार वस्तुतः कन्या अपने पतिकुल को प्रदान की जाती थी—'कुलाय हि दीयते नारी'। स्त्री-स्वातन्त्र्य का भी समाज मे विरोध हुआ जिसकी अभिव्यक्ति—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' जैसी उक्ति मे हुई। नारी के बाल्यकाल, युवावस्था यथा वार्द्धक्य मे क्रमशः पिता, पति एव पुत्र उसके सरक्षक माने गये थे। पति के प्रव्रजित हो जाने पर पुत्र नारी का सरक्षक हो जाता था। अत्यन्त उत्सुक होने पर भी याज्ञवल्क्य मुनि की पत्नियाँ प्रव्रजिन न हो पायी। अतः प्राचीन भारतीय धार्मिक एव सामाजिक वातावरण नारी के प्रव्रजित होने के विरुद्ध था।

धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओ के अतिरिक्त कतिपय व्यावहारिक समस्याओ के कारण भी भगवान् बुद्ध नारी को प्रव्रज्या का अधिकार प्रदान करने के पक्ष मे नही थे। यदि कोई नारी वन मे अरक्षित रहती, तो उसे समाज-विरोधी तत्त्वो का शिकार बनना पडता। विनयपिटक मे गुंडो द्वारा वन मे अरक्षित नारी के शीलभग करने का उल्लेख मिलता है।[१८४] यदि वे एकान्त स्थान मे स्नान भी करती रहती, तो गुंडे उस अवसर का लाभ उठाने से नही चूकते थे।[१८५] नारी को एकाकी पाकर दस्यु उनका अपहरण कर लेते थे। वानप्रस्थाश्रम मे जो स्त्रियाँ अपने पति का साथ नही छोडती थी उन्हे तपोवन मे पति का संरक्षण प्राप्त था, परन्तु बुद्ध को तो कठिन समस्या का सामना करना पडा। यदि वे स्त्रियो को भिक्षुणीधर्म मे दीक्षित कर साधना-हेतु वन मे भेजते, तो उनके गुडो तथा दस्युओ के चंगुल मे फँसने की सम्भावना रहती। यदि भिक्षुणियो को भिक्षुओ के साथ रहने की अनुमति प्रदान की जाती, तो उभयपक्ष के पथभ्रष्ट होने का भय बना रहता। अत. जब स्त्रियो को प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार मिल गया और वे भिक्षुणियाँ बनने लगी, तब यह व्यवस्था की गयी कि न तो वे एकाकी आवास के बाहर जायँ न किसी नदी की ओर, और न रात्रि में एकाकी वास करें या संघ के बाहर जायँ।[१८६]

यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि स्त्रियाँ प्रव्रजित होने के लिए इतनी उतावली क्यों होने लगी? वस्तुतः भगवान् बुद्ध के समकालीन समाज में प्रव्रजित होना एक फैशन-सा बन गया था, तो स्त्रियाँ ही इसमे पीछे क्यों रहती?

प्राय: स्त्रियाँ पुरुषापेक्षा अधिक धर्मभीरु होती भी हैं। धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वृद्धाएँ भिक्षुणी बनने लगी। विधवाएँ पतिवियोगजन्य कष्ट-सहन की अक्षमता के कारण धर्म-शरणागत होने लगा। थेरीगाथा मे उपलब्ध किसा गौतमी, सुन्दरी, चापा, इसिदासी, सोणा, शाक्य-कुमारियाँ आदि की प्रव्रज्या के विवरणो से स्त्रियो के वैराग्य के अनेक कारणो का पता चलता है। अनेक स्त्रियो को अपने सगे-सम्बन्धियो के मृत होने पर ससार से वैराग्य हो गया तो उन्होने भिक्षुणी बन जाने का निश्चय कर लिया। अपने पुत्र, पति, माता, पिता तथा भ्राता को खोकर पटाचारा पागल हो गयी। उस मनस्थिति मे उसे भगवान् बुद्ध की शरण मे जाकर शाति मिली। यही बात किसा गौतमी तथा सुन्दरी के साथ हुई। इस युग के युवको मे भिक्षु बनने की धुन सवार हो गयी थी। अनेकानेक नयुवक अपनी पत्नियो को असहाय छोड़कर भिक्षु बन गये। पति के भिक्षु बन जाने पर पत्नी के लिए यही विकल्प रह जाता था कि या तो वह आजीवन वियोग की अग्नि मे जलती रहे, असहाय अवस्था मे कष्ट झेलती रहे अथवा भिक्षुणी बनकर मानसिक शाति लाभ करे और अपने पति को भिक्षु-रूप में ही सही, आँखो से देखकर संतोष कर ले। भिक्षुओं की अनेक युवा-पत्नियो ने दूसरा विकल्प चुना। जब पाँच सौ शाक्यकुमार भिक्षु बन गये, तो उनकी पत्नियाँ वैशाली चली गयी और उन्होने आनन्द के माध्यम से भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि उन्हे भी प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाय। पति के भिक्षु होने पर चापा भी अपनी सन्तान को उसके पितामह के सरक्षण मे छोडकर पतिपथगामिनी हो गयी। जब किसी परिवार के अधिकाश सदस्य भिक्षु बन गये, तो उस परिवार की कुछ स्त्रियाँ भी ससार से विरक्त हो प्रव्रजित हो गयी। दाम्पत्य-जीवन की विफलता तथा पारिवारिक कलह के फल-स्वरूप भी अनेक स्त्रियो ने भिक्षुणी बनना अंगीकार किया। इसिदासी ने तीन बार विवाह किया, परन्तु सभी विवाह असफल रहे, तो वह भिक्षुणी बन गयी। अपने पुत्र तथा पुत्रवधुओ के अनादर से विक्षुब्ध होकर सोणा प्रव्रजित हो गयी। असफल प्रेम ने भी कतिपय स्त्रियो को भिक्षुणी बनाया। भद्दा नामक राजगृह की एक श्रेष्ठिकन्या एक दस्यु पर प्रेमासक्त हो गयी। उसने उस दस्यु की प्राण-रक्षा की, परन्तु उस कृतघ्न दस्यु ने एक दिन श्रेष्ठि-पुत्री की हत्या कर उसके मूल्यवान् आभूषणो को हस्तगत करने का विचार किया। इस षड्यन्त्र का आभास मिलने पर श्रेष्ठिकन्या ने उस दस्यु को मार डाला और स्वय भिक्षुणी बन गयी।

भिक्षुणियों की उपस्थिति से बौद्ध-संघ मे एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी।

अनेक गृहिणियो ने उस अवस्था मे प्रव्रज्या की दीक्षा ली जब वे गर्भवती हो चुकी थी, जिसका उन्हे कोई ज्ञान नही था। भिक्षुणी बन जाने के कुछ काल के अनन्तर जब उनमें गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे, तो सघ के अधिकारियो के लिए यह एक विकट समस्या बन गयी। चुल्लवग्ग[१४७] के अनुसार एक स्त्री को भिक्षुणी-धर्म की दीक्षा दी गयी। उस स्त्री के गर्भ मे बीजारोपण हो चुका था, पर वह उसमे अनभिज्ञ थी। कुछ समय व्यतीत होने पर उस भिक्षुणी मे गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे तो वह भावी संतान के पालन-पोषण के विषय मे चिन्ता करने लगी। अन्त मे सघ ने उसकी चिन्ता दूर कर दी। उस भिक्षुणी को अपनी सतान को शैशवकालपर्यन्त साथ रखने की अनुमति दे दी गयी और शिशु की देखभाल मे सहयोग प्रदान करने के लिए एक भिक्षुणी को भी साथ कर दिया गया। निग्रोधमिग-जातक (१२) मे भी इसी प्रकार के एक अन्य प्रसग का विवरण दिया गया है— 'राजगृह के एक धनाढ्य श्रेष्ठि की कन्या के मन मे वैराग्य उत्पन्न हो गया तो उसने अपने माता-पिता से प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु उस कुल की एकमात्र सतान होने के कारण उसके माता-पिता ने वैराग्यमार्ग के पथिक होने की अनुमति नही प्रदान की। अतएव उसने अपने मन मे विवाहोपरात पति से ही वैराग्य की अनुमति प्राप्त करने का निश्चय किया। यथासमय उसका विवाह सम्पन्न हो गया और वह अत्यन्त पतिपरायणा भार्या बन गयी। कुछ काल पश्चात् वह गर्भवती भी हो गयी, जिसका उसे पता नही चला और इसी बीच उसने भिक्षुणी बनने के लिए अपने पति की अनुमति प्राप्त कर ली। प्रव्रजित हो जाने के कुछ सुमय पश्चात् जब उसके शरीर मे गर्भ के लक्षण स्पष्ट होने लगे, तो अन्य भिक्षुणियो ने इसकी सूचना देवदत्त को दी। समाज मे इस बात का प्रचार हो जाने से संघ की बडी निन्दा होगी, ऐसा सोच कर देवदत्त ने तत्काल उस भिक्षुणी को सघ से निष्कासित कर दिया, परन्तु उस भिक्षुणी की प्रार्थना पर सघ मे देवदत्त के निर्णय पर विचार-विमर्श किया गया और एक भिक्षुणी पर इस बात का पता लगाने का भार सौपा गया कि गर्भ उसके सघप्रवेश के पूर्व का था अथवा पश्चात् का। जब यह निश्चित हो गया कि वह भिक्षुणी सघप्रवेश के पूर्व ही गर्भवती हो चुकी थी, तो निष्कासनादेश रद्द कर दिया गया। उसने यथासमय प्रसव किया। उस समय विहार के पार्श्व से कोशल-नरेश प्रसेनजित् की सवारी जा रही थी। उन्होने शिशु का क्रन्दन सुना, तो रुक गये। फिर यह विचार कर कि शिशु का पालन-पोषण भिक्षुणी किस प्रकार करेगी, स्वय इस भार को वहन कर लिया।' इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि यदि सघ मे किसी भिक्षुणी को गर्भ रह जाता, तो

नियमानुसार उसे संघ से निष्कासित कर दिया जाता, परन्तु जब कोई स्त्री उस वैध गर्भ के साथ जिससे वह अनभिज्ञ हो, प्रव्रजित हो जाती तो उसे संघ से निष्कासित नही किया जाता। सघ गर्भवती भिक्षुणी को प्रसव की सुविधाएँ प्रदान करता था और संतान के पालन-पोषण का भार प्रायः सद्‌गृहस्थ उठा लेते थे, परन्तु यदि कोई उपासक इस कार्य के लिए प्रस्तुत नही होता, तो शिशु आशैशवान्त सघ मे ही पलता।

भिक्षु-जीवन के आदर्श का ह्रास—जैसा कि ऊपर कहा गया है, पद्रह वर्ष की वय मे ही व्यक्ति प्रव्रज्या की दीक्षा लेकर बौद्ध भिक्षु-सघ मे प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता था। इस अल्पवय मे सांसारिक जीवन से विमुखता के फलस्वरूप अनेक भिक्षु संघ के उच्चादर्शों के पालन मे असफल हो जाया करते थे। कई भिक्षु स्त्री-सान्निध्य के कारण भ्रष्ट हो जाते थे, तो कई मन-विचलित होने पर सघ का परित्याग कर गृहस्थ बन जाते थे। पालि-जातको मे भिक्षुओं द्वारा व्यभिचार किये जाने की अनेक कथाएँ मिलती है। यद्यपि इन कथाओ का प्रमुख उद्देश्य भिक्षुओ को सासारिक प्रलोभनो से सचेत करना था, परन्तु सभी कहानियाँ निराधार नही मानी जा सकती। भिक्षुओ के भ्रष्टाचार-सम्बन्धी कहानियो मे इस तथ्य की प्रमुखता है कि नारी-सौदर्य के आकर्षण के कारण ही भिक्षु पथभ्रष्ट हो जाया करते थे। भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि सघ मे स्त्रियो की विद्यमानता के कारण संघ की पवित्रता पाँच सौ वर्षों से अधिक अक्षुण्ण नही रह पायगी। किशोर-वय के श्रामणेरो के स्त्रीससर्ग से भ्रष्ट होने की घटनाओ से आश्चर्य भी नही किया जा सकता है। विनय-पिटक मे कुन्तक नामक श्रामणेर द्वारा एक भिक्षुणी के साथ व्यभिचार किये जाने का उल्लेख मिलता है।[१४८] कतिपय श्रामणेर अथवा नवयुवक भिक्षु गृहस्थो की नवयुवती कन्याओ के रूपगुण पर जब मुग्ध हो जाते, तो फिर भिक्षुजीवन मे उनका मन नही लगता था जिससे वे सघ का परित्याग कर गृहस्थ बन जाते थे।[१४९]

भिक्षु-जीवन का परित्याग कर गृहस्थ बन जाने का कारण केवल नारी-ही नही था। अन्य कारणो से भी भिक्षु संघ को छोड़कर भाग जाते थे। कभी-कभी तो वरिष्ठ भिक्षुओ के दुर्व्यवहार के कारण नवयुवक भिक्षु-संघ से नाता तोड लेते थे। अहिगुण्डिक-जातक के अनुसार एक ग्रामीण युवक को प्रव्रज्या की दीक्षा दी गयी, पर एक वृद्ध भिक्षु द्वारा पीटे जाने पर उसने संघ का परित्याग कर दिया। कुछ नवयुवक भिक्षुओ को अपने माता-पिता के प्रयास से विवश हो भिक्षु-जीवन से विरत होना पड़ा। मज्झिम-निकाय के अनुसार राज-

गृह के श्रेष्ठिकुमार रट्ठपाल को उनके माता-पिता ने यत्नपूर्वक पुनः गृहस्थ बना लिया।[१५०] इसी प्रकार राजगृह के ही श्रेष्ठिकुमार तिष्य के प्रव्रजित हो जाने पर उनके माता-पिता ने एक दासी को उन्हे भिक्षु-जीवन से विरक्त करने के लिए नियुक्त किया और अत मे उन्हे सफलता मिली।[१५१] जब किसी भिक्षु के गृहस्थ-जीवन की पत्नी अथवा पत्नियाँ कातर हो उससे पुनः गृहस्थ-जीवन मे लौट जाने के लिए अनुनय करने लगती, तो उस अवस्था मे कई भिक्षुओ की प्रतिज्ञा भग हो जाती।[१५२] कभी-कभी भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ सघ छोडकर बौद्धेतर सम्प्रदायो मे चले जाते थे। यदि बौद्धेतर-मत स्वीकार करने वाले भिक्षु की आस्था बौद्ध-धर्म मे पुनः दृढ हो जाती, तो उसे बौद्ध-सघ मे वापस आने की अनुमति मिल जाती, परन्तु भिक्षुणियो को यह सुविधा नही दी गयी।[१५३] परिवास की अवधि पूर्ण होने के पूर्व जो भिक्षु-सघ छोडकर भाग जाते थे, उन्हे संघ-प्रवेश करने पर पुन परिवास का पालन करना पड़ता था।[१५४] महावग्ग के अनुसार न केवल नवागन्तुक, पर कतिपय उपज्झाय तथा आचार्य भी, भिक्षु-सघ का परित्याग कर या तो अन्य-मतावलम्बी बन जाते थे अथवा गृहस्थ हो जाते।[१५५]

ब्राह्मण-तापस तथा बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशक, जैसे—वर्द्धमान महावीर और मक्खलि गोसाल कठोर तप के पक्षपाती थे, परन्तु बुद्ध ने कठोर तप को निर्वाण के लिए अनावश्यक बतलाया। उन्होने मध्यम-प्रतिपदा का उपदेश दिया। उनके विचार मे आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर एव मन को अत्यधिक कष्ट देना अनावश्यक है; इसके बिना भी आत्मज्ञान संभव है। अतएव उन्होने भिक्षु-जीवन के जो नियम बनाये उनमे कठोर तप को स्थान नही दिया गया। भिक्षुओ को जीवन की अनेक सुविधाएँ प्रदान की गयी। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया कि भिक्षुओ को कम-से-कम असुविधाओ का समान करना पडे। भिक्षु-सघ मे समाज के सभी वर्ग के लोग विद्यमान थे। कई भिक्षओ ने भिक्षु-जीवन को अपनी आध्यात्मिक उत्कर्ष के सर्वथा उपयुक्त समझा और वे साधना मे लीन हो गये। कुछ ऐसे लोग भी भिक्षु बन गये थे जिनमे आध्यात्मिक साधना की सच्ची लगन का अभाव था। संघ मे जो सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थी उनसे इन भिक्षुओ को तुष्टि नही हुई और ये अधिकाधिक आराम की व्यवस्था के लिए प्रयास करने लगे। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नियम उन्हे कष्टसाध्य लगे। इसी वर्ग के भिक्षुओ ने वैशाली की बौद्ध सगीति मे दस निषाधादेशो को रद्द करने का प्रयत्न किया।[१५६] यह भी कहा जाता है कि कतिपय भिक्षु इन निषिद्ध मों का खुलमखुल्ला आचरण करने लगे। पालि-पिटक मे इस बात के संकेत

मिलते हैं कि कुछ भिक्षु भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आदर्शों के पालन में अक्षम रहे। इसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं— प्रथम तो यह कि सभी भिक्षुओं में चरित्र की दृढ़ता का अभाव था तथा दूसरा, उपासको की अतिभक्ति, जिससे भिक्षुओं को सुख-सुविधाओ की प्रचुर सामग्री अनायास मिलती रही।

रजत-स्वर्ण का संग्रह भिक्षु के लिए वर्जित था, परन्तु चुल्लवग्ग[१५७] तथा जातको से प्रतीत होता है कि कतिपय अर्थलोलुप भिक्षु धनसंग्रह करने लगे। मच्छ-उदान-जातक (२८८) में एक श्रामणेर द्वारा अपने उपज्झाय के एक सहस्र कार्षापणो को हड़प लेने का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उपज्झाय तथा आचार्य को धन प्राप्त होने लगे थे। इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि कतिपय भिक्षु इस चेष्टा मे रहने लगे कि उन्हे कही-न-कही से सुस्वादु भोजन का निमंत्रण मिला करे[१५८]। बौद्ध-सघ के प्रारम्भिक काल मे किसी प्रकार के भी निमत्रण मे जाने के लिए अनुमति प्रदान करना विशिष्ट सुविधा मानी जाती थी। सादा-से-सादा जीवन व्यतीत करना, शरीर की सुविधा के लिए सीमित वस्तुओ का उपयोग करना तथा ऐश्वर्य की सामग्री का स्पर्श नही करना ही तो भिक्षु-जीवन के प्रमुख आदर्श थे, परन्तु श्रद्धालु उपासक भिक्षुओ को अनेक उपयोगी वस्तुओ की भेंट करने लगे। भिक्षा-पात्र, चीवर, सूचिपात्र, मेखला इत्यादि वस्तुएँ भिक्षु-जीवनके लिए आवश्यक थी, अतः बुद्ध ने इन उपहारो को ग्रहण करना उचित समझा। कालान्तर मे उपासक विहारो को ऐश्वर्य-सामग्री का भी दान करने लगे, तो भिक्षुओ ने यह विचार कर कि उपासको को दुख न हो, उन्हे स्वीकार किया, परन्तु कतिपय भिक्षु ऐश्वर्य-सामग्री का उपभोग भी करने लगे, जो भिक्षु-जीवन के आदशो के विपरीत था। विनय-पिटक[१५९] मे इसका उल्लेख हुआ है कि षड्वर्गीय भिक्षु गद्देदार कुर्सियाँ, मच, सचित्र उत्तरच्छत, सोना-चाँदी का काम किया हुआ कालीन, अनेक प्रकार की कुर्सियाँ, सोफा, इत्यादि का उपयोग करने लगे। यद्यपि इस तरह के संघ-विरुद्ध कर्म का दोषारोपण षड्वर्गीयो पर किया गया है, पर अन्य सभी भिक्षु इससे वंचित रहे होगे इसमे सदेह है।

कालान्तर मे जब अनेकानेक विहारो का निर्माण हो गया, तो कही-कही भिक्षु भ्रष्टजीवन व्यतीत करने लगे। चुल्लवग्ग[१६०] मे कीटागिरि नामक एक विहार का उल्लेख किया गया है जहाँ के भिक्षु अनेक प्रकार के सासारिक सुखो मे लिप्त हो गये थे। जब एक भिक्षु वाराणसी से श्रावस्ती जा रहा था तब उसे मार्ग में इस

बिहार को देखने का अवसर मिला। उसने देखा कि कीटागिरि विहार के भिक्षु मञ्जरिका, विधुतिका, वतंसक, आवेल, उरच्छद आदि नाम की पुष्पमालाएँ बनाकर प्रतिष्ठित कुलो की गृहणियों, कन्याओ, नवयुवतियो, पुत्र-वधुओ तथा दासियों को उपहार मे देने लगे थे। उसने भिक्षुओ को कुसमय भोजन तथा मद्यपान, नृत्य, गीत, वादन, खेल-कूद, द्यूत, रथ-दौड, तीरदाजी, हाथी-घोडे की सवारी, तलवार चलाना, मल्लयुद्ध तथा मुक्केबाजी मे भाग लेते हुए देखा। उस विहार मे नर्तकियो को भी आमन्त्रित किया जाता था। महाकण्ह जातक (४६९) के अनुसार कई विहारो मे भिक्षु-भिक्षुणियो को सन्तान उत्पन्न होने लगी थी। इस प्रकार के वर्णन नि सदेह चुल्लवग्ग तथा जातक मे उत्तर-काल मे जोड दिए गए हैं। चुल्लवग्ग का वर्णन तो बिल्कुल अविश्वसनीय प्रतीत होता है, परन्तु उसमे इतना सत्याश अवश्य है कि कुछेक विहारो मे भिक्षु-जीवन के आदर्शों का सर्वथा लोप हो गया था।

कीटागिरि विहार के समान कतिपय विहारो के अस्तित्व के कारण ही भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध कही-कही आदर्श नही रह गये। कही-कही भिक्षु-भिक्षुणी मे अनैतिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे। चुल्लवग्ग[१६२] मे कहा गया है कि षड्वर्गीय भिक्षु अपने जघो या गुप्तागो को विवृत कर भिक्षुणियो को दिखलाया करते, उन्हे अश्लील शब्दो से सबोधित करते या उनके साथ व्यभिचार करते। पानीय-जातक (४५९) के अनुसार प्रव्रजित होने पर भी कई व्यक्ति सासारिक वासनाओ के प्रति अपनी आसक्ति दूर करने मे असमर्थ हो पापपूर्ण विचारों मे मग्न रहा करते थे। मानसिक व्यभिचार शारीरिक पाप का प्रथम चरण है और सभवत· मन मे पाप को प्रश्रय देने के कारण भिक्षु शारीरिक पाप मे प्रवृत्त होने लगते थे। भिक्षु-भिक्षुणियो की सन्तानोत्पत्ति के उल्लेख नि सदेह अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इसमे इतना ही सत्य माना जा सकता है कि कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणी-सम्बन्ध आदर्श नही रह पाते थे।

कई विहारो मे भिक्षु-जीवन के उच्चादर्शों के लोप होने के अतिरिक्त एक विचित्र बात यह भी हुई कि कतिपय भिक्षु मुख्य विहार से अलग आवास बना कर उनमे सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ लोग प्रव्रजित तो हो जाते थे पर वे अपने पारिवारिक बधनो से मुक्त नही हो पाते थे। देवधम्म-जातक (६) के अनुसार श्रावस्ती के एक श्रेष्ठि ने प्रव्रज्या ग्रहण की, परन्तु वह भिक्षु-जीवन के आदर्शों के अनुरूप जीवन-यापन करने मे असफल रहा—'उसने मुख्य विहार के पार्श्व मे अपने रहने के लिए कक्ष, अग्नि-गृह तथा भाडागार बनवाया और जब उसके भाडागार मे घी, चावल तथा अन्य उपयोगी सामग्री का प्रचुर मात्रा में सग्रह

हो गया, तभी उसने अंतिम रूप से भिक्षु-धर्म को स्वीकार किया। भिक्षु बन जाने पर भी वह श्रेष्ठि अपने रसोइयो से मनोवाछित भोजन बनवाता, दिन तथा रात के लिए अलग-अलग वस्त्र धारण करता और इस प्रकार वह सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।' कभी-कभी तो अनेक भिक्षु एक साथ विहार के निकट आवासो का निर्माण कर अपने ढग से रहने लगे। काक-जातक (१४६) के अनुसार एकबार श्रावस्ती के कई धनाढ्य वृद्ध प्रव्रजित हो गये, परन्तु वार्द्धक्य के कारण भिक्षुधर्म के पालन मे उन्हें सफलता नही मिली। मित्र होने के कारण उन्होने एक-साथ रहने का विचार किया और वे विहार के निकट पर्णशालाओ का निर्माण कर रहने लगे। जब वे चारिका के लिए निकलते तो अपनी पत्नियो तथा सन्तान से मिलने चले जाते और वही भोजन करते। ऊपर के विवरण से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बौद्ध भिक्षु-संघ के इतिहास मे एक युग ऐसा भी आया जब कही-कही भिक्षु अपने लिए स्वतंत्र आवास की व्यवस्था कर उनमे सामान्य भिक्षु-जीवन के विपरीत सुख-सुविधा-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने लगे।

विहारों के पदाधिकारी— भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-सघ की सुव्यवस्था एवं उसके विभिन्न कार्यों के सुसचालन के लिए आवश्यक पदाधिकारियों की नियुक्ति की अनिवार्यता का अनुभव किया। अत. आवश्यकतानुसार अनेक पदाधिकारियों को नियुक्त किया गया जो सघ के विभिन्न प्रकार के कार्यों का सचालन करने लगे। वे प्रत्येक भिक्षु की आवश्यकताओं का ध्यान रखने लगे। इस प्रकार भिक्षु-संघ के सभी कार्य सुव्यवस्थित हो गये। कोई विहार ऐसा नही रह गया जहाँ अव्यवस्था होती और भिक्षुओ को इससे कष्ट उठाना पडता। किसी भी शासन की सफलता के लिए प्रशासकीय पदाधिकारियो का चरित्रवान् तथा कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य होता है। बौद्ध भिक्षु-सघ की सुव्यवस्था का श्रेय उन भिक्षु-पदाधिकारियो को है जो कर्त्तव्यपरायण एव आचारनिष्ठ थे। बौद्ध-सघ मे प्रमुख समस्या आध्यात्मिक थी, फिर भी भिक्षुओ की थोडी-बहुत भौतिक आवश्यकताएँ थी, क्योंकि बौद्ध-धर्म के मध्यममार्ग में समस्त सुख-सुविधाओ का परित्याग अनिवार्य नही माना गया। अतः भिक्षुओ को जिन वस्तुओ के उपयोग की अनुमति दी गयी, उन वस्तुओ की उपलब्धि तथा उनका भिक्षुओं के बीच न्यायपूर्ण विभाजन सघ का दायित्व था। बौद्ध विहारों में भिक्षुओ की संख्या न्यून नही होती थी और भिक्षुओं के पारस्परिक सम्बन्धो से भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थी जिनका समुचित समाधान ढूंढना

अत्यावश्यक था। इन सबो की यथोचित व्यवस्था प्रत्येक विहार मे की गयी। यहाँ पर हम प्रमुख रूप से सघ द्वारा विहारो के प्रशासन पर विचार करेंगे।

बौद्ध सघ एक बृहत् संस्था थी जहाँ भिक्षुओ मे मतभेद, कलह, प्रतिस्पर्धा आदि होने की सभी सभावनाएँ थी, अतः सघ-सचालको के समक्ष इनसे बचाव तथा भिक्षुओ मे मैत्री-भावना के विकास की समस्या प्रमुख थी। उनका लक्ष्य भिक्षुओ मे उच्च नैतिक आचरण के ह्रास को रोकना भी था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पातिमोक्ख की व्यवस्था की गयी। उपोसथ-दिवस मे भिक्षु पातिमोक्ख का पाठ करते थे। यह भिक्षुओं की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन था। यह हुई, विशेष व्यवस्था। सामान्य व्यवस्था यह थी कि भिक्षुओ को अपने उपज्झायो एव आचार्यों से दिन-प्रति-दिन नैतिक एव आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध कराया जाता था। सघ-प्रवेशार्थियो को भिक्षुधर्म मे दीक्षित करना भी एक प्रमुख समस्या थी—इसके लिए विधिवत् पब्बजा (प्रव्रज्या) तथा उपसम्पदा दीक्षाओ की व्यवस्था की गयी। अनुशासन की स्थापना तो सर्वोपरि थी और इसके लिए भी सारी व्यवस्था की गयी। अनुशासन कई तरह के थे और अनुशासन-भग के दण्डस्वरूप अनेक प्रकार के प्रायश्चितो का विधान किया गया। बौद्ध-सघ की यह विशेषता थी कि अनुशासन के नियमो को जनतात्रिक पद्धति से लागू किया गया, जिससे सघ की व्यवस्था एक सुनियत्रित एव अनुशासित जनतत्र-सदृश हो गयी। भिक्षु-सघ के सभी कार्य बहुमत के समादर द्वारा सम्पन्न होते थे।

जहाँतक भिक्षुओ की भौतिक आवश्यकताओ का प्रश्न है, सघ की सुव्यवस्था केकारण किसी भी भिक्षु को अपनी आवश्यक वस्तुओ को प्राप्त करने मे किसी तरह की कठिनाई नही होती थी। सघ के पदाधिकारी, जो विभिन्न विभागीय कार्यों के लिए नियुक्त किये जाते थे, भिक्षुओ को उनकी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराते थे। पदाधिकारियो की नियुक्ति सघ द्वारा विधिवत् की जाती थी।[१६२] नियुक्ति की विधि यह थी कि सर्वप्रथम उम्मीदवार की सम्मति प्राप्त की जाती, पश्चात् सघ मे ञत्ति पारित की जाती, जिस पर सघ की स्वीकृति मिल जाने पर सम्बद्ध भिक्षु की पदविशेष पर नियुक्ति सम्पन्न हो जाती थी। भिक्षुओ के विश्वासपात्र तथा श्रद्धास्पद और निष्पक्ष, निर्भीक, निर्मोही तथा अनासक्त भिक्षु सघ के प्रशासकीय पदो के लिए उपयुक्त पात्र समझे जाते थे।[१६३] उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे लोभ, घृणा, मोह तथा भय सदृश दुर्गुणो से मुक्त हो। इन चारित्रिक विशेषताओ के साथ पदाधिकारी भिक्षु को अपने कार्य

का पूर्ण ज्ञान होना भी आवश्यक था। यदि उसकी नियुक्ति आवास-गृहों के आवटन के लिए की जाती, तो उसके लिए उपलब्ध आवासों की संख्या, तथा जिन भिक्षुओ के लिए आवासों की व्यवस्था करनी रहती है, उनकी संख्या का ज्ञान होना आवश्यक माना जाता था। इसी प्रकार यदि किसी भिक्षु को चीवर-वितरण का कार्य सौंपा जाता, तो उसे उपलब्ध चीवरो की सख्या तथा जिन भिक्षुओ को चीवर दिये जाते और जिनको नही मिलते, उनकी सख्या जानना अपेक्षित था।

बौद्ध-धर्म के आदिकाल मे भिक्षु विहारों मे वास नही करते थे। वे अपने रहने के लिए पर्णकुटियो का निर्माण कर लेते थे, अतः उन दिनो उनके लिए आवास की व्यवस्था कोई बडी समस्या नही थी। जब भिक्षु सघारामों और विहारो मे रहने लगे, तो उनके लिए समुचित आवास की व्यवस्था सघ का प्रमुख दायित्व हो गया। सभी विहारो पर सघ का स्वामित्व था, अतः संघ द्वारा आवासो का वितरण भिक्षुओ मे कर दिया जाता था। इस कार्य के सपादन के लिए जिस भिक्षु को नियुक्त किया जाता वह शयनासनप्रज्ञापक[१६४] कहलाता था। इस बात का ध्यान रखना उस पदाधिकारी का कर्त्तव्य था कि कोई भी भिक्षु आवास-विहीन न रहे। यदि कोई भिक्षु किसी अन्य विहार से आता तो शयनासनप्रज्ञापक को इसकी सूचना मिलने पर वह तत्काल आगत-भिक्षु के लिए आवास की व्यवस्था कर देता। आराम की देखभाल तथा सुव्यवस्था के लिए जिनको नियुक्त किया जाता था वे आरामिक कहलाते थे और वे आरामिकप्रेषक नामक पदाधिकारी के नियत्रण मे कार्य करते थे।[१६५] उपासक ही सघ को विहारो का दान करते थे और इस विचार से कि विहारो का निर्माण भिक्षुओ के आवास के उपयुक्त हो, वे सघ को विहार-निर्माण के निर्देशन का अधिकार प्रदान कर देते। अत. सघ इस कार्य के लिए एक भिक्षु को नियुक्त करता था और इस प्रकार सभी विहार भिक्षुओ की देखरेख में निर्मित होते थे।[१६६]

आवास के पश्चात् दूसरी प्रमुख समस्या थी, वस्त्र की। उपासक चीवरो का दान सघ को कर देते थे और उसके बाद भिक्षुओं में उनके वितरण का कार्य संघ सम्पन्न करता था। अतः चीवारो को समुचित ढंग से उपासको से ग्रहण करने, फिर उनकी उचित देखभाल तथा वितरण आदि के कार्यभार अलग-अलग भिक्षुओ को सौंपे जाते थे। जो भिक्षु उपासको से चीवर ग्रहण करता वह चीवर-प्रतिग्राहक[१६७] कहलाता था। अव्यवस्थित ढग से दानग्रहण करने के कारण दाता उपासको को नैराश्य न हो, इस विचार से चीवरप्रतिग्राहक की नियुक्ति

की जाती होगी। सघ का लक्ष्य था कि उसके व्यवहार से उपासको को कदापि दु.ख न पहुँचे। चीवरप्रति ग्राहक का कार्य प्रतिग्रहणमात्र था। चीवरो की देख-भाल के लिए चीवर-निदहक[१६८] नियुक्त किया गया था। इसका कार्य यह देखना था कि उपेक्षा के कारण चीवर गदे अथवा नष्ट न हो। इसके लिए यह आवश्यक हो गया कि चीवरो को भाडार मे ठीक से रखा जाय। अत. चीवर रखने के लिए भाडार बना और एक भाडागारिक[१६९] भी नियुक्त किया गया। जब उपासको से चीवरो का प्रतिग्रहण किया जाता और उनको समुचित ढग से भाडार मे स्थापित कर दिया जाता, तब भिक्षुओ मे उनका वितरण किया जाता था। चीवरो का वितरण चीवरभाजक[१७०] का कार्य था। अधोवस्त्र प्रति-ग्रहण करने और सभवत. उनके वितरण का कार्य शाटिकाग्राहक को सौंपा गया था।[१७१]

तीसरी प्रमुख समस्या थी, भोजन की व्यवस्था। इस कार्य के लिए भी भिक्षु-पदाधिकारियो को नियुक्त किया गया। खाद्यभाजक[१७२] भिक्षुओ मे शलाका वितरण करता था, जिसे दिखलाकर वे भोजनशाला मे भोजन करते थे। जैसा अन्यत्र कहा गया है, उपज्झायो तथा आचार्यों को महीन चावल के भात के लिए शलाका दिये जाते थे और श्रामणेरो को साधारण कोटि के भात के लिए। उपासको से निमन्त्रण मिलने पर जब थोडे से चुने हुए भिक्षुओ को भोजन के लिए भेजना पडता तो उसके लिए भी शलाका बाँटे जाते थे। यह कार्य भक्त-उद्देशक[१७३] करता था। यह व्यवस्था दुर्भिक्ष-काल मे की गयी थी जब उपासको कोअधिक भिक्षुओ को भोजन कराने में असुविधा होती थी। यवागूभाजक तथा फलभाजक क्रमशः यवागू और फलो के वितरण के लिए नियुक्त किये गये थे।[१७४]

उपर्युक्त प्रमुख समस्याओ के अतिरिक्त भिक्षुओं को कई तरह की छोटी-छोटी वस्तुओ की भी आवश्यकता पडती थी, जैसे—सूई, कैंची, छलनी इत्यादि की, अत इन सब के वितरण के लिए अल्पमात्र-भाजक[१७५] को नियुक्त किया गया था। आरम्भ मे भिक्षु स्वय सिलकर चीवर पहना करते थे और जब उन्हें सिले चीवर उपासको से उपलब्ध होने लगे, तो फटने पर उनको सिलना अनिवार्य हो जाता था, अतः प्रत्येक भिक्षु सूई-धागा अपने पास रखा करता था। केश, नख तथा वस्त्र काटने के लिए कैंची रखनी पडती होगी। भिक्षु जल छान कर पीते थे अतः छानने का कपड़ा रखने की व्यवस्था की गयी।

श्रामणेरों की देखभाल का कार्य श्रामणेर-प्रेषक[१७६] करता था, पर उसके कर्त्तव्य का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । सम्भवत: वह यह देखता होगा कि श्रामणेर अपने कर्त्तव्यो का समुचित पालन करें । जो श्रामणेर सघ छोडकर अन्यत्र चले जाते होंगे और जो भिक्षुपद को प्राप्त कर लेते होगे उनका लेखा-जोखा भी श्रामणेर-प्रेषक के पास रहता होगा ।

निर्देश

१

१. चुल्लवग्ग (११), दीपवश (४) तथा महावश (३) के अनुसार बुध-निर्वाण के तत्काल पश्चात राजगृह के सप्तपर्णी-गुहा मे पाँच सौ भिक्षुओ ने एकत्र होकर महाकस्सप के सभापतित्व मे विनय तथा धर्म के सूत्रो का सकलन किया। इस सगीति मे विनय तथा धर्म के जिन नियमो को मान्यता मिली वे ही थेरवाद के सिद्धान्त हुए। प्रथम सगीति के पश्चात बुद्ध-निर्वाण के एक सौ वर्षों के अनन्तर वैशाली मे दूसरी सगीति हुई (चुल्लवग्ग, १२, दीपवश, ४-५)। इन दो सगीतियो की प्रामाणिकता के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वान दोनो सगीतियो की कथा को वास्तविक मानते है, कुछ केवल द्वितीय तथा तृतीय सगीति को सत्य मानते है, और कुछ केवल तृतीय को। अतिम विचार को मानने वालो का कथन है कि वस्तुत बौद्ध सगीति अशोक के समय मे ही हुई और उसके पूर्व के दो सगीतियो की कथा काल्पनिक है।

२. चुल्लवग्ग, १३/१/१.

३. *SBE*, १३ भूमिका, पृ० ३६

४. Winternitz, M — *A History of Indian Literature*, २, पृ० २-३, १०-११.

५. वही।

६. महापरिनिब्बाण-सुत्त।

७ दीघ-निकाय, १६/४/७-११, अगुत्तर-निकाय, ६ पृ० ५११.

२

१ अग्नि और बृहस्पति ब्राह्मण वर्ण के है, इन्द्र, वरुण, सोम, यम क्षत्रिय हैं, वसु, रुद्र, विश्वेदेवा तथा मरूत वैश्य है और पूषण शूद्र हैं—काणे, पा० वें०, *History of Dharmasastra* जि० २, भाग १, पृ० ४२

२ मज्झिम-निकाय, जि० २, पृ० ८४, १४८.

३ दीघ-निकाय, जि० १, पृ० ९०-९१
४. दीघ-निकाय, १, पृ० १०३.
५. उपसाल्हक जातक (स० १६६).
६. बौद्ध पिटको मे अनेक ब्राह्मणग्रामो का उल्लेख मिलता है, जैसे—खानुमत (दीघ-निकाय १, पृ० १२७), अम्बसण्डा (दीघ-निकाय २, पृ० २६३-६४), एकनाल (बुक ऑफ किड्रेड सेइग्स, १, पृ० २१६), सालिन्दिय (जातक ३, पृ० २९३, ४, पृ० २७६) इत्यादि।
७ वैशाली अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ८५-८६
८ वही।
९. जातक, २, पृ० ३६, ४, पृ० ४१३; ६, पृ० ७१.
१० जातक, ४, पृ० २००, ३७६, ३९०; महावश, ४/४१
११ मज्झिम-निकाय, २, पृ० १५०,
१२. सुत्त निपात, १/७/२१; ३/९/५७
१३ विमानवत्थु ५/१३/१५; पेतवत्थु २/६/१२.
१४. जातक ६, पृ० २०८
१५ चुल्लवग्ग, ९/१/४
१६ अगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९
१७ उदान, १/५
१८ दीघ-निकाय, १, पृ० ९७-९९.
१९ मज्झिम-निकाय, २, पृ० १२८
२०. दीघ-निकाय, १, पृ० १३१—य पि भो समणो गोतमो उभतो सुजातो मातितो च पितितो च ससुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहायुगा अक्खितो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन। (मज्झिम-निकाय २, पृ० १६६ तथा निदानकथा, १/२ भी देखिये।)
२१. दीघ-निकाय, १ पृ० ११३.
२२ दीघ-निकाय—कूटदन्तसुत्त।
२३. जातक, ४, पृ० २०७-८.
२४. मज्झिम-निकाय ३, पृ० १७७; अंगुत्तर-निकाय ४, पृ० १२९-३४; ५, पृ० २९०-९१
२५ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ८५—यानि तानि नीचकुलानि—चण्डालकुलं वा नेसादकुल वा वेणकुल वा रथकार कुलं वा पुक्कुसकुलं वा........।

२६. जातक २, पृ० ५.

२७. कट्ठहारि जातक (७); भद्दसाल-जातक (४६५).

२८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/६/१८/९-१०.

२९ वही, १/६/१८/१, १८-२२, २८-२९, ३०-३३

३० काणे, पा० वे०—*History of Dharmasastra*, जि० २, भाग १, पृ० १६१

३१ चुल्लवग्ग, १२/१/३; दीघ-निकाय, १, पृ० १०४-५; अगुत्तर-निकाय २, पृ० ५३-५४, जातक, १, पृ० ४२५.

३२. जातक, १, पृ० ३३३, ३६१, ३७३, ४५०, २, पृ० ८५, १३१, २३२, २६२, ३९४, ४११; ३, पृ० १४७, ३५२ इत्यादि।

३३ दीघ-निकाय, १, पृ० ८८, १२०, मज्झिम-निकाय, २, पृ० १३३-३४; अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २२३; सुत्तनिपात, ३/७

३४ अगुत्तर-निकाय ३, पृ० ३७१; सुत्तनिपात, ३/७. जातक ६, पृ० ३२.

३५ जातक, १, पृ० १६६, २३९, २, पृ० १३७; ३, पृ० २१५; ६, पृ० ३२

३६ सुत्तनिपात, २/७/२०-२२

३७. दीघ-निकाय, १, पृ० १११

३८ दीघ-निकाय, १, पृ० १२७

३९ मज्झिम-निकाय, २. पृ० १६४

४० जातक, १, पृ० ४३९

४१ जातक, ३, पृ० २८.

४२. जातक, २, पृ० १८६-७; ५, पृ० १

४३ जातक, १, पृ० २८९.

४४. कुणाल-जातक (५३६)

४५ जातक, ३ पृ० ४१७.

४६ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १।७।२०।११.

४७ गौतम-धर्मसूत्र, १०।५

४८. मनुस्मृति, ४।६; १०।८१-८२

४९ मज्झिम-निकाय, ९८; सुत्तनिपात, ३।९; जातक, २, पृ० १६५; ४, पृ० २०७, ५, पृ० २२

५०. दीघ-निकाय—सोणदण्डसुत्त, कूटदण्तसुत्त, सुत्तनिपात—कसिभारद्वाज-

सुत्त; मज्झिम-निकाय, २, पृ० २०२

५१. सुत्तनिपात, १।४; जातक, ४, पृ० २७६.

५२. सुत्तनिपात, ३।७.

५३. जातक, २, पृ० २१३; ६, पृ० १८१.

५४. जातक, २, पृ० १६५; ३, पृ० १६२-६३, २९३; ४. पृ० २७६; ५, पृ० ६८ इत्यादि।

५५. जातक, २, पृ० १५; ४, पृ० १५-२१; ५, पृ० २२, ४७१.

५६. जातक, ४, पृ० २०७.

५७. जातक, ३, पृ० ४०१.

५८. जातक, ३, पृ० २१९; ५, पृ० १२७.

५९ जातक, २, पृ० २००, ६, पृ० १७०, १८२.

६०. जातक, १, पृ० २७२, ४, पृ० ७९, ३३५; ५, पृ० २११ इत्यादि।

६१. जातक, २, पृ० २१, २५०; ५, पृ० ४५८.

६२. जातक, १, पृ० ४५५

६३; जातक, १, पृ० २५३

६४. जातक, २, पृ० २४३.

६५. जातक, ३, पृ० ५०४

६६. जातक, ३, पृ० ५११.

६७ चुल्लवग्ग, ९।१।४, मज्झिम-निकाय, २, पृ० १२८; ३, पृ० १७७; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० १९४; ३, पृ० २१४; ४, पृ० १२९-३४; ५, पृ० २९०-९१; विमानवत्थु, ५।१३।१५; पेतवत्थु, २।६।१२; जातक, १, पृ० ३२६; ३, पृ० १९४; ४, पृ० २०५.

६८. दीघ-निकाय, १, पृ० ९८.

६९ दीघ-निकाय, १, पृ० ९९, अंगत्तर-निकाय, ५, पृ० ३२७-८.

७०. जातक, १, पृ० ४९.

७१. *S. B. E.* (*Sacred Books of the East*) २२, पृ० २१८-२९.

७२. जातक, ५, पृ० २५७

७३. जातक, ३, पृ० १२२, १५८.

७४. जातक, ४, पृ० ८४, १६९; ५, पृ० २९०-९३.

७५. Fick, R (रिचर्ड फिक)—*Social Organisation in N E. India in Buddha's time*, पृ० २५३.

७६ महावग्ग, ६।२८।४, दीघ-निकाय, १, पृ० ६७; २, पृ० १४५-४६
मज्झिम-निकाय, १, पृ० १७६, ३९५, ५०२

७७ जातक, ३, पृ० २१, ३२५.

७८ जातक, २, पृ० १२१.

७९. जातक, २, पृ० २६७

८० जातक, २, पृ० ३८८

८१. जातक, १, पृ० १९६

८२ महावग्ग, ८।१।१६.

८३ जातक, १, पृ० ३४९.

८४ जातक, १, पृ० ३४५, ३, पृ० २९९, ४७५, ५, पृ० ३८४

८५ जातक, २, पृ० ६४.

८६. दीघ-निकाय, २, पृ० ३४२, जातक, ५, पृ० ४७१ तथा अपण्णक-जातक (१) किंपक्क-जातक (८५)

८७ जातक, १, पृ० २७०; किंपक्क-जातक (८५); अकतञ्ञु-जातक (९०).

८८. महावग्ग, १।७.

८९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।१०।२६।५

९० अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३७-३८, ४, पृ० २७७, अष्टाध्यायी, १।३।३६; ३।२।२२

९१ जातक, ३, पृ० ३२६

९२ भाष्य, १।३।७२.

९३ अर्थशास्त्र, २।२४

९४. जातक, १, पृ० ४७५

९५ *S B E.*, १३, पृ० २८, दीघ-निकाय, १, पृ० ५१, जातक, ४, पृ० ४७५

९६. धम्मपद, ८०.

९७ जातक, ६, पृ० १८९, ४३७; अग्रवाल, वा० श०—*India as Known to Panini*, पृ० २३४

९८. दीघ-निकाय, १, पृ० ७८; मज्झिम-निकाय, २, पृ० १८, जातक, २, पृ० १९७

९९. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १८, ४६, ३, पृ० ११८; जातक २, पृ० ७९, ३, पृ० ३७६.

१०० जातक, ३, पृ० ४०५
१०१ जातक, ४, पृ० १६१.
१०२. जातक, ३, पृ० २८१.
१०३. उवासगदसाओ, ७।१८४ के अनुसार पलासपुर नगर के निकट ५०० आबादी का एक कुम्भकारग्राम था।
१०४. जातक, ३, पृ० २८१.
१०५. जातक, २, पृ० १८, ४०५; ४, पृ० १५९, २०७.
१०६ जातक, २, पृ० १६७, ३, पृ० ६१, ५०७.
१०७. जातक, १, पृ० ४३०.
१०८ जातक, ४, पृ० ४९५
१०९ जातक, १, पृ० ३७०, २, पृ० २६७, ४२९; ३, पृ० १९८, ३४८.
११० जातक, ४, पृ० ३८९.
१११ जातक, २, पृ० २४९
११२ जातक, १, पृ० २८३.
११३ जातक, १, पृ० २८४.
११४ जातक, १, पृ० ३१०
११५ जातक, १, पृ० २८३.
११६ जातक, १, पृ० २८४
११७. जातक, २, पृ० १६७
११८ जातक, २, पृ० २४८.
११९. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ७९; जातक, ५, पृ० ४१७
१२० मज्झिम-निकाय, २, पृ० १५२, १८३-८४, ३, पृ० १६९; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ८५; ३ पृ० ३८५.
१२१. जातक ४, पृ० २४६
१२२. वही।
१२३. जातक, ४, पृ० २००, ३७६, ३९०
१२४. जातक, ४, पृ० ३९०
१२५ जातक, ३, पृ० २३३.
१२६. जातक, ४, पृ० ३७६
१२७. जातक, ४, पृ० ३९०-९२.
१२८ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २।१।२।८.

१२९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १।३।९।१५-१७; गौतम-धर्मसूत्र १६।१९.

१३० मनुस्मृति, ३।२३९

१३१ मनुस्मृति, १०।५१-५२.

१३२. मनुस्मृति, १०।५५.

१३३ जातक, ४, पृ० ३८८, ३९०; ५, पृ० ४२९.

१३४. जातक, ३, पृ० ४१, १७९

१३५ मनुस्मृति, १०।५६

१३६ बोस, अतीन्द्रनाथ—*Social and Rural Economy of Northern India*, २, पृ० ४३८

१३७ अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३७६

१३८ जातक, ६, पृ० १५६

१३९ जातक, ४, पृ० ३७९

१४०. जातक, ६, पृ० १५६

१४१. सुत्त-निपात, १।७।२२-२३.

१४२. जातक, ३, पृ० २३३-३५.

१४३ जातक, ४, पृ० २०१.

१४४. अत्रि-स्मृति, २।८९

१४५ जातक, ५, पृ० ११०, ३३७

१४६. मनु-स्मृति, १०।४८

१४७ Fick, R.—*Social Organisation in N. E. India is Buddha's Time*, पृ० ३२२

१४८. जातक, ३, पृ० १९४-५, ४, पृ० २०५, ३०३

१४९. मनु-स्मृति १०।१८

१५०. जातक, ३, पृ० १९५; Fick, R.—*Social Organisation in N. E. India in Buddha's Time*, पृ० ३२१.

१५१. जातक, ४, पृ० २५१.

१५२ वही।

१५३. जातक, १, पृ० ३५६

१५४. जातक, २, पृ० ५, ३, पृ० ४५२

१५५. जातक, १, पृ० ३१०

१५६ जातक, ४, पृ० ४०.

१५७. जातक, १, पृ० २९२

१५८. जातक, ३, पृ० २३०

१५९ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७

१६०. जातक, १, पृ० १२१; ५, पृ० २९०-९२.

१६१. राजा द्वारा नापित को मित्रवत् सम्बोधन का उल्लेख मिलता है जैसे—जातक १, पृ० १३७ मे राजा ने अपने अधीनस्थ नापित को, सम्म=सौम्य कहा। एक कथा मे कहा गया है कि प्रव्रज्या ग्रहण करते समय राजा ने नापित को १००,००० कार्षापण कर उपलब्ध कराने वाले ग्राम का दान कर दिया (जातक, १, पृ० १३८)।

१६२. जातक, २, पृ० ५.

३

१. Chanan, D R—*Slavery in Ancient India,*, पृ० १५-१८.

२. अर्थशास्त्र, ३।१३, म्लेच्छानामदोष प्रजा विक्रेतुमाधातु वा न त्वेवार्यस्य दासभाव।

३. मनु-स्मृति, ८।४१३

४. महाभारत, सभापर्व, ५२।४५-४६.

५ जातक, ४, पृ० ९९, ददामि ते गामवरानि पञ्च दासीसतं गवं सतानि।

६ जातक, १, पृ० २००; ४, पृ० २२, ९९; ६, पृ० २८५, ५४५-४८, Fick, R.—*Social Organisation in N. E India in Buddha's Time*, पृ०, ३०७.

७. अर्थशास्त्र, ३।१३.

८. मनु-स्मृति, ८।४१५.

९. जातक, १, पृ० ४५१.

१० जातक, १, पृ० ४०२, अथ' एकं दासी भर्ति अददमानं सामिका द्वारे निसिदापेत्वा रज्जुया पहारन्ति।

११ मनु-स्मृति, ८।२९९

१२ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७-८.

१३. जातक, ६, पृ० ५४८-७३

१४ जातक, १, पृ० ४५१

१५ जातक, २, पृ० ४२८

१६. जातक, ३, पृ० १६७.

१७. अर्थशास्त्र, ३।१३.

१८. वही

१९ जातक, १, पृ० १५६-५७

२०. कट्ठहारि-जातक (७), भद्दसाल-जातक (४६५)

२१. खुद्दक-निकाय, १, पृ० १३९; जातक, १ पृ० ४६८, Chanan, D R —*Slavery in A I*, पृ० ६९

२२ सामन्त-पासादिक, १।२१५; Chanan, D. R —*Slavery in A I*, पृ० ७०

२३. Chanan, D. R,—*Slavery in A I*, पृ० ७०-७२

२४ चुल्लवग्ग, ४।४।७, ६।४।१

२५ घड़ो के साथ जलाशय जाती हुई दासियो का उल्लेख मिलता है—जातक, ५, पृ० २८४। कुणाल-जातक के अनुसार जब शाक्य तथा कोलिय जातियो की दासियाँ रोहिणी नदी मे निर्मित जलाशय मे जल लेने गयी तो दोनों पक्ष मे कलह हो गया—जातक ५, पृ० ४१३.

२६ जातक, १, पृ० ४५३

२७ जातक, १, पृ० ४८४.

२८ जातक, ३, पृ० १६३

२९ जातक, १, पृ० ४०२.

३० जातक, १, पृ० ३८३

३१ जातक, १, पृ० ४५३

३२. अर्थशास्त्र, ३।१३

३३ दीघनिकाय, १ पृ० ६०-६१

३४ जातक, ६, पृ० ५४६-४७.

३५ अर्थशास्त्र, ३/१३

३६ मज्जिम-निकाय, २, पृ० ६२.

३७. नारद-स्मृति, ५/२९-३४

४

१. ऋग्वेद, ३/५३/४; ५/३/२; १०/८५/३६.
२. शतपथ ब्राह्मण, ५/१/६/१०.
३. बृहदारण्यक उपनिषद्, १/४/३.
४ ऐतरेय-ब्राह्मण, ३३/१.
५. अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ५७
६. जातक, १ पृ० ३०७, इत्थिया हि सामिको आच्छादनं नाम, सामिकम्हि असति सहस्समूलं पि साटकं निवत्था इणग्गा एव नाम।
७. *The book of Gradual Sayings*, १, पृ० १२०.
८. थेरीगाथा, ४४६.
९ जातक, २, पृ० १३८.
१०. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/४/८-११.
११. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ३/९/८.
१२ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/५/११/१२-१३
१३ न चाप्यधर्मः कल्याणि बहुपत्नीकता नृणा—*History of Dharmasastra*, भाग, २, पृ० ५५२
१४. जातक, ५, पृ० १७८.
१५. जातक, ४, पृ० ३१६.
१६ जातक, ३, पृ० ९३.
१७ जातक, ४, पृ० २१९
१८. थेरीगाथा, १५२
१९. जातक, २, पृ० १३८.
२०. जातक, ३, पृ० १६२, ४, पृ० २२.
२१ *Psalms of Sisters*, पृ० ४२.
२२ जातक, २, पृ० २२५
२३. *Psalms of Sisters*, पृ० ४२
२४. जातक, ३, पृ० ९३.
२५ गौतम-धर्मसूत्र, ४/१, वशिष्ठ-धर्मसूत्र, ८/१
२६ जातक, १, पृ० १९९, ४७७; २, पृ० २२९; ३, पृ० ४२२.
२७. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/५/७—कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्त पुरस्तात्।

२८. मनु-स्मृति, ४/२४४.

२९. वही, २।२३८.

३०. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/४/८-११, बौधायन-धर्मसूत्र, १/८/२-५; विष्णु-धर्मसूत्र, २४/१-४, वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १/२४-२५—तिस्रो ब्राह्मणस्य भार्या। वर्णानुपूर्व्वेण द्वे राजन्यस्य एकैका वैश्यशूद्रयोः। शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जं तद्वत्, मनु-स्मृति, ३/१३.

३१ जातक, ५, पृ० २११

३२ जातक, ३, पृ० २१.

३३. जातक, २, पृ० ५

३४ मज्झिम-निकाय, २, पृ० १०२—गग्गो खो, महाराज, पिता, मन्ताणी माताति।

३५ दीघनिकाय, १, पृ० ९२, ३, पृ० ११८, मज्झिम-निकाय, २, पृ० ४०, सुत्तनिपात, ३/१/१९, सुमगलविलासिनी, १, २५७ कही-कही जाति, गोत्र तथा कुल के उल्लेख मिलते है, जैसे—जा० २, पृ० ३ मे।

३६ अष्टाध्यायी, ४/३/१२५, महाभाष्य, २/८/६२, १/४९२

३७ मज्झिम-निकाय. २, पृ० ४०

३८ जातक, २, पृ० ३६०.

३९. *Dialogues of the Buddha*, २, पृ० ११५; जातक ५, पृ० ४१३

४० उदय-जातक (४५८) तथा दसरथ-जातक (४६१)

४१. महाजनक-जातक (५३९), ६, पृ० ४८६

४२ बौधायन-धर्मसूत्र १/१/१९-२६

४३ जातक, १, पृ० ४५७; जातक, २, पृ० ३२७, ६, पृ० ४८६.

४४ जातक, २, पृ० २३७, ४०३-४, ४, पृ० ३४२-४३.

४५. उदाहरणार्थ, जातक, २, पृ० ११९.,

४६ थेरीगाथा, ४४५

४७. थेरीगाथा, १२, ४६ तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा।

४८. धम्मपद-अट्ठकथा, १२०—राजगहे तु एका सेट्ठिधीता सोलसवस्सुदेसिका अभिरूपा अहोसि दस्सनाय। तस्मिं च वये थिता नारियो पुरुसज्झासाय होंति पुरुसलोला।

४९ जातक, ३, पृ० ९३.

५०. जातक, ४, पृ० ४८४.

५१ जातक, १. पृ० ४५६.

५२ थेरीगाथा, ४७—पटाचारा अपने भृत्य के साथ पलायन कर गयी थी।

५३ गोभिल-गृह्यसूत्र, ३/४/६ पर गृह्यसंग्रह की टीका— नग्निकान्तु वदेत्कन्या यावन्नर्तुमती भवेत् ।

५४ हिरण्यकेशिन्-गृह्यसूत्र १/६/१९/२ पर मातृदत्त की टीका—नग्निका-मासन्नार्तवाम् । तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका । मैथुनार्हेत्यर्थः ।

५५. मानव-गृह्यसूत्र, १/७/८.

५६ हिरिण्यकेशिन्-गृह्यसूत्र, १/६/१९/२.

५७. अल्तेकर, अ० स०—*The Position of women in Hindu Civilisation*, पृ० ६१

५८ अष्टाध्यायी, ३/१/११०

५९ वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/६७-६८

६० बौधायन-धर्मसूत्र, ४/१/१५— त्रीणि वर्षाणि ऋतुमती कांक्षेत पितृशासनम् ।

६१. मनु-स्मृति, ९/९०.

६२. गौतम-धर्मसूत्र, १८/२१.

६३. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/८/१०; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ३/८/१०; पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/८/२१.

६४ अर्थशात्र, ४/१२.

६५. मनु-स्मृति, ९/९०.

६६ जातक १, पृ० ४५६, ६, पृ० ७२, ४८६.

६७ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/१९; आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/१/१/१९, १/१/२/१२-१६; पारस्कर-गृह्यसूत्र, २/२/१-३, २/५/१३-१४.

६८ पारस्कर-गृह्यसूत्र, २/५/१५.

६९ मिलिन्दपञ्हो, १/२२.

७० काम-सूत्र, ३/१/२

७१. सुत्त-निपात, १/६/२०.

७२. जातक, १, पृ० २२५.

७३. महाभारत, सभापर्व, ६४/१४, वनपर्व, ५/१५—ध्रुव न रोचेद्-भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टि वर्षः ।

७४. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/१८-१९, आश्वलायन-गृह्यसूत्र— बुद्धि-

रूपशील लक्षणसपन्नामरोगामुपयच्छेत ।

७५ आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/१०-११.

७६. शतपथ-ब्राह्मण, १/२/५/१६

७७. आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १/३/२०—यस्या मनश्चक्षुषोर्निबन्धनस्तस्या-मृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके ।

७८. जातक, ४, पृ० २१९—धीता वयप्पता न च नं कोचि वारेति ।

७९. जातक, २, पृ० १३८.

८०. बोधयन-धर्मसूत्र, ४/१/१२—दद्याद्गुणवते कन्याम् ।

८१ आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/५/२—बुद्धिमते कन्या प्रयच्छेत् ।

८२. दीघनिकाय, १, पृ० ११; जातक, १, पृ० २५८

८३ जातक, १, पृ० २५८

८४ कुणाल-जातक (५३६)

८५. पाणिनि ने विवाह के लिए उपयमन (सूत्र, १/२/१६) शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने विवाह सम्पन्न करने की क्रिया को स्वकरण की सज्ञा दी है (१/३/५६)। वार्त्तिक (सूत्र ४/१/५२ पर) तथा पातञ्जल-महाभाष्य (२/२२१) के अनुसार पाणिग्रहण को विवाह की प्रमुखतम धर्म-विधि माना जाता था ।

८६. जातक, ३, पृ० ३४२— ब्राह्मणो कहापणे दातु असक्कोन्तो अत्तनो धीतर तस्सा पादपरिचारिक कत्वा अदासि ।

८७ जातक, २, पृ० १८५

८८ जातक, ४, पृ० १२२.

८९ जातक, ५, पृ० २६९

९० जातक, ६, पृ० ३३९—गोलकालो नाम पुरिसो सत्त सवच्छरानि घरे कम्म कत्वा भरिय लभि ।

९१ मनु-स्मृति, ९/९३, ९७-९८.

९२ जातक, १, पृ० ३००.

९३ जातक, १, पृ० २९७

९४. जातक, ५, पृ० ४२५-२६.

९५ अथर्ववेद, ९/५/२७-२८-

९६. तैत्तिरीय-सहिता, ३/२/४/४.

९७. नन्द-जातक (३९)

९८. सुसीम-जातक (१६३)

९९. अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २९५.

१००. जातक, १, पृ० ३०७.

१०१. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/२०.

१०२. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/७४.

१०३. अर्थशास्त्र, ३/४.

१०४. अर्थशास्त्र, ३/२.

१०५. *SBE* , १३, पृ० १५०.

१०६ चुल्लसुतसोम-जातक (५२५); वेस्सन्तर-जातक (५४७).

१०७. वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १७/७८-८०.

१०८ अर्थशास्त्र, ३/४.

१०९. मनु-स्मृति, ९/७६.

११० मज्झिम-निकाय, २, पृ० १०९.

१११ वशिष्ठधर्मसूत्र, १७/२०.

११२. अर्थशास्त्र, ३/३.

११३. जातक, ४, पृ० ३५.

११४. जातक, ३, पृ० ३५१.

११५ नारद-स्मृति, १७/९७.

११६ पराशर-स्मृति, ४/२८.

११७. जातक, ५, पृ० ४४६.

११८. जातक, २, पृ० ११६-१८.

११९. अण्डभूत-जातक (६२); कोसिय-जातक (१३०); गहपति-जातक (१९९), उच्छिट्ठभत्त-जातक (२१२); गामणिचण्ड-जातक (२५७) आदि।

१२०. जातक, २. पृ० ११३-१५.

१२१ जातक, ६, पृ० ३३८

१२२ चुल्लवग्ग, १०/१३/१.

१२३ जातक, ५, पृ० ६१.

१२४. जातक, २, पृ० २२९-३०.

१२५. जातक, ४, पृ० ४५-४९.

१२६. जातक, १, पृ० ४७७.

१२७. उम्मदन्ती-जातक (५२७)
१२८. जातक, ६, पृ० ३२३.
१२९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/६/१४/१६-२०, मनु-स्मृति, ९/१०१.
१३०. अगुत्तर-निकाय, २. पृ० ६१
१३१. सुत्त-निपात, १/२/५, धनिय नामक ब्राह्मण गृहस्थ को अपनी पति-परायणा स्त्री के लिए गर्व था।
१३२. जातक, २, पृ० १२१-२५
१३३ जातक, ५, पृ० ८८-९८.
१३४. जातक, ६, पृ० ४५८—सत्ता हि पियभरियासु विय सेसेसु आलयं न करोन्ति।
१३५ जातक, ३, पृ० ३५१
१३६. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/१०/२८/१९.
१३७ मनु-स्मृति, ८/३८९.
१३८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/१०/२८/२०.

५

१. महावग्ग, ८/१/२
२. वही, ८/१/३.
३ वही, ६/३०/२, ६/३०/५.
४. वही, ६/३०/१.
५ वही, ८/१/४.
६. कणवेर-जातक, (३१८)
७ सुलसा-जातक, (४१९)
८ तक्कारिय-जातक, (४८१).
९. जातक, ४, पृ० २४९.
१०. महावग्ग, ८/१/२.
११. वही, ८/१/१.
१२. जातक, ४, पृ० २४८-४९
१३ जातक, २. पृ० ३८०.
१४. जातक, ३, पृ० ४३५-३८ (सुलसा-जातक)

१५. जातक, ३, पृ० ४७५-७६.
१६. जातक, ३, पृ० ५९-६०
१७ जातक, ३, पृ० ६०.
१८ जातक, ३, पृ० ६१; ४ पृ० २४९.
१९. जातक, ६, पृ० २२८

६

१ मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५७; ३ पृ० ९०; अ० नि०, ५, पृ० २१३; जातक १, ४२९, ४८४, २, पृ० ११०, १३५, ३७८, ४, पृ० २७६; ६, पृ० ३६७.
२ आश्वलायन - गृह्यसूत्र, १/१७/२, साख्यायन - गृह्यसूत्र, १/२४/३; १/२८/६.
३ अष्टाध्यायी, ५/२/२, ६/२/३८.
४. महाभाष्य, १/१९.
५. सूत्र-स्थान, ४६/७.
६ Beal, *Life of Hiuen-Tsiang*, पृ० १०९
७ अग्रवाल, वासुदेवशरण—*India As Known to Panini*, पृ० १०३.
८. अष्टाध्यायी, ३/१/४८; ३/३/४८; ५/१/९०.
९. जातक, २ पृ० ११०; ६, पृ० ५८०.
१० अष्टाध्यायी, ४/३/१३६
११. मज्झिम-निकाय १, पृ० ५७, ८०; ३, पृ० ९०; अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० १०८; सुत्त-निपात, ३/१०; जातक १, पृ० ४२९, २ पृ० ७४.
१२. भोजाजानीय-जातक (२३), महिलामुख-जातक (२६).
१३. तक्कल-जातक; अष्टाध्यायी, ४/४/१००.
१४ अष्टाध्यायी, ४/४/६७.
१५. जातक, ६, पृ० ३७२.
१६. केसव-जातक (३४६).
१७. सुपत्त-जातक (२९२).
१८. अष्टाध्यायी, ६/१/१२८.
१९. महावग्ग, ६/२४-२५.
२०. सत्तुभस्त-जातक (४०२).

२१. अष्टाध्यायी, ६/३/५९.

२२. वही, ६/३/६०.

२३. कुम्मासपिण्ड-जातक (४१५)

२४. विसवन्त-जातक (६९).

२५. अष्टाध्यायी, ६/२/१२८.

२६. वही, ४/३/१४.

२७. अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ९५, अष्टाध्यायी, २/४/१४; ४/३/१६०; ४/२/१८.

२८. जातक, ५, पृ० ३७; अष्टाध्यायी, ४/१/४२; ४/३/१६५; ८/४/५.

२९. ऋग्वेद, १०/९१/१४

३० शतपथ-ब्राह्मण, ११/७/१/३.

३१ वही, ३।१।२।२१— तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्तदुहोवाच याज्ञ-वल्क्योऽश्नाम्येवाहमसल चेद्भवतीति ।

३२. महावग्ग, ६।२३।१०-१५.

३३. दीघनिकाय, २, पृ० १२७, इसका उल्लेख उदान (८।५) में भी मिलता है। एक जातक मे भी बुद्ध का मासाहार स्वीकार करते हुए वर्णन मिलता है (जातक २, पृ० २६२)

३४. मज्झिम-निकाय १, पृ० ३६४; २, पृ० १९३; *The Book of Kindred Sayings* २, पृ० १७१; *The Book of Gradual Sayings*, १, पृ० २२९.

३५ मंस-जातक (३१५)

३६. जातक, १, पृ० २४२

३७. जातक, १, पृ० १६६; ३, पृ० ४२९.

३८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/२/५/१६

३९. वही, २/३/७/४

४०. मनु-स्मृति, ३/२२७.

४१. वही, ५/३५.

४२ स्ट्रैबो (Strabo) १६, १, ५९.

४३. जातक, ३, पृ० ४९.

४४. वही

४५. सयुत्त-निकाय, २, पृ० २५७, अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०७; ३,

पृ० ३०३; जातक, ६, पृ० १११.

४६. अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ४९

४७ जातक, १, पृ० १९६-९७; २, पृ० ४१९.

४८. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/२९.

४९ जातक, १, पृ० १९६-९७

५० दीघनिकाय, २, पृ० २९४; मज्झिम-निकाय १, पृ० ५८, २, पृ० १९३

५१ मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३६४.

५२ मज्झिमनिकाय, १, पृ० ४४९; २, पृ० १९३

५३ जातक, २, पृ० १३५.

५४ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/३०.

५५. बौधायन-गृह्यसूत्र, २/११/५१, हिरण्येकेशिन्-गृह्यसूत्र, २/५/१५/१; आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, २/७/१६/२६

५६. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १/२४/३०-३३, वशिष्ठ-धर्मसूत्र ४/८.

५७ काणे, पा० वा०—*History of Dharmasastra*, २, पृ० ७७७.

५८. पुण्णन्दि-जातक (२१४), रोमक-जातक (२७७) तथा जातक २, पृ० ४१२

५९. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/३२-३६; गौतम-धर्मसूत्र, १७/२९, ३४, ३५; वशिष्ठ-धर्मसूत्र, १४/४८, विष्णु-धर्मसूत्र, ५१/२९-३१; मनुस्मृति, ५/११-१४

६० वही

६१ पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/१९

६२. जातक, २, पृ० २४२-४३.

६३. पारस्कर-गृह्यसूत्र, १/१९/९

६४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १/५/१७/३८-३९.

६५. मनु-स्मृति, ५/१४-१६.

६६ गोध-जातक (१३८); सत्तपाल-जातक (५२४).

६७. गोध-जातक (३२५).

६८. जातक, ३, पृ० १०६-७.

६९ अथर्ववेद, ४/३४/६.

७०. शतपथ-ब्राह्मण १२/७/३/५.

७१. तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १/८/६—ब्राह्मण परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्। ब्राह्मणो हि आहुत्य उच्छेषणस्य पाता।

७२. काठक-सहिता, २२/१२

७३. चुल्लवग्ग, १२/१/३, अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ५३-५४; ४, पृ० ५, २४६; इतिवुत्तक, ७४, पाणिनि, २/४/२५, ६/२/७०.

७४. आश्वलायन-गृह्यसूत्र, २/५/५; पारस्कर-गृह्यसूत्र ३/३/११

७५. वारुणि-जातक (४७); इल्लीस-जातक (७८)

७६ वही

७७. इल्लीस-जातक (७८).

७८. जातक, ४, पृ० ११४.

७९. जातक, १, पृ० ४८९ *S.B.E* २२, पृ० ९४-९५.

८० जातक, १, पृ० ३६२, ४८९

८१ जातक, १, पृ० ३६२

८२. *Sacred Books of the East*, १३, पृ० २११, २१५

८३. महावग्ग, ६/१४/१.

८४ जातक ५, पृ० ४६७—तात अयुत्त ते कत सोत्थियकुले जातेन सुरं पिवन्तेन, मा पुन एव अकासीति।

८५. *S.B.E*, xxii, पृ० ९४-९५.

८६ आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/५/१७/२१, गौतम-धर्मसूत्र, २/२६

८७ गौतम-धर्मसूत्र, २/२६.

८८ वशिष्ठ-धर्मसूत्र, २१/११, १५— या ब्राह्मणी च सुरापी न ता देवा पतिलोक नयन्तीहैव ··· पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरा पिवेत्।

८९ गौतम-धर्मसूत्र, १३/१, मनु-स्मृति ११/९०-९२.

९० विष्णु-धर्मसूत्र, २१/८४.

९१. मनु-स्मृति, ११/९६

९२ *S B E*, २२, पृ० ९४-९५

९३ जातक, ४, पृ० ११५-१६.

९४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १/१/२/२३; मनु-स्मृति, २/१७७.

९५. मनु-स्मृति, ११/९३.

७

१. महावग्ग, ८/३/१; दीघ-निकाय, २, पृ० ३५६-५७; पेतवत्थु, २/१/१७; अग्रवाल, वा० श०— *India as Known to Panini*, पृ० १२५-२६.

२. *S. B E.*, १३ पृ० २८, दीघ-निकाय, १, पृ० ५१; जातक, ४, पृ० ४७५.

३ विनय, २, पृ० १३५

४ जातक, १, पृ० ३५६.

५. चुल्लवग्ग, ५/११/१-२.

६. जातक, ३, पृ० २८२

७ चुल्लवग्ग, ५/११.

८. महावग्ग, ७/१/५

९. कौटिल्य, २/२३.

१० अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ५०; जातक ३, पृ० ११; ६, पृ० ४९-५०, १४४.

११. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३०-३१.

१२. महापरिनिब्बाण-सुत्त, ५/२६

१३ वही.

१४ मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३०.

१५. वही, पृ० २९; महावणिज-जातक (४९३), जातक ६ पृ० ५००.

१६. महावग्ग, ८/१/२९.

१७. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३१.

१८. शामशास्त्री—अर्थशास्त्र, पृ० १३७

१९ महावग्ग, ८/१/३६; जातक, ६ पृ० ४७, मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, ५. २८.

२०. Mc Crindle,—*Ancient India*, p. 97, Frg. xii.

२१ Arrian—*Indica*, Chap. xvi. 16.

२२. भिक्खुणी-पातिमोक्ख, ४/४०/९६; चुल्लवग्ग, ५/२९/२

२३ मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३७.

२४. महावग्ग, ८।१४।२०-२१; चुल्लवग्ग, ४।४०।९६; जातक सख्या, ३२४, ४३१.

२५ जातक, ४३१.

२६. मोतीचन्द्र—प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ३८

२७. वही.

२८. चुल्लवग्ग, १०।१०।१.

२९ Bachofar, *Eary Indian Sculpture*, Pl. xii. परिशिष्ट भी देखिये ।

३०. वही,

३१ कनिंघम, *Stupa of Bharhut*, प्लेट, २२. परिशिष्ट भी देखिये ।

३२ उष्णीष के नमूनो के लिए परिशिष्ट देखिये । डॉ० मोतीचन्द्र ने भी साँची तथा भारहुत की वेदिकाओ तथा तोरणो मे उत्कीर्ण चित्रों मे दर्शित २४ प्रकार के उष्णीषो की सूची दी है (प्रा० भा० वेश-भूषा, पृ० ६५-६८)

३३ वही, पृ० ६५; कनिंघम, भारहुत, प्लेट, १५.

३४ महावग्ग, ५।२।२

३५ वही, ५।१।२९

३६ वही, ५/२/४

३७ वही, ५/२/२३; ५/८

३८ वही, ५/७/१

३९ वही, ५।८।३

४० चुल्लवग्ग, ५।२।१, मज्झिम-निकाय ३, पृ० २४३, अगुत्तर-निकाय, ३ पृ० १६; जातक १, पृ० १३४; २, पृ० १२२, ३७३; ३, पृ० १५३, ३७७ इत्यादि; आचारगसूत्र, २, २, १, ११— अग्रवाल, *India as known to Panini*, पृ० २३४.

४१. अगुत्तर-निकाय, ४ पृ० १९९, २५५-५८. २६२; उदान, ५।५; जातक, १, पृ० ३५१; २ पृ० ६, ३ पृ० १५३; ४ पृ० ४२२; पाणिनि, ५/४/३०; ५/२/६८ कौटिल्य, २/११

४२ दीघ-निकाय, १, पृ० ५१; मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३८६-८७.

४३ जातक, १, पृ० १२९. २३८, २९०; ४, पृ० ८१-८२; ६, पृ० ३३६.

४४ मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६-७; सयुत्त-निकाय, ३, पृ० १५६, २५१-५२

४५ वही.

४६. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६, अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० २३७, थेरी-गाथा, २९८.

४७. संयुत्त-निकाय, ५, पृ०, ४०७; अंगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३९१; ४, पृ० २८१.

४८. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० ६; सयुत्त-निकाय, ३, पृ० १५६; धम्मपद, ५४, जातक, ६, पृ० ३३६.

४९. जातक, ६, पृ० ५३०, ५३५, ५३७

५०. जातक, ६, पृ० ३३६.

८

१. अर्थशास्त्र, १।२१.

२ *SB.E*, २२, पृ० ९२.

३ अष्टाध्यायी, ३।३।९९, भाष्य २।१५२—समजन्ति तस्या समज्या।

४. चुल्लवग्ग, ५।२।६; ६।२।७.

५. जातक, २, पृ० २५३.

६. जातक, ३, पृ० १६०; ४, पृ० ८१-८२; ६, पृ० २७७.

७ जातक, ३, पृ० ४६-४९, २५३, ५, पृ० २८२; ६, पृ० २७५.

८. मुखर्जी, राधाकुमुद—अशोक, पृ० १२९.

९ ब्रह्मजाल-सुत्त।

१०. जातक, ४, पृ० ३२४

११ जातक, १, पृ० ४३०

१२ जातक, २, पृ० २६७; ३, १९८.

१३ जातक, १, पृ० २८४

१४ जातक, १, पृ० २८३.

१५. जातक, २, पृ० २४८, ३, पृ० ४३५

१६. *S. B. E*, २२, पृ० ९४-९५.

१७ जातक, १, पृ० २५०.

१८. जातक, ६, पृ० ३२८.

१९ वही.

२०. *S.B E.*, २२, पृ० ९२
२१. जातक, ३, पृ० ४३४
२२ जातक, ६, पृ० ३२९
२३. दीघ-निकाय, १, पृ० ४७
२४. जातक, १, पृ० ५०८
२५. जातक, १, पृ० ४९९
२६ जातक, १, पृ० ४३३.
२७. जातक, १, पृ० ४९९.
२८. वही
२९ जातक, १, पृ० ४३३
३० वही.
३१. अष्टाध्यायी, ६।२।६४; २।२।९६, ३।३।१०९
३२ The Woman and Tree or Salabhanjika in Indian Literature and Art, *Acta Orientalia,* VI
३३. जातक, १, पृ० ५२
३४ *Acta Orientalia,* VII, पृ० २०१.
३५. जातक, १, पृ० ४८९—ये भुय्येन मनुस्सा सुर पिवन्ति सुराछणो येव किर सो।
३६ वही
३७. जातक, १, पृ० ३६२.
३८. जातक, ४, पृ० ११६.
३९ जातक, २, पृ० ४६-४९; ४, पृ० ९१; ५, पृ० २८६.
४०. साख्यायन-गृह्यसूत्र, ४।१३
४१. पारस्कर-गृह्यसूत्र, २।१७।९

९

१ जातक, ६, पृ० ३२
२ अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३७१; सुत्त-निपात, ३।७,
३. मज्झिम-निकाय, २, पृ० १३३-३४
४ दुराजान-जातक (६४); संजीव-जातक (१५०).

५. मुखर्जी, राधा कुमुद—*Ancient Indian Education*. पृ० ४४३.
६. वही, पृ० ४५२
७ चुल्लवग्ग, ६।५, ६।१७.
८. वही, ५।२८.
९ वही ५।११.
१०. जातक, ३, पृ० १५८
११ जातक, १, पृ० २७२, २८५, ४०९; २, पृ० ८५, ८७; ४, पृ० ५०, २२४; ५, पृ० १२७, २६३.
१२. जातक, ३, पृ० २३८; ५, पृ० १७७, २४७.
१३. जातक, ४, पृ० ३१६; ६, पृ० ३४७.
१४. जातक, ४, पृ० ३९२
१५ जातक, ३, पृ० ११५.
१६ अल्तेकर, अ० स०—प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, परिच्छेद-५.
१७ जातक, ४, पृ० ९६ (सख्या-४५६).
१८ अल्तेकर, अ० स०—प्रा० भा० शिक्षण पद्धति, परिच्छेद-५.
१९ जातक, १, पृ० २१७-१८
२० जातक, ५, पृ० ४५७
२१. मुखर्जी, राधा कुमुद—*Ancient Indian Education*, पृ० ४८२.
२२ चित्त-सभूत-जा० (४९८)
२३ जातक, १, पृ० २७२, २८५; ४, पृ० ५०, २२४
२४. मिलिन्द-पञ्हो, ६।२
२५. जातक, ४, पृ० २२४.
२६ जातक, ५, पृ० २६३
२७ जातक, ३, पृ० २३८; ५, पृ० २४७.
२८ जातक, ५, पृ० १२७
२९. मुखर्जी, राधा कुमुद—*Ancient Indian Education*, पृ० १७३-७५
३० जातक, १, पृ० २५९, ४, पृ० ३३.
३१ मिलिन्द-पञ्हो, १।२२.
३२. जातक, १, पृ० ४६३.
३३ उदाहरणार्थ, जातक १, पृ० ३००-२

३४. जातक, ३, पृ० १८
३५. मुखर्जी, राधा कुमुद— *Ancient Indian Education*. पृ० १६५-६७
३६. वही, पृ० २३१-३३
३७. विनय, १।७७; ४।१२८ मुखर्जी—वही.
३८ चुल्लवग्ग, ५।२८
३९ जातक, ६. पृ० २२, ४२७
४० अल्तेकर, अ० स०—प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, परिशिष्ट-४
४१. वही, तथा महावग्ग, ८।१।६, जातक, ८०, १८५.
४२. मज्झिम-निकाय १, पृ० ८५, अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० २८१
४३ जातक, ६, पृ० ४२७

१०

१. Barth—*Religions of India*, पृ० ४०-४१
२ *Cambridge History of India* १, पृ० १५०.
३ दीघ-निकाय, १, पृ० ४७-४९; मज्झिम-निकाय १, १९८, २५०; २, २, सुत्त-निपात, ३।६
४. महावग्ग, १।५।७
५. महावग्ग, १।६।१०-२९; आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० ५.
६ महावग्ग, १।७
७ वही, १।९
८ वही, १।१०
९. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध-धर्म-दर्शन; पृ० ५
१०. महावग्ग, १।१५।१.
११ वही, १।२०।१७-२४
१२. वही, १।२१-२२
१३ वही, १।२२
१४ वही, १।२३।१
१५ वही, १।२३।२-१०.
१६ वही, १।३४।१-४.

१७. महावग्ग, १/२४/५.
१८. वही, १/२४/६-७.
१९. वही, १/२५-५३
२०. वही, १/५४/१.
२१. *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ७९९; २, पृ० ७२२.
२२. संयुत्त-निकाय १, पृ० १७२; सुत्त-निपात, १/४; यह ग्राम दक्षिणागिरि के निकट था।
२३. *Dictionary af Pali Proper Names*, २, पृ० ७२२.
२४ दीघ-निकाय, म, पृ० ८१.
२५ *Dictionary of Pali Proper Names*, ३, पृ० ९४३,
२६ वही, १, पृ० ८५६
२७. चुल्लवग्ग, ६/४/९; जातक, १/९२
२८ *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ७९९.
२९ वही, २, पृ० ११०८
३० अगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९; सयुत्त-निकाय-अट्ठकथा २, पृ० ४५.
३१ मज्झिम-निकाय, १, पृ० १३-१६; ३, पृ० ४६-६१; २४८-५२,
३२ *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० १११५.
३३. सयुत्त-निकाय, ५, पृ० १५९-६१.
३४. *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० ५४१
३५ महावग्ग, १/२३/६-१०
३६. अगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९
३७. *Dictionary of Pali Proper Names*, २, पृ० ४७६-७७.
३८. चुल्लवग्ग, ११/१
३९ महावश, ३.
४० महावग्ग, १।५८, ५९, ७२.
४१. चुल्लवग्ग, ७/४/१,३; लक्खण-जातक (११); सिगाल-जातक (११३); विरोचन-जातक (१४३).
४२ चुल्लवग्ग, ७/३/१.
४३ वही, ७/३/६-९; कालबाहु-जातक (३२९).
४४ चुल्लवग्ग, ७/३/११-१२; कालबाहु-जातक (३२९); चुल्लधम्मपाल-

जातक (३५८)

४५ दीघ-निकाय, १, पृ० १११-१२

४६. वही, पृ० १२९-३१

४७ सुत्त-निपात, १/४.

४८ मणिसूकर-जातक (२८५)

४९ जातक, ५, पृ० २६२-६३

५०. महापरिनिब्बाण-सुत्त ।

५१ राहुल साकृत्यायन—बुद्धचर्या, पृ० ५०९-१०

५२. चुल्लवग्ग, ११/१; दीपवश, ५/४-५

५३. दीपवश, ४/१३-१४; ५/१४-१५

५४ चुल्लवग्ग, १२; दीपवश, ४-५

५५ महावग्ग, ५/१३/१२; राहुल साकृत्यायन—मज्झिम-निकाय, 'भूमिका' देखिए ।

५६ आचार्य नरेन्द्रदेव—बुद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १५

५७ दीघनिकाय—पोट्ठपाद-सुत्त ।

५८. दीघ-निकाय, १, पृ० ८३-८४; ०, पृ० ३०४

५९ दीघ-निकाय—महानिदानसुत्त, मज्झिम-निकाय—महातण्हासखय-सुत्त ।

६० उपाध्याय बलदेव,—भारतीय दर्शन, पृ० १८०.

६१ दीघ-निकाय—महासतिपट्ठान-सुत्त; सयुत्त-निकाय, ५, पृ० ८-१०

६२ दीघ-निकाय—सामञ्‍ञफल-सुत्त ।

६३ आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २४

६४ दीघ-निकाय—सामञ्‍ञफल-सुत्त ।

११

१ Shah, C J—*Jainism in Northern India*, पृ० २-३.

२ Stevenson, Mrs Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ५१-५७

३ वही, पृ० ५१.

४ *Cambridge History of India*, १, पृ० १५३.

५. Stevenson, Mrs. Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ४८-४९

६ वही, पृ० १५७
७ दीघ-निकाय, १, पृ० ४९, ५७-५८; मज्झिम-निकाय, १, पृ० १९८.
८. *SBE*, २२, पृ० ७९-८७.
९ वही, पृ० २६३.
१० Stevenson, Mrs Sinclair—*The Heart of Jainism*, पृ० ६५.
११ *SBE*, २२, पृ० २६४.
१२. Law, B. C.—*Mahavira . His Life and Teachings*, पृ० ७.
१३ *Cambridge History of India*, १, पृ० १६३.
१४ अगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १५०.
१५ जकोबी (*Jacobi*)—जैन-सूत्र, पृ० ११.
१६ दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त; सुत्त-निपात—सभिय-सुत्त ।
१७. मज्झिम-निकाय—उपालि-सुत्त ।
१८ भगवती-सूत्र १५/५४७.
१९ वही, १५/५४९-५३; महावीर तथा मक्खलि गोसाल के अंतिम मिलन तथा दोनो के सघर्ष के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—Basham, A L—*History and Doctrine of the Ajivikas.*
२० वही
२१ औपपातिक-सूत्र, १२, २७, ३०; आवश्यक-सूत्र, पृ० ६८४, ६८७, परिशिष्टपर्वन्, ४
२२ परिशिष्टपर्वन् ६/३४
२३ वही, ५/२०८.
२४ उमास्वाति के जीवन-चरित के लिए देखिए प० सुखलाल जी—तत्त्वार्थ-सूत्र की भूमिका, पृ० १-३६.
२५. प्रो० उपाध्ये—प्रवचनसार की भूमिका, पृ० २२
२६. *Cambridge History of India*, १, पृ० १५४
२७. वही, पृ० १५४-५५.
२८ दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त ।
२९ तत्त्वार्थ-सूत्र १/१—सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।
३० उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १६७
३१ तत्त्वार्थ-सूत्र, ८/५-१६.
३२ जैनी, जे० आर०—*Outlines of Jainism*, पृ० १-६.

३३. अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० १८० ८१.
३४. तत्त्वार्थ-सूत्र, १०/२-३; उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १७०,
३५. नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, पृ० ६२०-४६.
३६. स्याद्वाद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, Chap. VIII
३७. उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, पृ० १५३
३८. नाहर तथा घोष—*An Epitome of Jainism*, Chap. II
३९ Basham, A. L—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० २७-३०
४० वही पृ० ३९-४१.
४१ वही, पृ० २४-२६
४२ महावग्ग, १/६/७-९, मज्झिम-निकाय, १ पृ० १७०-१; जातक, १, पृ० ८१; *Dictionary of Pali Proper Names*, १, पृ० ३८५.
४३ मज्झिम-निकाय, १. पृ० ३१.
४४ विनय, ४/७७
४५ Basham, A L—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० ९५
४६ चुल्लवग्ग, ११/१/१
४७ जातक, ६, पृ० २२२-२३
४८. मज्झिम निकाय, १, पृ० ३१
४९ महावंशटीका, १, पृ० ११०; दिव्यावदान, पृ० ३७०-७१
५० सयुत्त-निकाय, ५, पृ० १४, ७६, जातक, १, पृ० ४९३, Norman—*Dhammapada Commentary*, १, पृ० ३०९, २, पृ० ५५-६, *JBORS*, १२, पृ० ५४.
५१ दीघ-निकाय, १, पृ० ५३-५४ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५२ जातक, ६, पृ० २२५
५३. वही, पृ० २३४.
५४ दीघ-निकाय, १ पृ० ५२-५३ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५५. Basham, A. L—*History and Doctrine of the Ajivikas* Chap V

५६. दीघनिकाय, १ पृ० ५८ (सामञ्ञफल-सुत्त)
५७ वही, पृ० ५८-५९.
५८. वही, पृ० ५५.

१२

१. दीघ-निकाय, १, पृ० १४१-४२
२. जातक, १, पृ० ३३५.
३. खुद्दकपाठ. पृ० ३.
४. औपपातिक-सूत्र, ४९
५ हॉपकिन्स (Hopkins)—*Religions of India*, Chap. IX; लाहा, वि० च०—(Law, B C.)—*India as Described in Early Texts of Buddhism and Jainism*, पृ० २०२.
६ सयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६—अस्समेध पुरिसमेध सम्मापासं वाजपेय्यं ।
निरग्गलं महारम्भा न ते होन्ति महप्फला ॥
अंगुत्तरनिकाय, २, पृ० ४२ सुत्तनिपात, २/७/२०
७ दीघ-निकाय, १, पृ० १२७—तेन खो पन समयेन कूटदन्तस्स ब्राह्मणस्स महायञ्ञो उपक्खटो होति, सत्त च उसभ-सतानि सत्त च वच्छतर-सतानि सत्त च वच्छतरि-सतानि सत्त च अज-सतानि सत्त च उरभ-सतानि थूनूपनीतानि होन्ति यञ्ञत्थाय ।
८ अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४१.
९. सयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६.
१० दीघ-निकाय, १, पृ० १२७; संयुत्त-निकाय, १, पृ० ७६; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४१; २, पृ० ४२, २०७, जातक, ३, पृ० ४४.
११. जातक, ३, पृ० ४४.
१२ दीघ-निकाय, १, पृ० १४२; अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ४२
१३. *SBE*, १३, पृ० १२४
१४ सुत्त-निपात, २/७/२०-२२.
१५. दीघ-निकाय, १, पृ० २३९; मज्झिम-निकाय, २, पृ० २००; अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ६१.
१६. दीघ-निकाय, पृ० २३७

१७ वही, पृ० २४४-४५

१८. लाहा, वि० च० (Law, B C)—*India as Described in Early texts of Buddhisns and Jainism*, पृ० १९५; बरुआ, बे० का०—*Indian Historical Quarterly*, १९२७, पृ० २५१.

१९. अग्रवाल, वासुदेव शरण—*India as Known to Panini*, पृ० ३५८-६०

२०. महावग्ग, १।५.

२१ महावग्ग, १।५।४; दीघ-निकाय, १, पृ० २४४; सयुत्त-निकाय, १, पृ० २१९, अगुत्तर-निकाय, २ पृ० २१, *the Book of Kindred Sayings*, १ पृ० २८१, २९८

२२ दीघ-निकाय—महागोविंद-सुत्त, मज्झिम-निकाय १, पृ० २५१; सयुत्त-निकाय, ४, पृ० १०१-२, अगुत्तर-निकाय ३, पृ० ३७०, ४ पृ० १६२

२३. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २८५-३०३, जातक ६, पृ० १२७, २८९.

२४ धम्मपद, ३०

२५ जातक ३, पृ० १४६

२६ जातक २, पृ० १२३-२४; दधिवाहन-जातक (१८६), खरपुत्त-जातक (३८६), जातक (४०९); ६, पृ० ७२-७३

२७ सुत्त-निपात, २/१२/३-४; विमानवत्थु, ४/१०/१०; *The Book of Kindred Sayings*, १ पृ० २९५.

२८ जातक, २, पृ० १०१, ३१२; ४, पृ० ६३; ५, पृ० ३८३.

२९ जातक, ३, पृ० १२९.

३०. *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० ३०१-२, जातक १, पृ० २०४, ६, पृ० १२७, २७८, २८९.

३१ दीघ-निकाय, २, पृ० २२०; जातक ६, पृ० ९७, १२६

३२. अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ४०, विमानवत्थु, १/१३/६, १/१४/६, २/१/१, २/१/१४, ४/२/२; ४/१०/१०, जातक ६, पृ० १३२, २७८.

३३. सयुत्त-निकाय, ४, पृ० १०३; जातक ३, पृ० २२२; ४, पृ० ६३; ६, पृ० १२६.

३४ जातक, २, पृ० २५४.

३५ नागुण्ठ-जातक (१४४); सन्थव-जातक (१६२)

३६. *SBE*, १३, पृ० १२९, १३२; सुत्त-निपात, ३/४.

३७. थेरीगाथा, ८७; जातक १, पृ० ४७४; ६, पृ० १, २६३.

३८. जातक, १, पृ० ३३१.

३९. जातक, ३, पृ० २६२.

४०. वही, पृ० २६१.

४१. जातक, ६, पृ० ३५.

४२. जातक, ४, पृ० १७.

४३. जातक, ५, पृ० ३९२

४४ महावग्ग, १/६/३०; दीघ-निकाय, २, पृ० २२०-२१; मज्झिम-निकाय, २, पृ० १९४

४५. *Vedic Index*, २, पृ० १८२, तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३/१२/३/१; शतपथ-ब्राह्मण १४/८/५/१; कौषीतकि-उपनिषद् ९५; केन-उपनिषद् १५

४६ *St Petersberg Dictionary*.

४७ ऋग्वेद, ४/३/१३.

४८ *Pali Text Society (P T S) Dictionary*.

४९ वही

५० विमानवत्थु-अट्ठकथा, २२४, ३३३.

५१. सयुत्त-निकाय १, पृ० २०५; पेतवत्थु-अट्ठकथा ११३, १३९.

५२. पेतवत्थु, ४/१.

५३. वही, ४/११; चरियापिटक ४/३.

५४. दीघ-निकाय १, पृ० ९५

५५ उदान, ४/४.

५६ जातक, १, पृ० ३९५-९६

५७ जातक, २, पृ० १२७, एक अन्य यक्षनगर एक द्वीप मे बसा था। (जातक, १, पृ० २४०).

५८ जातक, १, पृ० ३९९.

५९. जातक, २, पृ० १६.

६०. सयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६-७; उदान १/७, सुत्त-निपात, २/५; *SBE*, ३०, पृ० २१९.

६१. जातक, १, पृ० ४२५; ४, पृ० ११५.

६२. वही; *SBE*, २२, पृ० ९२.

६३. सयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६-८, सुत्त-निपात, २/५, उदान, १/७; *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २६२-६६.

६४. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०७; सुत्त-निपात २/५

६५ वही

६६. संयुत्त-निकाय, १, पृ० २०६

६७ वही, पृ० २०८.

६८ उदान, १/७

६९. ऋग्वेद, १/३२.

७०. महाभारत—सभापर्व ११/९

७१ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७२.

७२ उदाहरणार्थ, जातक, १, पृ० ४९८, २, पृ० १४९

७३ *SBE*, २९, पृ० १२८-२९; २०१-२; ३२८-३०

७४. जातक, १, पृ० ४९८

७५. *Vedic Index*, १, पृ० ३३

७६. वही, पृ० ४३

७७ वही, पृ० ५३१

७८ अथर्ववेद, ५/४/३.

७९ ऐतरेय-ब्राह्मण, ७/३०-३३, ८/१६

८०. छांदोग्य-उपनिषद्, ८/५/३; कौषीतकि-उपनिषद् १/३

८१ मार्शल (Marshall), सर जॉन—*Mohenjodaro and Indus Civilisation*, पृ० ६३-६५

८२ १९४३, *Indian Historical Quarterly*

८३. जातक, १, पृ० २५९, ३२८, ४१२, ४२५, २, पृ० ४४०.

८४. वही, १, पृ० १८०, २, पृ० २०६, ३७२-७३, ३, पृ० १३७, २०७; ४, पृ० ११; ५, पृ० ३७८.

८५. शिला-लेख, ३, ४, स्तम्भ-लेख, २, ७

८६. शिला-लेख, ६

८७ शिला-लेख, १०.

८८. जातक, ४, पृ० ११,

८९. स्तम्भ-लेख, ३
९० जातक, २, पृ० १९२.
९१. जातक, ३, पृ० ८७-८९
९२. जातक, पृ० १५८, २१२.
९३ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७९; इतिवुत्तक, १०६.
९४ अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७०.
९५. अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ४-५, ७०; जातक, १, पृ० २०२.
९६ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० ७०; इतिवुत्तक, १०६.
९७. जातक, १, पृ० २०२.
९८. जातक, ३, पृ० १२०,
९९ अगुत्तर-निकाय, ४, ३९३-९४, सुत्त-निपात, २०.
१००. जातक, ४, पृ० २३७.
१०१ वही, १ पृ० २२७
१०२ वही, ४ पृ० २२७.
१०३ अगुत्तर-निकाय, ४ पृ० २४१; थेरगाथा, ५३२.
१०४. जातक, ४ पृ० ६२-६३; ५ पृ० ३८३,
१०५ वही, १ पृ० २३१, २६२, ५ पृ० ३८३; ३ पृ० १२९—सो चतुसु-नगरद्वारेसु नगरमज्झे निवेसनद्वारेति छसु ठानसु दानसालाकारेत्वा दान पवत्तेसि ।
१०६ अगुत्तर-निकाय, ४ पृ० ६२; ५ पृ० २७१
१०७ वही
१०८ जातक ४, पृ० ६३; ५ पृ० ३८३-८७.

१३

१ ऋग्वेद, १०/१३६/२,४
२. वही, ८/३/९; ८/६/१८; १०/७२/७.
३ ऐतरेय-ब्राह्मण, ७/१३.
४. बृहदारण्यक उपनिषद् ४/५/२.
५ मुण्डक-उपनिषद् १/२/११; ३/२/६.
६. जाबाल-उपनिषद्, ४—ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा

बनी भवेद् बनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वावनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

७ दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त
८ मज्झिम-निकाय, १, पृ० २४०, २६७; २, पृ० २११
९ सयुत्त-निकाय, ५, पृ० २५०-५१.
१० थेरीगाथा, ३०१
११ सुत्त-निपात, १/३—खग्गविषाण-सुत्त.
१२ दीघ-निकाय, १, पृ० ७८.
१३ *SBE*, १३, पृ० १२०-२४.
१४ *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० १८५
१५ अगुत्तर-निकाय, १, पृ० १९.
१६. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ९२
१७. अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३८४.
१८. वही, २, पृ० ४८
१९ दीघ-निकाय—सामञ्ञफल-सुत्त
२० महावस्तु, ३/३१०/५
२१. जैन-सूत्र, २, पृ० ३९.
२२. *SBE*, २२, पृ० ९२-९३.
२३. सयुत्त-निकाय, १, पृ० ७८; उदान, ६/२.
२४ जैन सूत्र, भाग १, पृ० १२८
२५. दत्त, सुकुमार—*Early Buddhist Monachism*, पृ० ४५.
२६ *Rhys Davids, T. W —Buddhist India*, पृ० १६१.
२७ महावग्ग, १/१५/१; *SBE*, १३, पृ० ११८
२८ महावग्ग, १/२३/१
२९ जातक, २, पृ० ७२
३० मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४८३-८९
३१. अगुत्तर-निकाय, ५, पृ० २२९-३०
३२ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९-३९, १७६
३३ मज्झिम-निकाय, २, पृ० १.
३४. वही, पृ० २२-२९.
३५. अगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९३-९५.

३६. धम्मपद-टीका, १, पृ० ८८-९०.
३७. *Theragatha*.
३८. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३३९.
३९. सयुत्त-निकाय, ५, पृ० ७३-७५
४०. अगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९६.
४१ संयुत्त-निकाय, ४, पृ० २५१, ४०३.
४२ वही, २, पृ० २२
४३. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४९७-५०१.
४४. सयुत्त-निकाय, ५, पृ० ११.
४५. दीघ-निकाय, ३, पृ० ३६-५७.
४६. दीघ-निकाय, ३, पृ० १२-३५.
४७ जातक, २, पृ० २१६.
४८. धम्मपद-टीका, १, पृ० ८८-९०.
४९. सुत्त-निपात, ४/८ (पसूर-सुत्त)
५०. मज्झिम-निकाय, १, पृ० १७५.
५१. वही, पृ० ३३९
५२. दीघ-निकाय, १, पृ० १७८-२०३.
५३. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० २०७, २०९.
५४. अगुत्तर-निकाय, २, पृ० १००-१.
५५. दीघ-निकाय, ३, पृ० १-२
५६ थेरगाथा.
५७ मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५०२-१३
५८ सयुत्त-निकाय, ४, पृ० २३०-३१; अगुत्तर-निकाय, ३, पृ० ३५६.
५९. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४८१-८३, संयुत्त-निकाय, ३, पृ० २५७-६३; ४, पृ० ३९५-४०३
६०. अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९, १७६.
६१. मज्झिम-निकाय, २, पृ० ४०-४४.
६२. मज्झिम-निकाय, २, पृ० २९-३९; अंगुत्तर-निकाय, २, पृ० २९, १७६.
६३ महावग्ग, १/२३/१.
६४. अगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३७१-७२

६५ मज्झिम-निकाय, १, पृ० ५१३-२४.
६६. संयुत्त-निकाय, ४, पृ० ४०३, सुत्त-निपात, ३/६.
६७ अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १२१
६८ थेरगाथा
६९ *The Book of Gradual Sayings*, पृ० १६७
७० संयुत्त-निकाय, ४, पृ० २६१, ४०३
७१. संयुत-निकाय, ३, पृ० २३८-४०
७२. अंगुत्तर-निकाय, ४, पृ० ३६९-७१
७३. दीघ-निकाय, २, पृ० १४८-५३
७४ संयुत्त-निकाय, २, पृ० ११९-२८.
७५ जातक, १, पृ०, ३३३, ३६१, ३७३; २, पृ० १३१, १४५, २३२, २६२, २६९; ३, पृ० ४५, इत्यादि
७६. जातक, २, पृ० ५७, ७२, ८५; ३, पृ० ६४, ११०, ११९, २२८-९, २४९, ३०८, ५, पृ० १५२, १९३ इत्यादि.
७७ जातक, २, पृ० २६९, ४३७, ३, पृ० १४७; ५, पृ० ३१२-१३.
७८ जातक, २, पृ० २६९, ३, पृ० १४७; ५, पृ० ३१२-१३.
७९ बौधायन-धर्मसूत्र, २/१०/२-६.
८०. *SBE*, २, पृ० १५३; १५, पृ० ४०, ४६
८१. मनुस्मृति, ६/१, ३४-३७, ८७-८८.
८२ दीघ-निकाय, २, पृ० ११६-१७, मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १३.
८३. दीघ-निकाय, २, पृ० ११६; मज्झिम-निकाय, १, पृ० ४९७.
८४ मज्झिम निकाय २, पृ० १-२२; २९-३९.
८५ अंगुत्तर-निकाय २, पृ० २९, १७६.
८६. दीघ-निकाय, १, पृ० ४९, २, पृ० ११६-१७
८७ दीघ-निकाय, २, पृ० ११६-१७-महापरिनिब्बाण-सुत्त।
८८ वही.
८९. वही, अंगुत्तर-निकाय, ५, पृ० १९६.
९० मज्झिम-निकाय, १, पृ० १६६-६७.
९१ दीघ-निकाय, २, पृ० ११७-१९.
९२. दीघ-निकाय, महालि-सुत्त, पाथिक-सुत्त।
९३ वही, १ पृ० २११; २ पृ० ८१; ३, पृ० ९९.
९४. महावग्ग, ९/१/१; दीघ-निकाय—सोणदण्ड-सुत्त।

९५. दीघ-निकाय—पोट्ठपाद-सुत्त, महापदान-सुत्त।
९६. वही, २, पृ० ११९.
९७. थेरगाथा, १२७; उदान ३/३; जातक, १, पृ० ५०६.
९८. जातक, ३, पृ० ३७
९९. सुत्त-निपात, २/२/१
१००. *SBE.*, २, पृ० १५५, १५७, मनु-स्मृति, ६/१३; वैखानस-धर्म-प्रश्न, २/४/५, २/५/५
१०१. जातक. १, पृ० ३३३, ४०६.
१०२. दीघ-निकाय, १, पृ० १६६-६७, ३ पृ० ४१—अजिनानि पि धारेति, अजिनक्खिपमपि धारेति,....केसकम्बलमपि धारेति, वालकम्बलमपि धारेति, उलूकपक्खमपि धारेति।
१०३. वही
१०४ जातक, १, पृ० ३०४; ५, पृ० १३२; ६, पृ० २१, ७३.
१०५ मनु-स्मृति, ६/४४, वैखानस-धर्म-प्रश्न, ३/६.
१०६ जातक, १, पृ० ३०४; ५, पृ० १३२.
१०७. मनु-स्मृति, ६/६; वैखानस-धर्म-प्रश्न ३/५/७.
१०८ बोधायन-धर्म-सूत्र २/१०/११, वैखानस-धर्म-प्रश्न २/६
१०९ दीघ-निकाय, कस्सपसीहनाद-सुत्त।
११० मज्झिम-निकाय,—महासीहनाद-सुत्त।
१११ अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २०६-७
११२ जातक, १, पृ० ३९०
११३. मनु-स्मृति, ६/२३.
११४. नङ्गुट्ठ-जातक (१४४), दद्दभ-जातक, (३२२); सेतकेतु जातक, (३७७), उद्दालक-जानक (४८७)
११५. *SBE*, १३, पृ० १२४
११६ वही, पृ० १३०.
११७ उदान, १/९.
११८ थेरीगाथा, २३६-३७.
११९. *SBE*, १३ पृ० १३२.
१२० बरुआ, बेनी मा०—*Gaya and Bodha-Gaya*, १, पृ० ९०.

१४

१. *SBE*, २२, Introduction.
२. वही,
३ *SBE*, २२, पृ० १४६-४७.
४ वही, पृ० २०४-५.
५. वही, पृ० १४९
६ वही, पृ० १४६-४७
७ वही, पृ० २०६-९.
८. वही.
९ वही
१० वही, पृ० १८३-८४
११. वही
१२. वही, पृ० १२६
१३. वही, पृ० १३६
१४ वही.
१५. वही, पृ० १३७.
१६ वही, पृ० १२०, १३०-३१
१७. वही, पृ० १२६-२७-
१८ वही, पृ० १२२-२४
१९. वही, पृ० १२०-२१.
२०. वही, पृ० १३२-३३.
२१ वही, पृ० १७२
२२ वही, पृ० १७१
२३ वही, पृ० १६३
२४ वही, पृ० १५९.
२५ वही, पृ० १५७-५९
२६ वही, पृ० ६८-६९, ७१, १५७.
२७. वही, पृ० ६७-६८.
२८ वही, पृ० १५७.
२९ वही, पृ० १५९.
३० वही, पृ० १६३-६४

३१. *SBE*, २२, पृ० १६३-६५
३२ वही, पृ० १५८, १६०-६१, १६३.
३३. वही, पृ० १६२
३४. वही.
३५. वही, पृ० १६०, १७०.
३६. वही, पृ० १६६-६७.
३७. वही
३८ वही
३९ वही, पृ० १६६-६७
४०. वही.
४१ वही, पृ० १६७, १६९-७०
४२ Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० ११६
४३ उवासगदसाओ (होर्नल द्वारा सम्पादित), ७/२१४.
४४. जातक, ६, पृ० २२५; सुमंगल-विलासिनी, १ पृ० १४२-४४; दिव्यावदान, पृ० १६५; भगवती-सूत्र, १५/५४१
४५ Basham, A. L.—*History and Doctrine of the Ajivikas*, पृ० १०९
४६ धम्मपद-टीका, २, पृ० ५२

१५

१. *SBE*, १३, पृ० १७३.
२ मज्झिम-निकाय, १ पृ० २६९, २७४, ३४६, ४४०; ३ पृ० १०५-६
३. संयुत्त-निकाय; ३ पृ० ११६, ४ पृ० ११७; थेरगाथा, ५९—सद्धयाहं पब्बजितो, अरञ्ञे मे कुटिका कता, उदान, ४/२; जातक, १ पृ० १०६, ४ पृ० १३०-३१ इत्यादि।
४ वही तथा थेरगाथा, ८८७, ९२५
५. चुल्लवग्ग, ८/६/२
६. थेरीगाथा.
७ तक्कारिय-जातक (४८१)

८. चुल्लवग्ग, ६/४/८-१०.

९. वही तथा महावग्ग, १/२२/१६-१७

१०. चुल्लवग्ग, ६/५/१

११. वही, ६/११/१-२.

१२. वही, ४/४/४

१३ *SBE*, १३, पृ० १९६.

१४ जातक. ३, पृ० १७०-७१

१५ *SBE*, १३, पृ० १९३-९४, २३०.

१६ वही, पृ० १९९, २३०.

१७ वही, पृ० १९६

१८ वही, पृ० २३०

१९ साम-जातक (५४०). ६, पृ० ६९

२० *SBE*, १३, पृ० २०९-१०

२१ वही, पृ० २१०, २३०, आरभिक युग मे एकमात्र पुत्र को उपसम्पदा की दीक्षा देने के उदाहरण मिलते है, जैसे वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश तथा कुरु के श्रेष्ठिपुत्र राष्ट्रपाल (रट्ठपाल); परन्तु जब इसका निषेध हो गया तो भिक्षुधर्म स्वीकार करने के लिए माता-पिता की अनुमति अनिवार्य हो गई। मिलिन्द-पञ्हो (१/२६) के अनुसार नागसेन ने अपने माता-पिता की अनुमति लेकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

२२ *SBE*, १३, पृ० ११४.

२३. वही, पृ० १७७-७८

२४. महावग्ग, १/५०.

२५. *SBE*, १३, पृ० ४६, २०३, २३०, मिलिन्द-पञ्हो, १/२८

२६. जातक, १, पृ० १०६—पब्बजित्वा उपसम्पदाय पञ्चवसिको हुत्वा।

२७ आपस्तम्ब-धर्म सूत्र २/९/२१/१; गौतम-धर्म-सूत्र ३/२; वशिष्ठ-धर्म-सूत्र ७/१-२, वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/१/१३.

२८. वैखानस-धर्म-प्रश्न, ३/५/१३.

२९. वही, २/६/२.

३० *SBE*, २, पृ० १५३; १५, पृ० २७३; मनु-स्मृति, २/२४७-४८; ६/२

३१. वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/२६

३२ *SBE*, १३, पृ० २११.
३३. वही, पृ० १८७-८८.
३४. मज्झिम-निकाय, १, पृ० ३९१, ४९४; सुत्त-निपात, ३/६.
३५ *SBE*, १३, पृ० १९०-९१.
३६. वही, पृ० १८९-९०.
३७. मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १२७.
३८ वही, पृ० २४७
३९. सुत्त-निपात, १/४
४० सयुत्त-निकाय, ४, पृ० १८१
४१ मज्झिम-निकाय, ३, पृ० २४७—परिपुण्णं पन ते, भिक्खु पत्त-चीवर ति ?
४२ राहुल साकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ८२-८३.
४३. वही
४४ *SBE*, १३, पृ० ११५
४५. वही, पृ० १६९-७०.
४६ महावग्ग, १/३१/२, ९/४/१
४७. *SBE*, १३, पृ० २३०
४८. महावग्ग, ५/१३/११-१२
४९ राहुल साकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ५३७.
५० *SBE*, १३, पृ० १५४
५१. मनु-स्मृति, २/१४१.
५२ सयुत्त-निकाय, १, पृ० १७७; अगुत्तर-निकाय, ५, पृ० ३४७
५३ जातक, ५, पृ० ४५७; ६, पृ० १७८.
५४. महावस्तु-टीका, ५/४/२.
५५ *SBE*, १३, पृ० २११
५६ मनु-स्मृति, २/१७६-७९
५७ वैखानस-धर्म-प्रश्न, १/२.
५८ *SBE*, १३, पृ० १५४-५५
५९ बालोदक-जातक (१८३).
६०. गुण-जातक (१५७)
६१ मिलिन्द-पञ्हो, १/२९

६२ बालोदक-जातक (१८३)
६३ *SBE*, १३, पृ० १६२.
६४ वही, पृ० १५९
६५. वही, पृ० १६१
६६ वही, पृ० १६२
६७ वही, पृ० १६५-६८
६८ वही
६९. चुल्लवग्ग, ६/६/३
७० महावग्ग, ५/४/२
७१ *The Book of Kindred Sayings*, १, पृ० २२६.
७२. धम्मपद, १०९
७३ मनु-स्मृति, २/१२१
७४ मनु-स्मृति, २/१५०
७५. अगुत्तर-निकाय, २, पृ० २२-२४
७६ चुल्लवग्ग, ६/१३/१
७७ चुल्लवग्ग, ६/१३/२
७८. महावग्ग, ५/८/२
७९ तित्तिर-जातक (३७)
८० तडुलनालि-जातक (५); तित्तिर-जातक (३७)
८१ चुल्लवग्ग, १०/३/१
८२ *SBE*, १३, पृ० ५६.
८३ चुल्लवग्ग, ६/६/५
८४ वही
८५. वही
८६ तिपल्लत्थ-मिग-जातक (१६)
८७ वही, जातक, १, पृ० १६२
८८ चुल्लवग्ग, ६/११/१.
८९. *SBE*, १३, पृ० ३२७.
९० महावग्ग, १०/४/२-५, मज्झिम-निकाय, ३, पृ० १५५-५७.
९१ महावग्ग, ८/२६
९२ महावग्ग, ८/२७/५

९३ चुल्लवग्ग, ४/१४/१
९४ चुल्लवग्ग, ४/४/८
९५ चुल्लवग्ग, ६/११/१.
९६ अगुत्तर-निकाय, १, पृ० ४६-४८.
९७ *SBE*, १३, पृ० ५२.
९८. चुल्लवग्ग, ६/१५/२.
९९ *SBE*, १३, पृ० १८.
१००. महावग्ग, ८/३०
१०१ महावग्ग, ८/२७/५.
१०२ चुल्लवग्ग, ५/२/२
१०३ *SBE*, १३, पृ० ६६
१०४ *Vedic Index*, १, पृ० १०४
१०५ Copleston, R S —*Buddhism*, पृ० २६८.
१०६ महावग्ग, ५/१/२९
१०७ वही, ५/३.
१०८ वही, ५/२/१-३.
१०९ वही, ५/६/४.
११० वही, ५/१२
१११. वही, ५/६/२.
११२. वही, ५/६/१
११३ वही, ५/५
११४ वही, ५/२/३, ५/८
११५ *SBE*, १३, पृ० १७३
११६ *SBE*, १३, पृ० १२५.
११७ राहुल साकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० २७३—पाद-टिप्पणी.
११८. वही, पृ० २७४
११९. वही.
१२० महावग्ग, ८/३/१.
१२१ वही, ८/१०/१.
१२२ वही
१२३ वही, ८/१३/४-५
१२४. *SBE*, १३, पृ० ४४-४५.

१२५. महावग्ग, ८/१५/१५; ८/२०/२.
१२६. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० २८३—पाद-टिप्पणी.
१२७ वही, पृ० २८५
१२८ महावग्ग, ८/२५/४
१२९ वही, ८/५/२, ८/६/१, ८/८, ८/९/१
१३०. वही, ८/९/२
१३१ चुल्लवग्ग, ५/२/१.
१३२ चुल्लवग्ग, ५/२/५
१३३. महावग्ग, ६/११/२
१३४. वही, ६/१२
१३५. वही, ६/१२/४.
१३६ वही, ६/२३
१३७ वही, ६/४/१.
१३८ वही, ६/१६/३.
१३९ वही, ६/२४.
१४० वही, ६/२५
१४१ वही, ६/२.
१४२ चुल्लवग्ग, १०/१/६, अगुत्तर निकाय, ४, पृ० २७८
१४३ महावग्ग, १/६०
१४४. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ५३७.
१४५. वही, पृ० ५४०
१४६. भिक्खुणी-पातिमोक्ख—सघादिसेसधम्म ।
१४७. चुल्लवग्ग, १०/२५/१.
१४८ राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० १२५
१४९ मोर-जातक (१५९).
१५० मज्झिम-निकाय—रट्ठपाल-सुत्त ।
१५१. वातमिग-जातक (१४).
१५२. मज्झिम-निकाय—रट्ठपाल-सुत्त ।
१५३. राहुल सांकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ३८४, ५३९.
१५४. वही, पृ० ३८४, ३८६, ३८८
१५५. *SBE*, १३, पृ० १७८, १८१-८२.

१५६. चुल्लवग्ग, १२/१/१; दीपवंश, ४/४७-४९; ५/१६-१८.
१५७. चुल्लवग्ग, १२/१/१
१५८ चक्कवाक-जातक (४५१)
१५९. महावग्ग, ५/१०; चुल्लवग्ग, ६/२/३-५
१६०. चुल्लवग्ग, १/१३.
१६१. वही, १०/९/१.
१६२ महावग्ग, ८/५/१; चुल्लवग्ग, ४/९.
१६३. चुल्लवग्ग, ६/११/२.
१६४ वही, ६/२१/२
१६५ वही, ६/२१/३.
१६६ वही, ६/५/२.
१६७ महावग्ग, ८/५.
१६८ वही, ८/६.
१६९. वही, ८/८; चुल्लवग्ग, ६/२१/२.
१७०. महावग्ग, ८/९/१, चुल्लवग्ग, ६/२१/२.
१७१. चुल्लवग्ग, ६/२१/३.
१७२ चुल्लवग्ग, ४/४/३.
१७३. राहुल साकृत्यायन—विनय-पिटक, पृ० ४७४.
१७४ वही, पृ० ४७५.
१७५. चुल्लवग्ग, ६/२१/३.
१७६ वही.

ग्रन्थ-सूची

मूल-ग्रन्थ

बौद्ध तथा जैन

अंगुत्तर-निकाय	सम्पादित—	आर० मॉरिस (R Morris) तथा इ० हार्डी (E Hardy), पी० टी० एस०, लंदन १८८३-१९००
	अनूदित—	अनूदित-वुडवार्ड (Woodward, F L.) तथा हेयर (Hare E M.) पी० टी० एस०, लदन।
आचारंग-सूत्र	अनूदित—	जकोबी (Jacobi) *SBE*, जिल्द २२ (जैनसूत्र), ऑक्सफोर्ड, १८८४.
इतिवुत्तक	सम्पादित—	विंडिश, ई० (Windisch, E.) ऑक्सफोर्ड, १९४८.
उदान	,,	महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.
कल्प-सूत्र	अनूदित—	जकोबी, (Jacobi) *SBE*, जिल्द, २२
खुद्दकपाठ	सम्पादित—	हेमर स्मिथ (Helmer Smith), पी० टी० एस०, लदन, १९१५.
जातक	,,	फाउसबोल्ल (Fausboll), ट्रूबनर ऐण्ड क० लि०, लंदन, १८७७-९६.
	अनूदित—	कॉवेल्ल (Cowell), कैंब्रिज यूनिवर्सिटी, १८९५-१९०७.
थेरगाथा	सम्पादित—	ओल्डेनबर्ग (Oldenberg, H), पी० टी० एस०, लंदन, १८८३.
थेरीगाथा	,,	भागवत, एन० के०, बम्बई, १९३७.

	अनूदित—	मिसेज रीज़ डेविड्स (Mrs Rhys Davids), पी० टी० एस०, लंदन, १९०९.
दीघ-निकाय	सम्पादित—	रीज़ डेविड्स (Rhys Davids, T. W.) और ई० कॉर्पेन्टर (Carpenter, E), पी० टी० एस०, लदन, १८९०-१९११, हिन्दी, अनूदित—महापडित राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६.
दीपवंश	सम्पादित—	अनूदित—ओल्डेन बर्ग, विलियम्स ऐण्ड नॉर्गेट, लदन-एडिनबर्ग, १८७९
धम्मपद	सम्पादित—	महापंडित राहुल साकृत्यायन, रंगून, १९३७.
निदान कथा	,,	भागवत, एन० के०, बबई, १९३५.
पुग्गल-पञ्ञति	,,	लैंड्सबर्ग, जी० (Landsberg, G) और मिसेज रीज डेविड्स, पी० टी० एस०, लंदन, १९१४
पेतवत्थु	,,	महापंडित राहुल साकृत्यायन, रगून, १९३७.
भगवती-सूत्र	,,	अभयदेव की टीका सहित, बबई, १९१८-२१.
मज्झिम निकाय	,,	ट्रेंकनर, वी० (Trenckner, V) और चामर्स, आर० (Chalmers, R.) पी० टी० एस०, लंदन, १९४८-५१.
महावंश	,,	तथा अनूदित—गाइगर (Geiger), पी० टी० एस०, लंदन, १९१२.
महावस्तु	,,	सेनार्ट (Senart,E) पेरिस, १८८२-९७.
मिलिन्दपञ्हो	,,	वाडेकर, आर० डी०, बंबई, १९४०.

विनय-पिटक	अनूदित—	रीज् डेविड्स, टी० डब्ल्यू० और ओल्डेनबर्ग (Oldenberg), *SBE*, जिल्द-१३, १७, २० ऑक्सफोर्ड, १८८१-८५.
		हिन्दी–महापडित राहुल साकृत्यायन, महाबोधिसभा, सारनाथ, १९३५
विमानवत्थु	सम्पादित—	महापडित राहुल साकृत्यायन, रंगून, १९३७
सयुत्त-निकाय	,,	लियोन फियर, एम० (Leon Fear, M) और मिसेज रीज् डेविड्स (Rhys Davids), पी० टी० एस० लदन, १८८४-१९०४,
सुत्त-निपात	,,	एन्डरसन (Anderson) और स्मिथ (Smith), पी० टी० एस, लदन, १९४८ महापडित राहुल साकृत्यायन, रंगून, १९३७.

सस्कृत-ब्राह्मण-ग्रथ

अथर्ववेद	सम्पादित—	श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९३८.
आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र		*SBE*, जिल्द-३०.
,, **धर्मसूत्र**	सम्पादित—	बूलर (Buhler), बंबई सस्कृत सिरीज, १९३२. अनुवाद, *SBE*, जिल्द-२
आश्वलायन गृह्यसूत्र		*SBE*, जिल्द २९.
ऋग्वेद	सम्पादित—	श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९४०.
ऐतरेय आरण्यक	,,	कीथ (Keith), ऑक्सफोर्ड १९०९
,, **ब्राह्मण**	,,	मार्टिन हॉग (Martin Haug), बबई, १८६३
कठोपनिषद्	,,	वसु, बी० डी०, इलाहाबाद, १९११
कौटिलीय अर्थशास्त्र	,,	अनूदित-शामशास्त्री, मैसूर-१९१५, १९२३

गोभिल-गृह्यसूत्र	सम्पादित—	तारकालकार, कलकत्ता, १९०८.
गौतम-धर्मसूत्र	,,	श्री निवासाचार्य, मैसूर, १९१७.
छान्दोग्य-उपनिषद्	,,	वीर राघवाचार्य, तिरुपति, चित्तूर, १९५२, अनु—ए० बी० ई०, जिल्द-१
तैत्तिरीय आरण्यक	,,	आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, १९२६.
तैत्तिरीय ब्राह्मण	,,	शामशास्त्री, मैसूर, १९२१.
तैत्तिरीय संहिता	,,	श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, १९४५.
नारद-स्मृति		*SBE*, जिल्द-३३.
पंचविंश ब्राह्मण	अनूदित—	गैलन्ड (Galand, W.) कलकत्ता, १९३१
पाणिनीय अष्टाध्यायी	,,	वसु, एस० सी०, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद तथा पाणिनि ऑफिस, वाराणसी, १८९१-९८.
पातञ्जल महाभाष्य	सम्पादित—	कीलहॉर्न (Keilhorn), बंबई, १८९२-१९०९.
पारस्कर-गृह्यसूत्र	,,	बाक्रे, एम० जी०, बबई, १९१७.
बृहदारण्यक-उपनिषद्	,,	वीर राघवाचार्य, तिरुपति, १९५४. अनु०-*SBE*, जिल्द-१५.
बोधायन-गृह्यसूत्र	,,	शामशास्त्री, मैसूर, १९२०.
बौधायन-धर्मसूत्र	,,	श्री निवासाचार्य, वही, १९०७.
मनु-स्मृति	,,	पाठक, गणेशदत्त, वाराणसी, १९४८
महाभारत	,,	चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९-३३.
मुण्डक-उपनिषद्	अनूदित—	वसु, बी० डी०, इलाहाबाद, १९११. *SBE*, जिल्द-१५
मैत्रायणी सहिता	सम्पादित—	श्रोएडेर, एल० वी० (Schroeder, L V), लाइपजिग, १९२३.
वशिष्ठ-धर्मसूत्र		*SBE*, जिल्द-१४
विष्णु-धर्मसूत्र		वही, जिल्द-७.
वैखानस-धर्मप्रश्न	सम्पादित—	गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम, १९२३.
शतपथ-ब्राह्मण	,,	वेबर (Weber) लाइपजिग, १९२४
सांख्यायन-गृह्यसूत्र		*SBE*, जिल्द-१९

हिरण्यकेशिन् गृह्यसूत्र सम्पादित— कीर्टसे, जे० (Kirtse, J.), वियना, १८८९.

सहायक ग्रंथ

अग्रवाल, वासुदेव शरण — *India as Known to Panini*, लखनऊ, १९५३.

अल्तेकर, अ० स० — *Education in Ancient India*, वाराणसी, १९४४.

वही — *The Position of Women in Hindu Civilisation*, का० वि० वि० १९३८

काणे, पा० वे० — *History of Dharmasastra*, पूना, १९३०.

आचार्य नरेन्द्र देव — बुद्ध धर्म-दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५६.

उपाध्याय, बलदेव — भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९४५

ओल्डेनबर्ग, एच० — *The Buddha*, विलियम्स ऐण्ड नॉर्गेट, लंदन ऐण्ड एडिनबर्ग, १८८२

कनिंघम — *The Stupa of Bharhut*.

काणे, महामहोपध्याय, पा० वे० — *History of Dharmasastra*, पूना, १९४१.

कॉपल्स्टोन, आर० एस० — *Buddhism*, W B & Co Plymouth, १९०८

चनन, डी० आर० — *Slavery in Ancient India*, बंबई, १९६०.

जैनी, जे० आर० — *Outlines of Jainism*, कैम्ब्रिज, १९४०.

टॉमस, ई० जे० — *Early Buddhist Scriptures*, लंदन १९३५.

वही — *History of Buddhist Thought*, लंदन, १९५३.

दत्त, नलिनाक्ष — *Early Monastic Buddhism*, कलकत्ता, १९४१.

दत्त, सुकुमार — *Early Buddhist Monachism*, लंदन और न्यूयार्क, १९२४.

नाहर और घोष — *An Epitome of Jainism*, कलकत्ता, १९१७.

बशाम, ए० एल० (Basham, A. L.) — *History and Doctrine of the Ajivikas*, लदन, १९५१.

बील — *Life of Hiuen-Tsang*, लदन, १९११.

मललसेकेर — *Dictionary of Pali Proper Names*, लदन, १९३७-३८.

मुखर्जी, राधाकुमुद — *Ancient Indian Education*, लदन, १९५१.

मेहता, रतिलाल — *Pre-Buddhist India*, बम्बई, १९३९.

मैकडोनल और कीथ — *Vedic Index*, लदन, १९१२

मोतीचन्द्र — प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, प्रयाग, सं० २००७

राहुल सांकृत्यायन — बुद्ध-चर्या, सारनाथ, १९५२.

रीज डेविड्स, टी०, डब्ल्यू (Rhys Davids, T W.) — *Pali Dictionary*, लदन, १९२१

वही — *Buddhist India*, कलकत्ता, १९५०.

रैपसन, इ० जे० (Rapson, E J) — *Cambridge History of India*, vol I कैंब्रिज, १९३५.

विंटरनिट्ज (Winternitz, M) — *A History of Indian Literature*, जिल्द-२. अनूदित, केतकर (श्रीमती) तथा कोह्न (Kohn) कलकत्ता, १९३३.

शर्मा, रामशरण — मोतीलाल बनारसीदास, १९५९ *The Sudras in Ancient India.*

शाह, चिमनलाल *Jainism in Northern India,* लौगमैन्स ग्रीन ऐण्ड कं०-१९३२.

स्टीवेंशन, सिक्लेयर (Stevenson, Sinclair) The Heart of Jainism, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१५

सिंह, मदन मोहन *Life in N. E. India in Pre-Mauryan Times,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

अनुक्रमणी

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

अंगविद्यापाठक — ``ne who reads the fortune of an individual on the basis of the signs of his body.

अग्रश्रावक (अग्गसावक)—Chief disciple.

अचेल—Naked ascetic

अजघातक—Goat-butcher

अजपाल—Goat-keeper.

अड्ढकासिक—Muslin of kasi.

अधोवस्त्र—Lower garment.

अन्तरवासक—Under garment

अन्तेवासी—Apprentice.

अन्नप्राशन—Annaprasana.

अनुलोम—Anuloma

अनुसारि—Collirium

अपरिग्रह—Aparigraha

अभिलेख—Inscription.

अभियान्त्रिक—Engineering.

अरण्य—Forest

अल्पमात्र-भाजक—Distributor of Trifles.

अविहिंसा— Non-killing.

अष्टका—Ashtaka

अष्टापद—Dice-board.

असिलक्षणपाठक—One who reads the signs of swords.

अहिगुण्डिक—Snake-charmer.

अहिंसा—Non-voilence.

आचरिय, आचार्य—Teacher

आराम—Park

आरामिक—Park-keeper

आरामिक प्रेषक—Superintendent of the Park.

आवास—Lodging, Residense

आवेल—A kind of wreath

आसन—Seat

आसिनव—Sin

आश्रम— A hermitage, The Asrama system

उच्छेदवाद—Annihilism

उत्तरासग, उत्तरीय— Upper garment

उत्सव—Festival.

उदकसाटि—A garment used by Budhist sisters for bathing or during the menses.

उदमन्थ—A variety of Sattu

उपज्झाय—Spiritual Teacher in the Buddhist Order.

उपट्ठानशाला—Service Hall.

उपनयन—Initiation ceremony.

उपसम्पदा—Upasampada.

उपासक—Laity, lay disciple.
उपासना—Worship.
उपोसथ—Fasting.
उष्णीष—Turban.
ऐंद्रजालिक—Magician.
ओदन—Cooked rice.
ओरब्भिक—Butcher.
ओवत्तिका—Bangle
कम्मन्तदास—Slaves working in the fields, workshops and shops
कम्मार—Smith
कर्मकर—Labourer
कर्मशाला—Workshop.
कल्प—Aeon
कर्षण—Tilling
कायूर—Necklace
कार्षापण—Karshapana.
काषाय वस्त्र—Yellow Robe
कालिय— Kaliya (a perfume)
कुंडल—Ear-ring.
कुम्भकार—Potter.
कृष्णानुसारि—Black collirium
कुम्मास कुल्माष— (Kummasa or kulmasha) (A coareted of the Poor)
कोटुंबर—wootlen cloth which was manu factured in the Pathankot region.
क्रियावाद—The Doctrine of Action.
क्षौम—Linen
खाद्यभाजक— Apportioner of food
गणधर—Ganadhara (The chief disciples of Mahavira)
गणना—Accountancy
गणसत्था—Ganasatha—A leader of the Brahmanic Ascetic order.
गणिका—Courtesan.
गध—Perfume, scent.
गंधक—Perfumer
गधर्व—Musician.
गवेधूका—Coix Barbata
गहपति— Householder, the vaisya caste
गुप्तचर—Spy.
गुरु—The spiritual Teacher.
ग्रैवेयक—Necklace
गोघातक—Cow-butcher.
गोघातकसूनम्—Place for killing cow.
गोत्र—Gotra
गोधूम—Wheat.
गोप, गोपालक—Cowherd.
गोमास—Beef.
चर्मकार—Cobbler.
चतुर्महाभूत— Four elemants—earth, water, fire and air.

चातुर्मास्य —Chaturmasya.
चातुर्यामसवर — Chaturyama-samwara
चारिका—Begging round
चीवर—Robe.
चीवर प्रतिग्राहक— The officer of the Buddhist order who received robes from the Laity
छत्र—Umbrella.
जटिल— Jatila (Ascetics with matted hairs.)
ज्ञत्ति (ज्ञप्ति)—Resolution.
ज्ञातृ—Blood relations
तच्चक—Carpenter.
तन्तभण्ड—Weaving appliances
तन्तुवाय— Weaver
तापस—Ascetic
तृणहारक—Grass-cutter.
तोरण—Torana, Gateway
त्रयस्त्रिंश (त्रयोत्रिंस)— Thirty-three Gods
दक्षिणा—Dakshina
दड—Staff
दान—Charity.
दानशाला—Almonry
दीक्षा—Initiation.
द्यूत क्रीडा—The game of dice
द्वैधिषव्य—Dvaidhishavya. (The son of the widow)
धनुर्धारी—Archer
धनुर्विद्या—Archery
धम्म—Dhamma.
धोपन—An art which was performed by the Chandalas.
नक्खत, नक्षत्र—A Festive occasion.
नट, लघनटक—Acrobat.
नटक—Dancer
नलकार—Basket-maker.
नवशिष्य—Novice
नास्तिक—Heretic
निग्गाहक—Taxman
निदान—Nidanas, The second Noble Truth of Buddhism
नियतिवाद—The Doctrine of 'Automatic function through transmigration
निर्वाण—Nirvana (Deliverance)
निष्क—Nishka.
परिवास—Parivasa
पशुघातक—Cattle-butcher.
पशुपालक— Cattleman.
पश्मीना—Pashmina
पाणिग्रहण—Panigrahana.
पातिमोक्ख—Patimokkha
पादुका—Foot-covering.
पामङ्ग—Ear-drop.
पितृऋण—Pitririna.
पुनर्जन्म—Rebirth.
पृथ्वीविजयमत्र — Prithvivijaya-mantra
पेशकार—Weaver.
पेशकारदास— The slave engaged

in weaving.
पैष्टि— Paishti, a variety of liquor
प्रज्ञा—Prajna.
प्रतिलोम विवाह— Partiloma marriage
प्रतिच्छादन—A kopin-like cloth used by Budshist monks.
प्रवहन—Picnic.
फीलवान—Elephant tamer.
बलि—Offering.
ब्रह्मदेय—Land grants enjoyed by the Brahmanas.
भक्त (भत्त)—Cooked rice
भक्त-उद्देशक— The apportioner of food during the scarcity period.
भद्रमुक्तक— Bhadramuktaka, A perfume
भाडार, भाडागार—Store.
भाडागारिक—Store-keeper.
भिक्षु—Bhikshu
भिक्षापात्र—Almsbowl
भूत—Ghost.
भूतापसारण—Exorcism
भेरीवादक—Drummer.
भोजनशाला—Dining Hall.
मच्छ (मत्स्य) घातक—Fishermen.
मत्स्यवालक—A style of wearing lower garment (dhoti)
मधुपर्क—Madhuparka.
मधुशाला—Tavern.
मंत्र—Mantra, spell.
मन्दिर—Temple
मद्दीन—A girdle
मल्लयुद्ध—Wrestling
मसारगल्ल—An emerald.
महाव्रत—The great vows of the Jaina monks
महासाल—Mahasala Brahmana.
मान—Vanity
मानत्त—A discipline to which a Bhiksu found guilty of an offence could be sentenced
मायाकार—Juggler.
मार्द्दव—Tenderness.
मालाकार—Garland-maker
माषक—Mashaka
मियाचार—Falsehood.
मुद्रिका—Ring
मूलगंध— Perfumes made of roots
मृगमास—Dear meat.
मृगचर्म—Antelope hide.
मृगलुब्धक—Dear-hunter.
मेखला—Girdle.
मेषघातक—Sheep-butcher.
मैरेय—A kind of liquor.
मोक्ष—Moksha, Final Emancipation from transmigration.

यक्ष—Yaksha.

यज्ञ—Yajna, Sacrifice

यति—Ascetic.

यवागू—Gruel

यवागू भाजक—The Distributer of gruel (An officer of the Budshist order)

यूप—Sarificial Post

योग—Yoga

रणविद्या—Military Science.

रत्नत्रय—The three Jewels of the Jainas.

रथकार—Chariot-maker.

राक्षस विवाह—Rakshas marriage.

रूप—Numismatics

लक्खण-पाठक—Fortune-teller

लघनसिप्प—The art of jumping over javelins

लुब्धक—Hunter

वड्ढकि—Carpenter

वणिक—Trader

वर्ण—Varna, Caste.

वर्ण-व्यवस्था—Caste system

वर्म—Armour

वस्त्र—Cloth.

वर्षावास—Varshavasa.

वल्कल—Bark-garment.

वल्लिका—Ear-ring

वारुणि—Wine.

विनय—Monastic Discipline.

विलेपन—Ointment

विहार—Monastry.

वेणुकार—Flute-maker

वेदिका—Railing

वैखानस—Hermit-life.

वैडूर्य—Beryl

वैराग्य— Indifference to the world

शकुनिक—Fowler.

शालभञ्जिका—Salbhanjika.

शिल्प—Craft

शिल्पी—Artisans.

शूकरघातक—Pig-butcher

शूलागव यज्ञ—Sulagava sacrifice.

श्रेणी—Guild

श्रोत्रिय—Srotriya.

षष्टिका—A variety of rice.

संघ—Sangha, order

संघाटी—Waist cloth

संघाराम—Monastery

सत्था—Sattha, the head of an ascetic order

सन्यासी—Sanyasin

सप्तभंगी नय—Saptabhangi Naya

समज्या, समाज—Festival.

समाधि—Samadhi

समावर्तन—Smavartana.

संयम—Restraint.

सार्थवाह—Caravan-leader.

सुत्त (सूत्र)—Sutta, Sutra.
सुरा—Liquor.
सूत्र—Thread
सूप—Pulse.
सोम—Soma
सोम यज्ञ—Soma Sacrifice.
स्तम्भ—Post.
स्तूप—Stupa.
स्नातक—Snataka.
स्याद्वाद—The Jaina Doctrine of Syadvada.
स्वर्णकार—Goldsmith.
हत्थरण—Bracelet
हवन—Havana, Oblation.

परिशिष्ट

बुद्धकालीन जन-जीवन का कला मे चित्रण

फलक १



पटना-यक्ष—अधोवस्त्र पहनने एवं उत्तरासंग ओढ़ने की विधि

फलक २



दीदारगंज यक्षिणी—वस्त्राभूषण एवं साड़ी पहनने की विधि

फलक ३



बेसनगर-यक्षिणी—वस्त्राभूषण एवं साड़ी पहनने की विधि

फलक ४



भारहुत-यक्षिणी—स्त्रियों की वेशभूषा

फलक ५

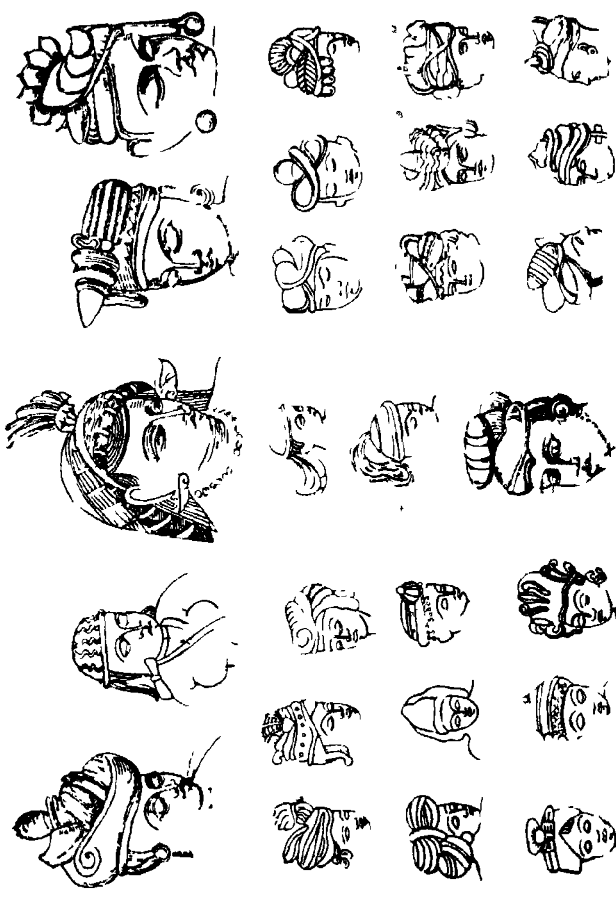


भारहुत-यक्ष—पुरुष का वस्त्राभूषण

फलक ६

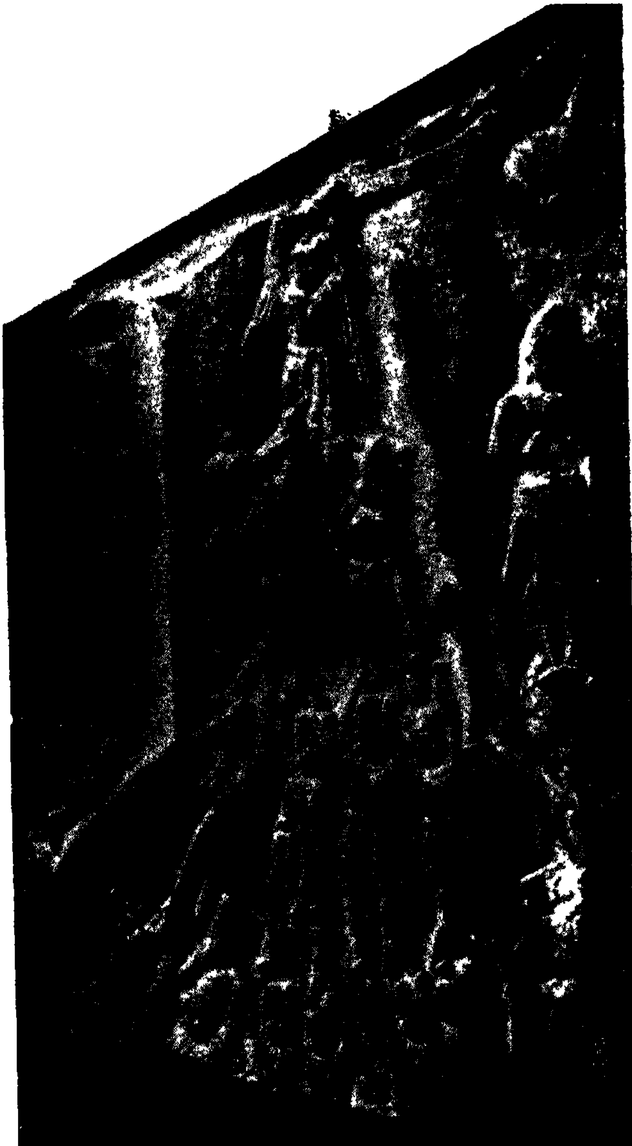


साँची और भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों के उत्कीर्ण चित्रों में दर्शित उष्णीष एवं शिरोभूषण



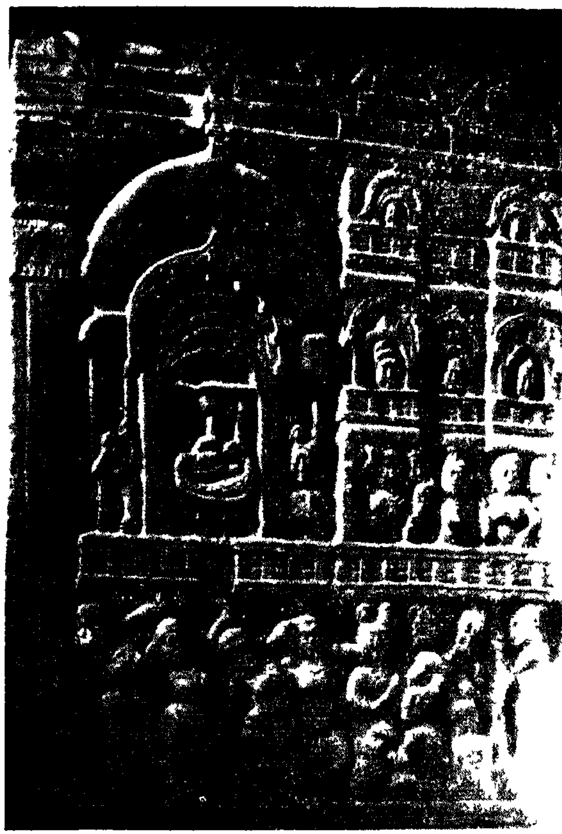
सांची और भारहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों के उत्कीर्ण चित्रों में दर्शित उष्णीष एवं शिरोभूषण

फलक ८



भारहुत वेदिका में उत्कीर्ण नटों के करिश्मे

फलक १



भारहुत-वेदिका में उत्कीर्ण नृत्य-दृश्य

फलक १०



भारहुत में चित्रित बोधिवृक्ष की पूजा

फलक ११



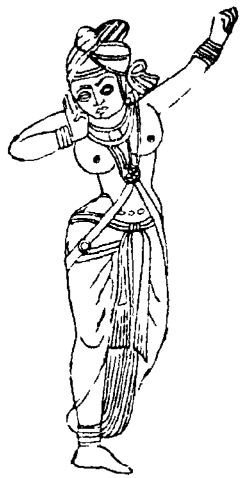
भारहुत-वेदिका में चित्रित अनाथपिंडिक द्वारा जेतवन को स्वर्ण मुद्राओं से पाटकर क्रय करने का दृश्य

फलक १२



भारहुत-वेदिका में चित्रित स्त्रियों के वस्त्राभूषण

फलक १३







भारहुत-वेदिका में चित्रित एक नर्तकी (ऊपर), मृण्मयी मूर्ति में साड़ी पहनने की विधि (नीचे, बाईं ओर) तथा एक सुसज्जित स्त्री (नीचे दाहिनी ओर)

फलक १४





बुलन्दीबाग, पटना में प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों में दर्शित नर्तकी के वस्त्राभूषण

फलक १५



बक्सर में प्राप्त मिट्टी की मूर्ति में चित्रित नारी का शिरोभूषण

फलक १६





बक्सर तथा पटना में उपलब्ध मिट्टी की मूर्तियों में चित्रित उष्णीष

शुद्धि-पत्र

पृ०	पैरा	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
६	२	३	सललवती	सलिलवती
११	१	३	चतुर्वर्ण	चतुवर्ण
२९	३	४	भी	भा
४५	१	६	वैश्या	वैश्य
४८	२	३	किसी	किसा
५७	२	१५	कुस	कुरू
५९	३	२	असंत	असत
६१	१	४	नगरों का	नगरो को
७३	२	७	उत्सव-स्थानो से	उत्सव-स्थानों मे
७७	३	१	अधोवस्त्र	अन्तरवासक
८०	३	६	ग्रैवेयक	ग्रैवयक
,,	,,	,,	स्वर्णमाला	सुवर्णमाला
८४	१	७	मछली	उछली
१०२	१	१३	करते थे	करते थ
१०३	२	११	षड्वर्गीयों	षड्वर्गियों
११९	५	४	अगति	अंगीति
१२१	३	८	पृथ्वीकाल	पृथ्वीकल
१२३	१	२२	चतुर्वर्ण	चतुवर्ण
१२४	३	३	ब्राह्मण	ब्राह्माण
१२८	४	६	जब	अब
१२९	१	१,९	उष्ण	ऊष्ण
१३२	३	४	बुद्ध	बद्ध
१३६	१	१६	भिन्न	अभिन्न
१५२	३	२	निरंजना	नि ंजना
१६८	१	३	शिष्यों और	शिष्यों—
१६९	१	६	उपसम्पदा	उम्पदा

पृ०	पैरा	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
१७७	२	५-६	दुर्व्यवहार	दुर्व्यविहार
१७८	१	१३	कम्बिल	कबिल
१८५	२	१०	भद्रमुक्तक	अद्रमुम्तक
१९२	२	१७	कर्मों	र्मों
१९७	१	३	करनी रहती	करनी रहती है
,,	३	३	चीवरो	चीवारों
१९८	१	२	चीवरप्रतिग्राहक	चीवर प्रतिहक
२०८	टिप्पणी स०	३६	मज्झिम निकाय	मज्जिम-निकाय
२२५	,,	२४	दीघ-निकाय, २,	दीघ-निकाय, म०
२२९	,,	१६	दीघ-निकाय, १,	दीघ निकाय
२३०	,,	१८	Buddhism	Buddhisms
,,	,,	,,	बे० मा०	बे० का०
२३३	,,	१०५	ठानेसु	ठानसु
२३४	,,	६	वनी	बनी
२५०	,,	,,	बौद्ध-धर्म-दर्शन	बुद्ध-धर्म-दर्शन
२५३	,,	,	अगिवच्छगोत्त	अगिच्छगोत्त